अक्षर प्रकाशन प्रा० लि
२/३६, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्

डा॰ देवी शंकर अवस्थी

नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति

प्रकाशक :
अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०
२/३६, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-

●

मूल्य : आठ रुपये
प्रथम संस्करण : १९६६

●

आवरण :
नरेन्द्र श्रीवास्तव

●

मुद्रक :
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
१४९९ शिवाश्रम, क्वीन्स रोड,
दिल्ली

●

पुस्तक-बन्ध :
विजय बुक बाइंडिंग हाउस, दिल्ली

अनुक्रम

३ : सर्वेक्षण और मूल्यांकन

कथाकार अज्ञेय को

३ : सर्वेक्षण भ्रौर मूल्यांकन

कथाकार अज्ञेय को

भूमिका

हिन्दी में ही नहीं, विश्व की तमाम समृद्ध भाषाओं में कथा-साहित्य को गम्भीर साहित्यरूप की प्रतिष्ठा मिले बहुत दिन नहीं बीते। कथा-साहित्य में भी उपन्यास को अपेक्षाकृत जल्दी स्वीकार कर लिया गया था—पश्चिमी देशों में १९वीं शती में उपन्यास को खासी प्रतिष्ठा मिल गयी थी। पर कहानी को इस स्वीकृति के लिए, करीब-करीब बीसवीं शती की बाट जोहनी पड़ी है। हिन्दी में तो, खैर, कहानी का जन्म ही बीसवीं शती की घटना है। यह बात दूसरी है कि साठ साल प्राप्त करने के पहले ही हिन्दी के वृद्ध आलोचक उसे रिटायर कर देना चाहते हैं—युग-संवेदना को वहन करने में अक्षम मानकर।

ऐसी स्थिति में आश्चर्य न होना चाहिए यदि आज भी हिन्दी के दिग्गज पण्डितों के लिए कहानी केवल हल्के-फुल्के मनोरंजन का साधन ही है और जिसे मनोरंजन-विरोधी गम्भीरताधारी ये पण्डितजन इसीलिए पढ़ना भी पसन्द नहीं करते। उच्चतर अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्रों में उसे पाठ्यक्रमों या शोधविषयों की सूची में स्थान भले ही मिल गया हो, पर कहानी वैसे ही पढ़ी-पढ़ायी जा सकती है जैसे कविता, यह बात अधिकांश लोगों के गले के तले नहीं उतरती। पढ़ तो विद्यार्थी घर से आते हैं, केवल संस्कृत शब्दावली, कुछ दार्शनिक सहजे में दिये गए वक्तव्यों या काव्यात्मक वर्णन-प्रसंगों को 'व्याख्या' के लिए कक्षा में पढ़ा दिया जाता है और संक्षेप में कथानक लिख देने का गुरुमंत्र दे दिया जाता है। इससे कुछ आगे बढ़े तो फिर कहानी हो या नाटक या उपन्यास, सभी को बने-बनाये छः तत्त्वों वाले साँचे में ढालने की बेढंगी कोशिशें होती हैं। प्रभावान्विति इत्यादि की खास साहित्यरूपों वाले प्रश्नों के बाद वास्तविक विश्लेषण या आलोचना के प्रसंग में याद ही नहीं रखी जातीं। किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय के एम० ए० के प्रश्न-पत्रों से यदि कहानी-संबंधी प्रश्नों को लेकर विश्लेषण किया जाए तो अध्ययन रोचक ही नहीं होगा, विश्वविद्यालयों के पीठस्थ पण्डितों के कहानी-सम्बन्धी ज्ञान को भी स्पष्ट करेगा। अभी कुछ समय पूर्व तक कहानी-सम्बन्धी चर्चा कोर्स के लिए तैयार किये जाने वाले संग्रहों की भूमिकाओं तक ही सीमित रही है। इन संग्रहों में घूम-फिरकर वही कहानियाँ ही नहीं आतीं वही बातें भी दुहरायी जाती हैं और दी गई कहानियों के विश्लेषण या पाठ-प्रक्रिया की कोई व्यवस्थित रूपरेखा या दृष्टि

विकसित रूप मानकर मनोरंजनपरक अगभीर साहित्य-रूप की उपेक्षा देते रहे। पर इस क्षेत्र के लेखकों का दोष भी कम नहीं है। 'पल्लव' की भूमिका जिस प्रखरता और शक्ति से नये काव्यान्दोलन के उन्मेष को सूचित करती है, वैसी प्रखरता, स्पष्टता या मौलिकता प्रेमचन्द के उपन्यास-कहानी-सम्बन्धी विचारों में न मिलेगी। प्रेमचन्द ही नहीं जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल या अज्ञेय भी इस सम्बन्ध में उतने ही उदासीन और असम्पृक्त दिखते हैं। प्रगतिवादी आन्दोलन के दौरान जब इन रूपों की ओर ध्यान गया भी तो इन्हें कलारूप के बजाय सामाजिक इतिहास, वर्गसंघर्ष का दस्तावेज या वाग्जालमिश्रित उपदेश-जैसी स्थिति में ही रखा गया। प्रेमचन्द को तो सुधारवादी कहा ही जाता है। स्वयं शुक्लजी ने सुधार का दायित्व कथाकारों को सौंपा था। रामविलासजी की पुस्तक 'प्रेमचन्द और उनका युग' इस प्रकार की आलोचनाओं में क्लासिक मानी जा सकती है। वे एक-एक समस्या और उसके समाधान को कच्ची-पक्की रोकड़ों में खतियाते चलते हैं। पर प्रेमचन्द के एक भी उपन्यास (कहानियों की ओर तो उनका ध्यान गया ही नहीं) के रचनातन्त्र का विश्लेषण करते हुए उसकी आन्तरिक कलात्मक सत्ता, एकान्विति आदि के विश्लेषण की कोई चेष्टा नहीं करते। उन्होंने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया कि इस प्रकार के प्रसंगों को अपेक्षाकृत बहुत साधारण उपन्यासों से भी छाँट कर अलग किया जा सकता है—प्रेमचन्द की महत्ता इन सभी समस्याओं के लिए है या इन्हीं को एक कलादृष्टि में पिरोने के लिए? हेनरी जेम्स की इस उक्ति की याद दिलायी जा सकती है कि, "उपन्यास अपनी व्यापक परिभाषा में जिन्दगी का वैयक्तिक और सीधा प्रभाव है।" यह निदानपरक या 'वैज्ञानिक' न होकर कलाकार के कल्पनात्मक भावन पर निर्भर करता है; और जिन्दगी के बारे में सामान्य विचारों या फ़ार्मूलों के माध्यम से न होकर 'डाइरेक्ट' होता है। 'किसी अन्य आर्टिज़्म की तरह उपन्यास को एक साथ और सातत्य में ही भावन करना होता है।' पर रामविलासजी ही क्यों खासे व्यक्तिवादी और कलावादी अज्ञेय भी प्रेमचन्द की महत्ता का निर्धारण मानवीय सहानुभूति की व्यापकता के आधार पर करते हैं। यह मानवीय सहानुभूति क्या है? फ्लाबेयर की मानवीय सहानुभूति और प्रेमचन्द की मानवीय सहानुभूति में क्या अन्तर है? क्या इस आधार पर इन दो में से किसी को बड़ा-छोटा कलाकार सिद्ध किया जा सकता है? अनजाने ही स्वयं अज्ञेय भी प्रगतिवाद द्वारा दिये गए औज़ार का ही इस्तेमाल करते हैं; स्वयं उस समीक्षात्मक औज़ार या पद्धति को विकसित नहीं कर पाते जो प्रेमचन्द को, कथा के कलामूल्यों की कसौटी पर, जाँच सकता। इसी प्रकार की स्थिति में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रेमचन्द को इसलिए महत्त्वपूर्ण मानते दिखते हैं कि वे उत्तर भारत के जनजीवन के प्रामाणिक गाइड हैं।

इस प्रकार कथा-साहित्य की आलोचना प्रारम्भ से ही अनेक विकृतियों में फँस

गयी। एक ओर एकेडेमिक सुविधावाद या सरलीकरण का फार्मूला था, जिसकी निसार-समृद्ध समीक्षा-परम्परा शास्त्री कविता तक हुई। दूसरी ओर कथा-साहित्य के प्रति एक अगम्भीर भाव था और तीसरी ओर आलोचक द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली समस्याओं की कभी न खत्म होनेवाली एक सूची थी, जिनके समाधान भी वे समाज में न पाकर साहित्य में प्राप्त करके परितृप्त होना चाहते थे। सब मिला-कर हेनरी जेम्स के ही आधार पर कहें कि न तो कोई सिद्धान्त था और न ऐसी आस्था या चेतना कि 'एक सत्यात्मक विश्वास की अभिव्यक्ति' की जा रही है। इन रूपों की समीक्षा-सम्बन्धी अपनी समस्याएँ या मानदण्ड हो सकते हैं—शायद इस ओर बहुत ध्यान ही नहीं गया। कहानी के साथ एक और दुःखद स्थिति यह भी रही कि उसे उपन्यास का साथा गरीब सम्बन्धी माना जाता रहा। उपन्यास को यदि सामाजिक इतिहास मानकर विवेचित किया गया तो कहानी को तो कुछ विषयवस्तु या शैली-सम्बन्धी वर्गीकरणों के भीतर नाम दे देना ही पर्याप्त समझा गया। प्रेमचन्द ने 'कहानी' नामक पत्रिका भले ही १९३८ में निकाली हो पर चर्चा उनके उपन्यासों की ही हुई है। जैनेन्द्र के कहानी-संग्रह 'दो चिड़ियाँ' की समीक्षा लिखते हुए जनवरी, १९३५ के 'विशाल भारत' में अज्ञेय ने लिखा था, "जो लोग कहानी सिर्फ वक्त बिताने के लिए नहीं पढ़ते, उन्हें यह संग्रह अवश्य पढ़ना चाहिए।" पर ऐसी बातें पवित्र आकांक्षाओं तक ही सीमित रहीं, हमारी बौद्धिक चेतना का अंग नहीं बन सकीं।

◇ ◇ ◇

स्वातन्त्र्योत्तर दशक में तमाम राष्ट्रीय सजग बोध के समान्तर नवलेखन का आन्दोलन जिस सतर्कता तथा साहित्यशास्त्र के बने-बनाये एकेडेमिक तन्त्र के प्रति अवज्ञा और विरोध को जन्म देता है उसी ने कहानी के महत्त्व को भी पहचाना था। इस प्रकार हिन्दी में कहानी की वास्तविक चर्चा सन् १९५५ के आसपास प्रारम्भ होती है—'कहानी' पत्रिका के पुनर्प्रकाशन के बाद ही। मोहन राकेश के कहानी-संग्रह 'नये बादल' (जनवरी '५७) और राजेन्द्र यादव के कहानी-संग्रह 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' (अगस्त '५७) की भूमिकाएँ इस कहानी-सम्बन्धी नयी समीक्षा-चेतना को व्यक्त करती हैं। यों संपादक के रूप में भैरवप्रसाद गुप्त और समीक्षक के रूप में नामवरसिंह ने कहानी-सम्बन्धी चर्चा को शुरू से ही विशिष्ट योग दिया है। आरोप लगाया जा सकता है कि कहानी की चर्चा धीरे-धीरे अतिरिक्त स्फीत-रूप में होने लगी और उपन्यास लगभग उपेक्षित हो गया। पर शायद उत्तर में कहा जा सकता है कि रचना के केन्द्रबिन्दु पर कविता और कहानी ही थी और आलोचनात्मक विवेक सही पहिचान का परिचय दे रहा था। बहरहाल, पिछले दशक की समाप्ति तक कहानी को लेकर काफी गरमाहट ही नहीं आ गई थी, 'नयी' विशेषण न रहकर संज्ञा का अंग बन गया था। 'नयी

कहानी' के अस्तित्व का प्रश्न यदि १९५६ में उठाया गया था तो दिसम्बर, १९५७ में प्रयाग में होनेवाले 'साहित्यकार सम्मेलन' तक 'नयी कहानी' अभिधान को लगभग स्वीकार कर लिया गया था। इस सम्मेलन में पठित तीनों निबन्धों (शिवप्रसाद सिंह, हरिशंकर परसाई और मोहन राकेश लिखित) के पहले ही वाक्यों में 'नयी कहानी' का प्रयोग किया गया है। पर 'नयी' को लेकर आरम्भ होने वाले विवाद के साथ ही से ग्राम-कथा बनाम नगर-कथा का झगड़ा सामने आ चुका था। वस्तुतः यह विवाद भी मूलतः नयेपन को लेकर था—किस प्रकार के लेखक नये यथार्थ को अधिक शक्ति और दृष्टि के साथ पकड़ पा रहे हैं, यह समस्या लेखकों के सामने भी थी और आलोचकों के भी। राकेश पहले ही 'नये बादल' की भूमिका में अपेक्षाकृत ठहरे हुए यथार्थ के बजाय निरन्तर कुलबुलाते हुए' यथार्थ का सवाल उठा चुके थे, और यादव 'उफनते खदबदाते जीवन' के सन्दर्भ में 'जिन्दगी और जोंक' की जिजीविषा की दाद दे चुके थे। बहरहाल १९५७ के साहित्यकार सम्मेलन में ग्राम-कथा लेखक शिवप्रसादसिंह और नगरकथा-लेखक राकेश या यादव इस प्रकार के विभाजनों के मिथ्यात्व को स्वीकार करके दोनों ही प्रकार की कहानियों को 'नयी कहानी' के अन्तर्गत रखते नजर आते हैं—यह बात दूसरी है कि चलते-चलाते अपनी कहानियों के बारे में एकाध दलीलें दे ही देते हैं। इस सम्मेलन में पढ़े गए लेखों में परसाई और राकेश दोनों ही में कहानी को पुरानी परम्परा से जोड़े रहने की उत्कट अभिलाषा दिखती है। नयी कविता से नयी कहानी को इस परम्परा के प्रश्न पर अलगाते हुए परसाई ने लिखा है, "हिन्दी में कहानी की एक पुष्ट और स्वस्थ परम्परा है और वर्तमान कहानी उसका एक विकसित रूप है।" राकेश ने भी बहुत-कुछ यही कहना चाहा है। पर जैसा कि अपनी एक टिप्पणी में इन पंक्तियों के लेखक ने अन्यत्र (अणिमा : १ ; जनवरी '६५) कहा है कि 'नयी कविता' के कवियों-समीक्षकों को इस बात का बराबर एहसास रहा कि वे पूर्ववर्ती काव्यरूढ़ियों को तोड़ रहे हैं—उनसे हट रहे हैं। इसलिए जहाँ एक ओर नयी रचनाशीलता का उन्मेष प्रकट होता है वहीं तमाम छायावादी काव्य-सिद्धान्तों पर आक्रमण करते हुए नयी कविता के काव्य-सिद्धान्तों की स्थापना भी होती चलती है।" पर कहानी में चूँकि अपने को अलगाने की चेष्टा बहुत बाद में शुरू हुई है, परिणामस्वरूप इसका साहित्यशास्त्र भी बहुत-कुछ अविकसित रहा और कहानी में पुरानेपन की चौखट को पूरी तरह से तोड़ने का काम नये कहानीकारों के बाद आनेवाली नयी पीढ़ी कर रही है। उस समय केवल राजेन्द्र यादव ने ही परम्परा को एक सीमा तक अस्वीकार करने का साहस दिखाया था—कम-से-कम कहानी-विचार की दृष्टि से।

१९५७ के आसपास ही यह पुकार भी उठने लगी थी कि नयी कहानी को "समझने-समझानेवाले आलोचकों का प्राय. अभाव है।" शायद इसीलिए १९५९

से 'कहानी' में 'आज की कहानी' शीर्षक से एक और लेखमाला प्रारम्भ की गई। बताया गया कि "इस माला का उद्देश्य आज की हिन्दी-कहानी की उपलब्धियों तथा उसकी विभिन्न धाराओं पर कहानीकारों की ही दृष्टि से प्रकाश डालना है। इसी कारण इस माला के अधिकतर लेखक आज के वे कहानीकार ही होंगे, जिनका योग आज के कहानी-साहित्य में महत्त्वपूर्ण है।" पर अन्ततः माला में चार कहानीकारों और तीन आलोचकों ने लिखा—शायद सम्पादक गुप्तजी ने संतुलन बनाना चाहा। यह माला किसी एक प्रश्न या विवाद्य विषय के आसपास न होकर एक चौतरफा लेखा-जोखा लेने का प्रयास करती है और इसी अर्थ में महत्त्वपूर्ण भी है।

कहानी की उड़ती चर्चाओं से आगे बढ़कर उसे समझने की ठोस प्रक्रिया की शुरुआत हुई जनवरी, १९६१ की नयी कहानियों में 'हाशिये पर' स्तम्भ से। नामवर-सिंह ने 'कहानी-पाठ की प्रक्रिया' को मद्दे-नज़र रखते हुए तमाम नयी कहानियों को अलग-अलग विश्लेषित किया। पुरानी कहानियों से उनका अन्तर स्पष्ट किया और रचनातन्त्र पर नये सिरे से विचार किया। कहानी के पूरे विवाद में इस लेखमाला का बहुत अधिक महत्त्व है। इसी लेखमाला के अन्तर्गत 'कहानी : अच्छी और नयी' परिसंवाद में पहली बार जमकर परम्परा आदि के बोझ को त्यागकर नयी कहानी के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थापित किया जा सका तथा उसकी कमज़ोरियों का स्वयं नये लेखकों-समीक्षकों द्वारा निर्मम उद्घाटन भी हुआ। १९६२ में हुआ यह विवाद नयी कहानी को एस्टैब्लिश ही नहीं करता, एस्टैब्लिशमेंट का हिस्सा भी बना देता है। इसके बाद नेतृत्व की छीना-झपटी ही नहीं आती, नयी कविता बनाम नयी कहानी, नयी कहानी बनाम सचेतन कहानी आदि के ऐसे विवाद भी उठते हैं जो आलोचनात्मक विवेक के उदाहरण नहीं कहे जा सकते। 'नयी कहानी' एस्टैब्लिश-मेंट का हिस्सा अगर बनी तो एक और नयी पीढ़ी भी सामने दिखायी देने लगी जिसने बात ही किस्सागोई के अस्वीकार से शुरू की। अगर कविता के लिए संगीत या चित्र के लिए फोटोग्राफी खतरा है तो कहानी के लिए किस्सागोई सबसे अधिक बाधक है—यह विवेक धीरे-धीरे विकसित हो रहा है। अस्तु, एक नया मिजाज कहानी में फिर उभरता लगता है। कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा समय है जब 'नयी कहानी' सम्बन्धी तमाम समीक्षापरक आपाधापी का जायज़ा ले लिया जाय। प्रस्तुत संकलन इसी दिशा में एक छोटा-सा प्रयत्न है।

◇ ◇ ◇

नयी कहानी को लेकर उठने वाली इन हलचलों और क्रियाशीलता के फलस्वरूप 'कहानी' को बेहद साहित्यिक प्रतिष्ठा मिली। इसके पूर्व हिन्दी में तो खैर ऐसे सम्मान का प्रश्न ही नहीं उठता, अन्य साहित्यों में भी समसामयिक कहानी को ऐसा ही सम्मान मिला है, मैं नहीं जानता। पुराने प्रतिष्ठित साहित्यरूपों में नाटक तो खैर हमारे यहाँ था ही नहीं, पर कविता भी उपेक्षित हो गई। इस सम्मान-

प्राप्ति के साथ ही कहानी-समीक्षा के मानदंडों या पद्धति का प्रश्न उठता है। यों नयी आलोचना ने मानदंडों का प्रश्न बहुत कुछ अप्रासंगिक करार दे दिया है, और उसके स्थान पर वह पद्धति के नवीकरण पर बल देती है (देखिये : मई, १९६४ में दिल्ली में 'नवलेखन के भावबोध' पर आयोजित गोष्ठी की 'माध्यम' जुलाई '६४ और 'धर्मयुग' : जून, १९६४ में प्रकाशित रिपोर्ट)। पर जैसा कि अभी संकेत किया जा चुका है कि नयी कविता में जिस प्रकार तमाम शास्त्रीय मानदंडों को अप्रासंगिक सिद्ध करके उसकी मूल्यसत्ता को नये सिरे से खोजा गया, विश्लेषण की पद्धति और समीक्षा की शब्दावली आविष्कृत हुई, वैसा प्रारम्भ में कहानी-समीक्षा में सम्भव नहीं हो सका। ऊपर बताये गए कारण के अतिरिक्त एक तथ्य शायद यह भी था कि काव्य-समीक्षा में जिन सिद्धान्तों को अस्वीकार किया गया उनकी एक बड़ी शक्ति को आत्मसात् भी कर लिया गया, पर कथा-समीक्षा के पहले से प्रचलित मानदंड इतने लचर थे कि बहुत-कुछ नये सिरे से ही शुरू करना था और इस शुरुआत में ग्राम-कथा, नगर-कथा जैसे बेमानी वर्गीकरण पुराने प्रभावों के फलस्वरूप उत्पन्न कमज़ोरियों के उदाहरण हैं।

अस्तु, कथा-समीक्षा की नयी पद्धतियों या औज़ारों को विकसित करते समय पश्चिम के फिक्शन क्रिटिसिज़्म से भी सहायता ली गई और काव्य-समीक्षा की कोटियों को (हिन्दी से भी और पश्चिम में 'न्यू क्रिटिसिज़्म' के प्रभाव-तले लिखी जाने वाली कहानी-समीक्षा, जोकि मूलतः कविता के लिए अधिक उपयुक्त है, में भी) भी लागू किया गया। यहीं यह कह देना मुझे प्रासंगिक लगता है कि पश्चिम से आयातित किये जाने पर मुझे तनिक भी आपत्ति नहीं है। हम सभी पश्चिम की विकसित समीक्षा-पद्धतियों से जाने-अनजाने प्रभावित होते रहते हैं। आपत्ति केवल वहाँ पर की जा सकती है जहाँ उन कोटियों को लागू करते समय प्रसंगानुकूलता या औचित्य का ध्यान नहीं रखा जाता। यों हमारे रचनाकारों के प्रेरणास्रोत भी वहाँ कम नहीं हैं। पर कुछेक विसंगतियों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। पहली बात तो यह कि पश्चिम में फिक्शन क्रिटिसिज़्म अधिकांशतः उपन्यासों और कहानियों के पूरे सन्दर्भ में लिखा गया है। पर हिन्दी में कुछ तो उपन्यासों के अपेक्षाकृत अभाव के कारण, और कुछ पूरे परिदृश्य को ध्यान में रखने के लिए जिस परिश्रम एवं योग्यता की आवश्यकता होती है उससे बचने के कारण, केवल कहानियों को ही चर्चा का आधार बनाया गया। इसका स्पष्ट परिणाम है कि अक्सर कहानी से उन चीज़ों की माँग की जाती है जिनकी माँग उपन्यास से ही की जा सकती है। यों दोनों के रूपगत अन्तरों की कतिपय ऐतिहासिक अनिवार्यताओं के बावजूद दोनों के समीक्षा-मूल्यों के सेट अलग-अलग नहीं किये जा सकते। और यदि अलग करने की चेष्टा की जाती है तो फिर उपन्यास-सम्बन्धी प्रतिपत्तियों को लागू करने से बचना होगा। दूसरी बात यह कि

पश्चिम में उपन्यास को 'समाज के भीतर स्थित व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धा तनाव' पर आधारित माना गया है जबकि कहानी को नितान्त आत्मपरा लिरिकल आदि। आयरी लेखक फ्रैंक ओ'कोन्नोर ने उसे 'समाज की सरहदों प लड़ी जाने वाली गुरिल्ला लड़ाई माना है जिसमें बाहरी छोरों पर बैठे हुए व्यक्ति का प्राधान्य होता है।" इस कसौटी के अनुसार हिन्दी-प्रदेश में 'नविन्म औ मैनर्स' के लिए काफी उपजाऊ भूमि होनी चाहिए थी; पर हुआ यह कि कहान घनी मुख्य। और वह भी समाज से कटकर लड़ी जानेवाली गुरिल्ला लड़ाई के रूप में ही नहीं, बल्कि पूरे सामाजिक वस्तु-सत्य के भीतर मनुष्य के द्वन्द्व, तनाव आशा, आकांक्षा को भी समेटनी वाली। ऐसी स्थिति में हिन्दी-कहानी को 'मानवीय नियति के सम्मुख गीतात्मक चीख' या अत्यन्त 'वैयक्तिक अकेली प्रतिक्रिया' के रूप में देखना बहुत संगत न होगा।

कथाकृति के लिए ऊपर जिस कलात्मक आरगैनिक समग्रता की बात कही गई है वह अन्ततः एक निर्व्यक्तिक कला-सिद्धान्त की ओर ले जाती है यानी कि एक बार जन्म ले लेने के बाद कलाकृति का विकास अपने ही नियमों से होगा और कलाकार उसमें दखलन्दाजी के लिए स्वतंत्र न रहेगा। इस प्रकार दृष्टि-बिन्दु (प्वाइण्ट ऑफ व्यू) को सम्हालने की आवश्यकता सामने आती है। इस दृष्टि से आधुनिक कविता और आधुनिक कथा-कृतियों में समान प्रविधियों का उपयोग मिलता है। फ्लाबेयर और हेनरी जेम्स के साहित्य-सिद्धान्त उन्हीं स्रोतों से उद्भूत होते हैं जिनसे कि ह्यूम, पाउण्ड या इलियट के। संभवतः इसी कारण कुछ लोग काव्य-समीक्षा की पद्धतियों एवं मूल्यों को कथाकृतियों पर भी लागू करने के लिए उतावले दिखते हैं। कथा-साहित्य के मानदंडों की चर्चा के सिल-सिले में इस प्रकार कथा-प्रकृति (या कथाकृतियों की विविध प्रकृतियों) की उपेक्षा करके लाये जाने वाले इन मानदंडों के खतरों की भी चर्चा कर ली जाय। इससे शायद हमें अधिक व्यवस्थित इंगित मिल सकें।

काव्य-समीक्षा के आधार पर कहानी की चर्चा करने वालों में नयी कहानी के वे पैरोकार भी हैं जो प्रतीक, बिम्ब, लय, रूपक, मिथक, अन्योक्ति आदि की चर्चा करके उसके महत्त्व को जताते हैं। यह प्रयत्न वैसा ही है जैसा कि १९वीं शती में जोला या गान्कार्ट-बन्धुओं ने उपन्यास को विज्ञान का आसन देकर करना चाहा था। दूसरे वे लोग भी हैं जो भाषा-संवेदना आदि की चर्चा करके कहानीमात्र को हेय या असमर्थ विधा सिद्ध करना चाहते हैं।

काव्य-समीक्षा के मानदंडों के आरोपित करने से जो खतरे सामने आते हैं उनकी चर्चा करते हुए फिलिप राह्व ने कहा है कि ऐसा करने वाले तीन चीजों पर बहुत बल देते हैं—प्रतीक, मिथ, रूपक, अन्योक्ति आदि की खोज पर; भाषा पर; और टेक्नीक को ही सब-कुछ मानने में। चूँकि हिन्दी-कविता पर

'न्यू-क्रिटिसिज्म' की इन प्रविधियों को अभी बहुत अधिक लागू नही किया गया है इसीलिए कहानी की आलोचना मे भी इनकी बहुतायत तो नहीं दिखती, परन्तु यत्र-तत्र इस प्रकार की चेष्टा के लक्षण दिखायी देते हैं और लगता यही है कि यह प्रवृत्ति बढेगी। कविता के क्षेत्र में प्रतीकों, मिथकों आदि को विशिष्ट महत्त्व प्राप्त है—खासकर मुक्तक गीति-तत्त्व वाली कविताओं में। ये कविता के पूरे रूपबन्ध के अनिवार्य अंग होते हैं और उसकी अर्थ-गरिमा को विस्तार और गहराई देते हैं। पर इन प्रतीकों या उनके पैटर्न के आधार पर कथाकृतियों के रूपबन्ध का विश्लेषण नही किया जा सकता। अच्छाई-बुराई का निर्णय तो इस कसौटी पर नितान्त असम्भव ही है। अच्छे-बुरे सभी प्रकार के उपन्यासों-कहानियो मे उनकी खोज की जा सकती है। 'आर्द्रा' या 'अनदेखे अनजाने पुल' के प्रतीक उनकी कलात्मक क्षमता या यथार्थबोध को कोई नया आयाम नहीं देते, केवल एक सामान्य-सा कौशलगत-प्रभाव उत्पन्न करके रह जाते हैं। इस प्रकार के विवेचन का परिणाम यह होता है कि कृति के कथात्मक विकास की ओर ध्यान न देकर किसी एक स्थिति या भाषा-प्रयोग का विश्लेषण ही कसौटी बन जाता है, जब कि कथाकृति में महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'कथानक' (Plot) होता है (प्लाट घटनाओं और विवरणों के अर्थ मे नही, बल्कि अरस्तू की सहमति से 'कार्य-व्यापार की आत्मा' के अर्थ में)। प्रतीक, मिथक, अन्योक्ति आदि की चर्चा वास्तविक का अवमूल्यन करती है। अनुभव की जो प्रत्यक्षता है उसके प्रति एक अवमानना का भाव प्रतीक-चर्चा में निहित रहता है। गोया कि जो प्रत्यक्ष है, वास्तविक है, तात्कालिक है, प्रयोगसिद्ध है, उस अनुभव का प्रस्तुतीकरण महत्त्वहीन या दिखावा मात्र है और असली अर्थ कही भीतर छिपा बैठा है जिसे प्रतीकों के उल्खनन के जरिये बाहर लाना होगा। कहना न होगा कि कथारूपों की मूल सम्पदा यह प्रत्यक्ष अनुभव ही होना है भले ही वह ऊबड़-खाबड या अपरिष्कृत हो। कहानी को अक्सर गीतिवत् माना जाता है पर यह समानता आत्मपरकता तक ही सीमित है और उसे गीति की प्रतीक-योजना मे घुलाने की चेष्टा सिर्फ स्मार्टनेस ही कही जा सकती है। कहानी मे दिखावे और यथार्थ में गहरा अन्तराल नही होता और ज्यादा प्रतीक-चर्चा सचमुच ही न समझने की बात है और न व्यर्थ ही मगजपच्ची करके दूसरे को समझाने की। दूर की कौडी लाने की चेष्टा, चाहे वह एडविन बैरी बर्गम के ही आधार पर क्यों न हो, अन्ततः यथार्थ को अस्वीकार कर रूपवादी वृत्ति को बढावा देती है और अपनी तार्किक परिणति मे भावपक्ष या कलापक्ष के पुराने द्वैत को पुनर्जीवित करती है। इसे अपनी मूल दृष्टि मे उस भाववादी दर्शन की देन सिद्ध किया जा सकता है जिसे मार्क्स ने ही नहीं, क्वान्टम फिजिक्स ने भी एकदम खारिज कर दिया है। पर दर्शन मे वह भले ही अस्वीकृत हो गया हो, आलोचना और सौन्दर्यशास्त्र मे अब भी जोर मारता रहता

है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कथा-साहित्य में प्रतीक नहीं होते। प्रतीकों का वहाँ प्रचुरता से उपयोग होता है पर अनुभव की वास्तविकता को अधिक-से-अधिक घटित करनेके लिए, न कि उसके पार कुछ दिखाने के लिए। प्रतीक यहाँ सुराग या संकेत-सूत्र नहीं होते जिनके सहारे *कहानी के तिलिस्मी मजार में पैठा* जाय। कहानी में प्रतीक रहस्यपूर्ण न होकर, उसके अर्थ-सम्भार का ही अनिरिक्त उच्छलन कहा जा सकता है। वह पूरे गद्य-विस्तार के सन्दर्भ में होना है न कि *समस्त गद्य-विस्तार का तात्पर्य किसी प्रतीक या मिथक के लिए होता है। इसे यों भी* कहा जा सकता है कि प्रतीक पूरे कथात्मक यथार्थ का आन्तरिक अंग होता है और इसकी नितान्त बौद्धिक व्याख्याएँ हेत्वाभासों की सृष्टि करती हैं। इसीलिए जब *यह कहकर नयी कहानी को स्थापित करने की चेष्टा की जाती है तो मुझे लगता* है कि एक निहायत लचर दलील ही नहीं दी जा रही, बल्कि नयी कहानी की वास्तविक व्याख्या को कुछ परे हटाया जा रहा है। फिर मजा यह कि राकेश या *राजेन्द्र यादव नामवरसिंह पर काव्य-समीक्षा के प्रतिमानों को आरोपित करने* का अभियोग भी लगाते हैं और स्वयं भी सांकेतिकता की शान ही नहीं करते, अपनी कहानियों में जबरदस्ती कुछ प्रतीकों को बिठाने की चेष्टा भी करते हैं। *आलोचनात्मक आतंक या त्रास का इससे अच्छा उदाहरण और क्या मिलेगा!*

प्रतीकों तक तो गनीमत है; जब भाषा-संवेदना ही एकमात्र आधार बन जाती है तो और अधिक विचित्रताएँ देखने में आती हैं। एक आलोचक ने नयी कहानी के अस्तित्व को तो अस्वीकार किया ही, कहानी की विधा-मात्र को *नयी संवेदना के* वहन करने में अक्षम बताया। उनके अनुसार यह स्थिति प्रायः सभी उन्नत साहित्यों में देखी जा सकती है—पता नहीं काफ्का, हेमिंग्वे, फ़ॉकनर, ट्रूमन कपोट, फ्रैंक ओ'कोन्नोर या इज़ाक बाबेल की कहानियों को वे कहाँ रखना चाहेंगे—चेखव और मोपासाँ को उन्नीसवीं शती में फेंक देने के बाद भी। अस्तु, इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए वे कहानी को बच्चनोत्तर गीतों के समकक्ष रखते हैं और तर्क देते हैं कि 'दोनों की ही भाषा प्रयोग-विधि एक-जैसी है। नये कहानीकार और *गीतकार, दोनों* सरल भाषा और अभिव्यक्ति की सादगी पर बल देते हैं।' लगता है कि निर्मल, यादव, कृष्ण बलदेव वैद, रामकुमार आदि की कहानियों को पढ़े बग़ैर यह *मन्तव्य* प्रगट किया गया है। (याद दिलाना अनुचित *न समझा जाय तो हेमिंग्वे की सरल* भाषा और अभिव्यक्ति की सादगी की संकुलता और आधुनिकता पर भी गौर कर लेना चाहिए।) इस सरलता को लोक-साहित्य से जोड़ते हुए आलोचक ने *बताया है कि 'शिष्ट साहित्य भाषा के सृजनात्मक (क्रिएटिव) रूप का प्रयोग करता* है। इस सृजनात्मक रूप में लेखक प्रतीक और बिम्ब-विधान के माध्यम से अपनी *बात कहता है और यहीं उसकी भाषा सामान्य भाषा की तुलना में कठिन हो जाती है।' तथा विपिन अग्रवाल जैसे कवियों में 'सरल शब्द होने पर भी उनका बिम्ब-*

विधान सूक्ष्म है। भाषा का यह रूप न होने के कारण रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार नयी कहानी में युग-संवेदना नहीं है, आधुनिकता नहीं है; लोकप्रियता है, अबौद्धिक वृत्ति है आदि-आदि। शब्दों, जार्गनों का खासा चमचमाता हुआ वाग्जाल बिछाया गया है। वस्तुतः सूक्ष्म बिम्बों और प्रतीकों को ही भाषा का सृजनात्मक रूप मानना गद्य के अपने स्वभाव को अस्वीकार करना है जिसकी 'वर्णनात्मक' प्रकृति को विपिनकुमार अग्रवाल तक स्वीकार करते हैं। पर जहाँ कविता की कोटियों को ही लागू करने की धुन सवार हो वहाँ आप कर ही क्या सकते हैं! ऐसे ही लोग बॉलज़ाक, टॉल्सटाय, प्रेमचन्द या टॉमस मान से जेन आस्टिन, हेनरी जेम्स, जैनेन्द्र या पियरे लुई को बड़ा उपन्यासकार भी सिद्ध कर सकते हैं।

कथाकृति की पूरी समझ या व्याख्या के लिए उस जीवन की गहराई की माप आवश्यक है जहाँ से लेखक की कला-दृष्टि (और इसीलिए नैतिक दृष्टि भी) उदित होती है। इसीलिए भाषा वाली कसौटी की अपेक्षा अनुभव की दुर्निवारता या प्रामाणिकता की टोह के लिए प्रतीकों या बिम्बों नहीं चरित्र-निर्माणक्षमता, कथानक-संघटन-शक्ति आदि का विश्लेषण ही कथा-समीक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण होता है। कहना न होगा कि इसके लिए जिस समीक्षा-भाषा की आवश्यकता होगी वह कविता की भाषा से कुछ अलग ही होगी। इस प्रसंग में रूसी रूपवादी आलोचक विक्टर भिरमुन्स्की की याद दिलायी जा सकती है: "एक उपन्यास और एक गीति कविता को शाब्दिक कला की कृतियों के रूप में समतोल नहीं किया जाता है, क्योंकि उनमें थीम और रचना-संघटन के मध्य सम्बन्ध बिलकुल भिन्न हैं। एक उपन्यास, जैसे कि टॉल्स्टाय या स्टेण्डाल-रचित, में शब्द दैनिक बोलचाल की भाषा के निकटतर होते हैं और अपने व्यापार में खुले तौर पर प्रेषणीय होते हैं जबकि एक कविता में शब्द-विधान पूरी तौर पर लालित्य की परिकल्पना (ऐस्थेटिक डिज़ाइन) से निश्चित होता है और इस रूप में वह अपने-आप में लक्ष्य (साध्य) भी होता है।" यों अज्ञेय या निर्मल या रेणु की कथाकृतियों से ऐसे रूपवादी अलंकृत गद्य के प्रचुर उदाहरण दिये जा सकते हैं जो अपनी शब्द-योजना, बिम्ब-विधान, लाक्षणिकता आदि में अत्यन्त आकर्षक हैं पर ऐसे अंश साधारणतः उस गद्य के प्रवाह में ही बाधा नहीं डालते, कथा के अभिप्रायों को भी बाधित करते हैं; अथवा यों भी कहें कि कथा के अर्थसंभार को अशक्ति का गोपन करते हैं।

यद्यपि एफ़० आर० लीविस ने स्वयं इस कविता-विधि को कथा-समीक्षा में लागू किया है—शायद दूसरा रास्ता न स्वीकार करने के कारण; पर वे स्वयं इसके खतरों से आगाह करते हुए कह चुके हैं कि, "उपन्यास पर आलोचनात्मक पद्धति से इस बोध को लागू करना कहीं अधिक दुष्करतर है कि रचनाकार जो कुछ करता है वह 'यहाँ, यहीं और यहाँ' शब्दों द्वारा ही करता है और उसे एक कलाकार के रूप में (अगर वह है) उसी प्रकार के [illegible] जिससे कि एक

कवि को दिया जाता है। कविता व्यंजना (कन्सेन्ट्रेशन) से कार्य करती है, (उसमें) शब्दों का अलग-अलग अस्तित्व सार्थक होता है ...लेकिन गद्य साधारणतः समन्वित प्रभाव पर निर्भर करता है इस प्रकार से कि उपन्यास का एक पृष्ठ जो पूरे सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण हो, (अपने आप में) बहुत ही अमहत्त्वपूर्ण दिखाई पड़ सकता है।" वस्तुतः गद्य और कविता की भाषा-पद्धतियाँ बिलकुल भिन्न-भिन्न होती हैं। एक की इकाइयों को दूसरे पर लागू कर एक 'कॉमन डिनोमिनेटर' भले ही खोजी जा सके, पर इससे विधाओं का जो एक ऐतिहासिक-साहित्यिक अस्तित्व है वह समाप्त होने लगता है। और हम मूल्यांकन के स्थान पर एक प्रकार के प्रभाववादी समीक्षण के निकट पहुँच जाते हैं। आधुनिक कविता की अपेक्षा गद्य में शब्दार्थ-सम्बन्ध कहीं अधिक दृढ़ता और अनिवार्यता के साथ परम्परानुमोदित रूप में निश्चित होते हैं। इसीलिए शब्द के स्थान पर शब्दों से बननेवाले चरित्र-सम्बन्धों और स्थितियों के गुम्फन का उद्घाटन ही यहाँ पर मुख्य होता है। कहानी या उपन्यास का सम्बन्ध भाषिक प्रयोगों पर आधारित न होकर उस बाह्य यथार्थ से चुनी गई छवियों और उन छवियों को चुननेवाली दृष्टि-शक्ति पर निर्भर करता है। यहाँ तादात्म्य शब्दों नहीं, शब्दों के माध्यम से भाषान्तरित होनेवाले यथार्थ से होता है। इस यथार्थ के लिए दृश्यों, व्यापारों, वस्तुओं और व्यक्तियों से ही कथा-समीक्षक का मुख्य सरोकार होता है—न कि लय, प्रतीक, बिम्ब या शैली के जंगल से। फिलिप राह्व ने ठीक ही कहा है कि "कलाकार की मुख्य समस्या शैली की न होकर 'दृष्टिबिन्दु', 'कथात्मक परिदृश्य' आदि से सम्बन्धित बातों से ही रही है—यानी कि अपनी विषयवस्तु को परिभाषित करना, अपने कथानक के भीतर से रास्ता बनाना ही कथाकार की मुख्य समस्या है।"

भाषिक विधि के इस विरोध का तात्पर्य यह नहीं है कि कथा-चर्चा के लिए भाषा को नितान्त अप्रासंगिक ठहरा दिया जाय। कथ्य के अनुरूप भाषा की खोज की समस्या हर कलाकार को ललकारती है। 'गोदान' और 'नदी के द्वीप' की भाषा का अन्तर दो कथ्यों के अनुरूप ही है। यही नहीं, अगर भारती की विषयवस्तु महेन्द्र भल्ला से पुरानी है तो दोनों की भाषाओं के मिजाज में स्पष्ट अन्तर दिखायी पड़ता है। कमलेश्वर या काशीनाथसिंह की भाषा निश्चित ही अमरकान्त या शिवप्रसाद सिंह से भिन्न है। फिर इतना ही नहीं, कुछ लोग अपनी कथावस्तु का भावन अधिक काव्यात्मक विधि से करते हैं। यथार्थ का ग्रहण दोनों प्रकार से संभव है—काव्यविधि से भी और गद्यविधि से भी। इस सम्बन्ध में स्टीफेन स्पेंडर ने काफी विस्तार से विचार किया है। पर काव्य-विधि और गद्य-विधि सापेक्षिक शब्द हैं और इसका अर्थ यह नहीं कि इन पर कथामूल्यों के बजाय काव्यमूल्यों का आरोपण किया जाय। अंततः मूल्य कथा के रहेंगे—यानी चरित्रों या स्थितियों के अन्त:सम्बन्धों के, पर साहित्यिक कौशलों (लिटरेरी डिवाइसेज) की छानबीन

करते समय इन प्रविधियों को भी ध्यान में रखना किसी भी समीक्षक के लिए अनिवार्य है।

कहानी-चर्चा में शिल्प शब्द भी खासा केन्द्रस्थ रहा है। वस्तुतः यह भी बहुत कुछ भाषावाली बात का बढ़ाव है। जब विपिनकुमार अग्रवाल लिखते हैं, "गद्य का स्वभाव वर्णनात्मक है। कहानी गद्य में बाँधी जाती है। इसलिए वर्णन उसका अभिन्न अंग है। कहानी का सारा दारोमदार इस पर निर्भर करता है कि वर्णन कितना सार्थक हो सका। वही वर्णन सार्थक है जो कहानी के आंतरिक संघटन को पुष्ट करता है, उसमें नया निर्माण करता है या प्रभाव को पुनः संयोजित करता है।...कहानी लिखना इस प्रकार के वर्णन का सृजन करना है।" आंतरिक संगठन जैसे शब्द यहाँ अपरिभाषित और जार्गनधर्मी तो हैं ही, मुझे यह भी लगता है भाषा-विधि का ही बढ़ाव जिस टेक्नीक-प्रधानता की ओर ले जाता है वही इसमें भी निहित है। यहाँ पर वर्णन-संघटन के नाम पर टेक्नीक को ही परम मानने का आग्रह निहित है। बहरहाल, इसके बाद अग्रवालजी विज्ञान और साहित्यिक अध्ययनों के अन्तर को मिटाते हुए वैज्ञानिक फार्मूलों में बात करते-करते कुछ फार्मूले इस नये संघटन के भी बता देते हैं। विज्ञान में भले ही फार्मूले रटने पड़ते हों पर 'फार्मूला-विरोधी' नयी कहानी जिस कथात्मक यथार्थ से जूझती है उसमें इस प्रकार के फार्मूले एक ऐब्सट्रैक्शन से अधिक महत्त्व रखेंगे—इसमें सन्देह है। भाषा और टेक्नीक पर जोर देकर कथा-दृष्टि और उससे संभूत सृजनात्मकता को उपेक्षित करने का एक उदाहरण अभी हाल में ही 'कल्पना : १६३' में प्रकाशित 'वे दिन' की समीक्षा के सिलसिले में दिखायी पड़ा। प्रयाग शुक्ल ने जहाँ अपनी समीक्षा में कथा-दृष्टि की कमजोरी, वर्णनों की आवश्यकता या चरित्रों के अन्त सम्बन्धों की सपाटता की ओर इंगित करते हुए शिल्पगत कमजोरियों का निर्देश किया था, वहीं प्रतिक्रियास्वरूप महेन्द्र कुलश्रेष्ठ ने (कल्पना : १६५) शिल्प और भाषा को मुख्य मानकर 'वे दिन' का औचित्य सिद्ध करना चाहा है। व्यक्तिगत रूप से मुझे प्रयाग शुक्ल की समीक्षाविधि अधिक प्रासंगिकतापूर्ण लगती है। कहना न होगा कि टेक्नीक पर बहुत जोर देने वाले समीक्षक कहानी में रचे-बसे यथार्थ को अनदेखा कर उसे रूपवाद की ओर ही ले जायेंगे। टेक्नीक की दृष्टि से बहुत ही सफल, जानदार लेखक को क्या सचमुच ही महत्त्वपूर्ण कहानीकार भी सिद्ध किया जा सकता है? शायद नहीं; मुख्य समस्या तो उस संसार के भूगोल, इतिहास, प्रकृति और उसकी पैमाइश के पैमाने की है जो कहानी के भीतर मौजूद है।

इस सम्बन्ध में श्रीकान्त वर्मा की यह बात ज्यादा सही समझ का परिचय देती है कि "कहानी का सम्बन्ध अनुभव से है और चरित्र कहानीकार के अनुभव का ही प्रतिबिम्ब है।...कहानी की गति और कहानी की नियति, कहानी का चरित्र है। चरित्र का गठन ही, वास्तव में, कहानी का गठन है। चरित्र और चरित्र-रचना के

मूल्यों में परिवर्तन ही कहानी की भाषा में परिवर्तन उत्पन्न करता है।" ऐसी स्थि मे क्या यह कहना उचित न होगा कि कहानी में आया नया चरित्र किस बात किस सचाई के लिए स्टैण्ड करता है, इसकी खोज का रास्ता कहानी के संसार पैठने का द्वार बन सकता है? शायद ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह पूछताछ होगी कि कहा में आये इस समकालीन मनुष्य के 'स्व' (आत्म) का स्वभाव क्या है? कर्मरत हो पर, दबाव पड़ने पर, कठिनाइयाँ उपस्थिति होने पर, मुक्त रहने पर, स्वीकृति समय, अस्वीकृति के समय, मुकाबला करते समय या समझौता करते समय विभि परिस्थितियों में इसकी स्वभावगत प्रतिक्रियाएँ क्या होंगी? मुझे लगता है कि इस समकालीन मनुष्य के 'स्व' के कार्य या पलायन यथार्थ के उस सघन और सान्द्र क्षेत्र से सम्बन्धित है जिससे सास्कृतिक जिन्दगी के तमाम तनाव या विश्रान्तियाँ उदित होती है। और इसी भूमि पर युगबोध और उन साहित्यिक विधाओ का सम्मिलन होता है जिनका विश्लेषण और मूल्यांकन समीक्षा की अनिवार्य नियति है।

इस संकलन की उपयोगिता के बारे में तर्क देने की आवश्यकता मुझे नहीं प्रतीत होती। स्वस्थ हो या अस्वस्थ, पर पिछले ८-१० वर्षों मे नयी कहानी को लेकर जो क्रियाशीलता रही है उसमें से कुछ महत्त्वपूर्ण अशों को चुनकर एक जगह इकट्ठा कर दिया गया है। इससे 'नयी कहानी' का रूप भी अधिक परिभाषित हो सकेगा और हमारी वह विवेक-बुद्धि भी आसानी से कसौटी पर चढ़ायी जा सकेगी जो इस विवाद मे हिस्सा लेती रही है। संकलन मे बहुत-सी कमियाँ हो सकती हैं—कुछ मे तो मैं ही परिचित हूँ—पर अपनी साम्प्रतिक सामर्थ्य और साधनों के अनुसार जो कर सका, उसे सकलित रूप में उपस्थित किया जा रहा है।

संकलन तीन खण्डों में विभाजित है: 'पहचान और प्रतिष्ठापन', 'विवाद और विश्लेषण' तथा 'सर्वेक्षण और मूल्यांकन'। जहाँ तक लेखों के क्रम-निर्धारण का प्रश्न है सामान्यतः प्रकाशन तिथि को प्रत्येक खण्ड में ध्यान मे रखा गया है। पर इसका पालन पूरी तौर पर नहीं किया जा सका। इस क्रम का उल्लंघन एक प्रकार की विषयगत संगति को भी ध्यान में रखने के कारण हुआ है।

पहले दो लेख सकलन की भूमिका के रूप में देखे जा सकते हैं। नयी पीढ़ी के कहानीकार मार्कण्डेय पुरानी पीढ़ी के तीन सर्वाधिक प्रमुख कहानीकारों—यशपाल, जैनेन्द्र, अज्ञेय—के कृतित्व की चर्चा करते हैं और पुरानी पीढ़ी के एक प्रमुख रचनाकार अश्क 'नयी कहानी' पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। सावधानी से पढ़ने वाले को दोनों दृष्टिकोणों के अन्तर में नयी कहानी की सैद्धान्तिक दृष्टि का संकेत मिल सकेगा। मार्कण्डेय का लेख वस्तुतः अलग-अलग समयों मे प्रकाशित उनकी तीन टिप्पणियों का एकत्रीकरण है—तीनों खण्डों के प्रकाशन-वर्षों का संकेत कर दिया गया है। वस्तुतः इन प्रारम्भिक दो लेखों को अलग एक खण्ड के रूप मे भी देखा जा सकता है। पहचान और प्रतिष्ठापन की प्रक्रिया तो तीसरे

लेख ने शुरू होती है। इनमें पहचान वाले अंश को तीसरे, चौथे, पाँचवें लेख तक ही सीमित माना जा सकता है। छठा लेख प्रकाशन की दृष्टि से काफी बाद १९६३ का है पर रचना-प्रक्रिया से सम्बन्धित होने के कारण इस स्थान पर रखा गया है। इसके बाद कुछ रचनाकारों और फिर समीक्षकों के प्रतिष्ठापन-प्रयत्नों का संकलन है। इस खण्ड में केवल प्रतिष्ठापन-प्रयत्न ही नहीं है, रामस्वरूप चतुर्वेदी और विपिनकुमार अग्रवाल के लेख में नयी कहानी के अस्तित्व पर कुछ शंकाएं भी उठायी गयी है। यहाँ रचनाकारों और समीक्षकों के प्रकाशन-क्रमों का अलग-अलग निर्वाह किया गया है। दूसरे खण्ड में प्रकाशन-क्रम को पूरी तौर पर निभाया गया है तीसरे खण्ड में प्रकाशन-तिथि की दृष्टि से पूर्ववर्ती होते हुए भी नामवरसिंह का लेख अन्तिम है। वस्तुत: यह लेख व्यतीत के परिदृश्य को ही नहीं उपस्थित करता, नयी संभावनाओं की ओर भी इंगित करता है। इसलिए इसे अंतिम लेख के रूप में देना अधिक उपयुक्त लगा।

इस संकलन में संकलित विभिन्न लेखों का विश्लेषण करके इन लेखों के महत्त्व का निर्धारण, या चुनने के औचित्य की चर्चा भी की जा सकती है तथा इनके आधार पर नये 'कथाशास्त्र' की रूपरेखा का विवेचन भी संभव है। पर भूमिका अभी खासी बड़ी हो गई—अत: यह कार्य किसी अन्य द्वारा या अन्यत्र ही।

आभार-स्वीकार

संकलित लेखों के लेखकों ने जिस आत्मीयता के साथ योजना का स्वागत करते हुए अपना सहयोग दिया है, वह किसी भी संपादक के लिए ईर्ष्या की बात हो सकती है। मैं सचमुच ही इन सभी लेखकों के प्रति आभारी हूँ। सोचा था कि जवाहरभाई से क्षमा माँगूँगा पाण्डुलिपि देने में खासा परेशान करने के लिए, पर अब धन्यवाद दूँगा—सुरुचिपूर्ण प्रकाशन पर। राजेन्द्र यादव को भी धन्यवाद देना बुरा न रहेगा—आखिर योजना पर, पहले-पहल विचार-विमर्श तो उन्हीं के साथ हुआ था।

दिल्ली, —देवीशंकर अवस्थी
१२ नवम्बर, '६५

[१]

पहचान और प्रतिष्ठापन

यशपाल, जैनेन्द्र और अज्ञेय

मार्कण्डेय

यशपाल : कहानी जीवन के लिए

जीवन कुछ अजीब-सा शब्द है—विशेषत कहानी पर बातचीत के सिलसिले में। अगर यह कहा जाता कि कहानी राम के लिए, कहानी मनोहर के लिए या कल्लू-मल्लू अथवा सेठ गोपीचन्द के लिए—तो बात समझ में आती, क्योंकि इनमें से किसी-न-किसी को आप जरूर जानते हैं। हो सकता है कि आप खुद इनमें से कोई एक हों, और यह जानकर निराश हो उठें कि भाई, यह कहानी तो मेरे लिए नहीं। जीवन साहब तो जरा ऊँचे आदमी हैं, चलने-फिरते, खाते-पीते। सुना जरूर है उनके बारे में, लेकिन देखा नहीं। देखा भी हो, तो पहचाना नहीं ! कई लोग बातें करते-करते कहते हैं, 'भाई, यही जीवन है !' शायद कोई थानेदार नौकरी से रिटायर होने के बाद रात-दिन राम-नाम जपता है, और पुत्र के हत्यों से निर्मित महल से दूर एक झोपड़ी लगाकर रहने लगता है। लेकिन दवा के बिना जब उस औरत का बच्चा मर गया, तो वहाँ भी लोगों को कहते सुना, 'भाई, धीरज धरो। ससुरा जीवन है ही ऐसा। साफ लगता है कि वही जीवन साहब यहाँ भी हैं, लेकिन कुछ अजीब रूप में, कुछ दूसरी ही परिस्थिति में।

कुल मिलाकर सामान्य आदमी के लिए जीवन किसी बड़ी घटना अथवा परिवर्तन के आस-पास ही दिखाई देता है, जैसे देर तक किसी विस्तृत नदी के बहाव पर निगाह जमाए रहिए, तो आपको लगेगा, जैसे नदी को देख ही नहीं रहे हैं। पता तब चलता है, जब सहसा लहरें उछलने लगती हैं, भँवर पड़ जाती है, तूफान आ जाते हैं, अथवा कोई बड़ी मछली या दूसरे जानवर पानी को वहीं उछाल देते हैं।

ऐसे ही समय आदमी पल-भर को अपनी ओर लौटता है। कुछ हिसाब वह करना चाहता है। लेकिन उसके इतने उत्तर दिये जा चुके हैं, कि उसका स्वयं का जीवन इन्हीं उत्तरों की दीवार पर खड़ा हो गया है। 'ईश्वर की इच्छा यही थी। भाग्य में यही लिखा था। आदमी अपने किये का फल भोग रहा है।' आदि यह, कि शायद अगले जीवन में उसे शान्ति मिल सकेगी। अभिप्राय यह कि उसका जीवन है, और उसके परिवर्तन की सारी जिम्मेदारी, उसकी भलाई-बुराई, सब उसी पर

विरोध था, कहानी की मूल धारणा से नहीं, इसलिए जीवन की विषमताओं में उभरने वाले यथार्थ चरित्रों की सृष्टि उनके लिए सम्भव नहीं हो सकी।

'पराया सुख' नामक कहानी में ठेकेदार सेठी से अप्रत्याशित परिस्थिति में मुलाकात होने के बाद उसके सौम्य व्यवहार और पैसों का सुख तो विवाहिता उर्मिला लेती रही, लेकिन वह यह नहीं कर सकी कि अपने पति मदन को छोड़कर सेठी से ब्याह करने की बात सोचती, जबकि मदन के बारे में (चाहे अपनी बेवफाई के सदर्भ ही में सही) पूरी कहानी में वह एक बार भी सहानुभूतिपूर्वक नहीं सोचती। यदि इस कहानी में यशपाल ने अपनी प्रगतिशील दृष्टि को वास्तविकताओं के अन्त.सघर्ष में डाला होता, तो शायद परम्पराओं और रूढ़ियों में जकड़ी नारी की लाचारी का यह मार्मिक पक्ष सामने आता कि वह चाहे किसी अन्य को कितना ही प्यार क्यों न करे, चाहे उसकी शारीरिक और मानसिक सम्भावनाएँ कितनी ही प्रबल क्यों न हों, वह तो उसी की होकर रह सकेगी, जिसके साथ उसकी सप्तपदी हो चुकी है। कहानी में वर्णित जीवन का तर्क चूँकि इस निहायत किताबी नुस्खे पर चल रहा था कि आर्थिक बन्धन व्यक्तिगत नैतिकता पर किस कदर प्रभाव डालते हैं, जीवन की एक अधिक गहरी समस्या लेखक के हाथों से बिछल गई, और चरित्र जीवन के वास्तविक धरातल से फिसलकर नकली हो उठे।

असल में मान्यताओं को स्थिर वस्तु-सत्य मान लेनेवाले लोग जीवन को भूल जाते हैं, या यों कहें कि जीवन में कट जाने के कारण ही बोध में स्थिरता आ जाती है, और रचना एक रट में दुहरायी हुई अनुभूतियों के अन्वेषण और उद्घाटन का काम करने लगती है, और लेखक मान्यताओं के खूँटे गाड़ कर कल्पना की रस्सी से जीवन को कावा कटाने लगता है।

इसलिए, यदि 'पराया सुख' का सेठी ठीक उतना ही कर सकता है जितना यशपाल चाहते हैं, और अपने पति मदन के प्रति सवेदनहीन उर्मिला, सेठी के प्रेम में लीन होकर भी अपनी आत्मा के सम्मुख (उसी से) इन्कार का हक चाहती है, फिर अपनी कोख पर ताला लगवाने पर भी बाध्य हो जाती है, तो उर्मिला को समझना तनिक मुश्किल हो उठता है। उर्मिला के प्रति पाठक की सवेदना के सदर्भ में सेठी के पैसों का दोष उतना नहीं रह जाता, जितना कि उसकी स्वयं की आंतरिक कमजोरी का। नतीजा यह होता है कि कहानी दोनों छोरों से कट जाती है। एक ओर, चरित्र की स्वाभाविक दिशा विच्छिन्न हो जाती है, और दूसरी ओर यशपाल की मान्यता सदर्भ से बाहर होकर अलग जा पड़ती है।

विचारों का बोझ ढोने के लिए ऐसे ही आत्म-निर्मित चरित्रों की जरूरत पड़ती है। जीवन के तर्क से सचालित चरित्रों में वह लोच कहाँ, जो लाख हथौड़े पड़ने पर भी झुकने का नाम नहीं लेती। हथौड़े टूट कर इतिहास के पन्नों में भद्दे दृश्य-चिह्न भले ही बने रहें, पर जीवन अपनी ही दिशा में, अपने ही तर्कों की धारा में

अथवा रूढ़ि से प्रस्थान होता रहता है। जो इच्छा है, वे उसी धारा के वास्तविक आयामों को नाप करते हैं। और पाठक कभी वे उसे परिवर्तित दिशा में मोड़ने वाला भाव का संकेत कर जाते हैं, और अपना अपनी रचना के मध्य की नींव उन्हीं ठोस आधारों पर रखकर जीवन और जगत् की अमूर्त सम्भावना को रचनात्मक रूप दे जाते हैं।

यशपाल दूसरे छोर से चलते हैं। वे जीवन की वास्तविकताओं के बुद्धिवादी व्याख्याता हैं, इसलिए उनके चरित्र कठपुतलियों की तरह लगते हैं, तो क्या हुआ, देखना यह है कि मंच पर उनका कौशल क्या जादू करता है। इस सिलसिले में यह बात बार-बार दुहरायी गई है, कि पाठकों में वे प्रिय हैं। यह उनका भी कथन यहीं है, और यह ठीक भी है। पोथी और परम्परागत रूढ़ियों से मन आने वाले भिन्न और कामी गरमी की भूलभुलैयां से पाठक ऊब चुका था। उसे जीवन की खोज थी। यशपाल के स्वर ने पाठक के विस्मय के साथ बार बार जीवन की समस्याओं को जोड़ा, और उसकी अपनी ही कमजोरियों और मजबूरियों के आधार पर उसके ही प्रतिरूप मंच पर आये, और रूढ़ परम्पराओं और धार्मिक अंधविश्वासों के कारण हास्यास्पद और प्रताड़ित होते रहे। पाठक इन प्रतिरूपों को जानता था, लेकिन यह कहकर टाल देता था कि 'भाई, यह तो जीवन है। यह तो है ही ऐसा। आदमी करे तो क्या करे! उसके हाथ में है ही क्या!' कहानी पढ़ने वह कुतूहल के लिए आया था, लेकिन यहाँ तो उसे कुछ ऐसा मिला जो पहले उसे अप्राप्य था। वह तालियाँ बजाता रहा, लेकिन दृष्टि उसके पास इस लायक नहीं थी कि वह कठपुतलियों के कंधे में बँधे हुए महीन सूत्रों को देख सके, क्योंकि चमत्कार और कुतूहल के माध्यम ही अब तक उसे जीवन का ख्याल आता रहा था। अब इन कहानियों से निकले नतीजों ने उसे और भी चमत्कृत करना शुरू किया।

'पहाड़ की स्मृति' की पहाड़िन, 'धर्मयुद्ध' के क्लर्क कन्हैयालाल, 'आतिथ्य' के क्लर्क रामशरण, 'अपनी-अपनी जिम्मेवारी' की साधारण मध्यमवर्गीय कन्या प्रभा, 'हलाल का टुकड़ा' के देशप्रेमी रावत और 'तुमने क्यों कहा था कि मैं सुन्दर हूँ' की क्षयरोग से ग्रस्त माया, और जाने कितने ही ऐसे चरित्र यशपाल ने पेश किये जो रचना के स्तर पर कल्पना की बेजोड़ मिसाल हैं इसलिए नहीं कि आदमी ऐसा हो ही नहीं सकता, और यशपाल ने असम्भावनाओं का निर्माण किया, बल्कि इसलिए कि कुछ देर के लिए इमली के पेड़ में आम के फल लगने का-सा प्रत्याभास इन पात्रों ने उपस्थित किया। बात कुछ अजीब-सी लगेगी, लेकिन क्षण-भर विचार करके देखें, तो आकृति को अनुरूप दृश्यपट में रखना और उसे कहीं भी टाँग देने में अन्तर है। अनुरूप दृश्यपट में ही आकृति का सही मूल्यांकन सम्भव है, क्योंकि रंग, टोन और रीच के साथ ही रेखाएँ सम्भावित भाव-बोध उत्पन्न कर सकने में समर्थ होती है। सामान्य प्रत्ययों को उनकी जातिगत विशेषताओं के द्वारा ही नये अर्थों तक ले

जाकर विश्वसनीय अथवा उनकी किसी विशेष प्रतिनिधि अन्तर्धारा के उद्घाटन का माध्यम बनाया जा सकता है। चेखव ने जब 'एक क्लर्क की मृत्यु' में क्लर्क को पात्र के रूप में चुना, तो सही मानों में उसके सामने क्लर्क जाति का समूचा जीवन और उस जीवन का परम्परागत विक्षोभ मौजूद था। यशपाल इन उलझनों में नहीं फँसते। वे किसी भी पात्र के हाथ में एक परिचय-पत्र थमा कर, उससे अपना काम निकलवा लेते हैं। इसे और सफाई से कहें, तो उसे स्वयं के जीवन-धरातल से उठा-कर सामान्य प्रत्यय बना देते हैं, और वह सर्वपरिचित आम की तरह अन्य किसी पेड़ में लटककर जहाँ एक ओर पाठक को चकित करता है वहीं आम के रूप और गुण-सम्बन्धी सहज बोध के कारण बार-बार के छले-छलाये मानव-मन्या के नुस्खे उसकी समझ में आने लगते हैं। सहज ही माना जा सकता है कि जहाँ एक ओर यशपाल ने हिन्दी पाठक की शिक्षा-दीक्षा को देखते हुए अपनी बातें कहने का एक आसान तरीका अपनाया, वहीं इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने गुलामी, अशिक्षा और अन्धकार की राख में अमूर्त और आदर्शवाक्य-सी लगने वाली प्रगतिशील मान्यताओं को काल्पनिक कथानकों का जामा पहनाकर पाठक की उदासीनता की सतह तोड़ी, उसे सजग और सचेत रहने का आधार प्रदान किया।

स्पष्ट ही इन कहानियों का शिल्प निबन्ध का ही होना था, दूसरा हो भी नहीं सकता, क्योंकि लेखक हर पात्र के पीछे तैनात है। इसलिए भूमिका-स्वरूप लम्बे-लम्बे उद्धरणों द्वारा लेखक पहले कहानी का पूरा पट-निर्देश प्रस्तुत करता है और जब पाठक चरित्र की पूरी जानकारी प्राप्त कर लेता है, तो किसी एक कोने से कहानी उठती है, और उसी पट-निर्देश के अनुरूप आगे बढ़ने लगती है। पात्र का अपना निजी जीवन यशपाल के यहाँ विरल है इसलिए कथोपकथन, भाषा अथवा प्रासंगिक वर्णनों में किसी प्रकार की यथार्थगत भिन्नता की आवश्यकता स्वभावत समाप्त हो जाती है। एक ही जीवन के विभिन्न पहलुओं और स्तरों के बोध से भाषा को नयी अर्थवत्ता और नया संगीत प्राप्त होता है। एक ही शब्द अपने अर्थ में कितने ही 'सेइल' खोलता है, और बादल गोलों की तरह छोटे-बड़े होकर कभी फूट जाते हैं, और कभी [illegible] की तरह [illegible] सकते हैं। वस्तुत सृजन का मूल बोध एक ऐसी प्रक्रिया है जो स्तर को [illegible] पर ही प्राप्त होती है। यशपाल अपने को खोकर ऐसी भूलभुलैया में जाने को तैयार नहीं हैं, इसलिए कहानी के स्वयं वक्ता हैं, और आवश्यकता पड़ने ही काव्यमय उपमाओं की झड़ी लगा देते हैं, और पात्र को एकदम भूल जाते हैं। 'पराया सुख' के साधारण पढ़े-लिखे [illegible] की [illegible] के साथ स्टेशन [illegible] पर घूमती उर्मिला का जीवन "एक मस्त मेघ की भाँति मस्त, जो बरस कर पवन में भरे [illegible] था। उस [illegible] की [illegible]-छोटी [illegible] हँसी, लहरी बात, [illegible] की अंगुली से लड़के-लड़के [illegible], [illegible] की मन्थर, गम्भीर और स्थिर [illegible] में भरी हुई ओस की भाँति थी, जो

प्रवाह में गम्भीर चाल से चली जाती है।"

ऐसे ही कितने काव्यमय प्रसंग यशपाल की कहानियों में यत्र-तत्र बिखरे हैं। ऐसा लगता है, जैसे संस्कृत की भावोच्छ्‌वासमयी शैली का प्रभाव उनकी अन्तश्चेतना पर कहीं अंकित है। और कई बार तो ऐसा भी लगता है कि अपनी कलात्मक धारणाओं में भी वे वहीं से बहुत प्रभावित हैं। परम्परागत कथानकों एवं पात्रों को अपनी मान्यताओं के अनुरूप प्रस्तुत करके, उन्हें अपने व्यक्तिगत सौन्दर्यबोध से अनुप्राणित करने वाला हमारा प्राचीन साहित्य नयी यथार्थवादी धारणाओं से मूलतः भिन्न है। स्पष्टतः जहाँ यथार्थवादी मान्यताएँ सामान्य जीवन के अन्तर्मार्ग से सत्यों के खोज की माँग करती है, वहीं हमारा प्राचीन साहित्य वैयक्तिक साधना अथवा आदर्शों से प्राप्त नैतिक मूल्यों के द्वारा जीवन का भाष्य उपस्थित करता है। पचतंत्र की कहानियों में वर्णित जीवन का कोई महत्त्व नहीं, महत्त्व है उन नतीजों का, जो इन कहानियों के नीतिकुशल लेखक श्रोताओं की भलाई के लिए निकालते हैं। अन्तर सिर्फ इतना है कि पशु-पक्षियों का माध्यम अपनाकर वे जहाँ शिल्पगत कुशलता का परिचय देते हैं, वहीं यशपाल आदमी की काल्पनिक कहानियाँ कहकर सामान्य यथार्थ जीवन के मनोविज्ञान के प्रति अपनी उदासीनता प्रकट करते हैं। सामान्य जीवन की पकड़ ढीली होने का सबसे बड़ा प्रमाण यशपाल पौराणिक चरित्रों के मूल्यांकन और प्राचीन कथाओं के पुनर्भाष्य द्वारा खुद देने लगे हैं।

कुल मिलाकर प्रेमचन्द की भाँति यशपाल की रचना-दृष्टि के विकास का एक स्पष्ट और सहज तर्क है। युवा-अवस्था में जिस क्रान्ति की चेष्टा देश के नवयुवकों ने बिना यह सोचे की, कि देश क्रान्ति के लिए तैयार है अथवा नहीं, उसका उत्तर उन्हें यह मिला, कि क्रान्ति के रास्ते में बाधाएँ थीं, कुसंस्कार और धार्मिक अन्धविश्वास थे। बिना इन्हें हटाये, मनुष्य को बिना उसके आर्थिक, सामाजिक परिवेश के प्रति सचेत किये क्रान्ति सम्भव नहीं है। उत्तर नया नहीं था, लेकिन यशपाल इसी को लेकर साहित्य में आ गए। प्रश्न और प्रश्न का सन्दर्भ जीवन वहीं छूट गया, जहाँ था। काश, वे प्रश्नों को लेकर आये होते, तो खुद जीवन और उसकी सारी परिस्थितियाँ और परिवेश भी उसके साथ आ जाते। लेकिन जीवन आता ही कहाँ है? वह तो बुलाता है, और रचनाकार के लिए निमंत्रण बन जाता है। फिर आने की कम और परख लेने का काम भी उसी पर छोड़ देता है।

'चौरासी लाख योनि' जैसी कहानी में जब वे गङ्गाराम और उनकी बहू की कल्पना करते हैं, तो इसलिए नहीं कि वे इस प्रश्न का उत्तर देना चाहते हैं कि मृत्यु के बाद आत्मा का क्या होता है, बल्कि इसलिए कि वे एक जिये हुए और बार-बार के जिये उत्तर की हास्यता प्रस्तुत करते हैं। आत्मा चौरासी लाख योनियों में कहीं भी भटक कर रह सकती है।

यशपाल स्थितियों का निरूपण करके दिखा देते हैं, "भाई, यही क्यों मान लो कि इस कुतिया की पिल्ली ही में गडाराम की माँ की आत्मा आ बसी ?" और तर्क को तनिक और खींचकर कुतिया के पास कुत्ते को बुलाते हैं, और यह स्पष्ट कर देते हैं कि आखिर वह कुत्ता गडाराम का बाप क्यों नहीं हो सकता, तो खिसियाहट सिर्फ गडाराम की पत्नी ही को नहीं होती, वरन् वह कुत्ता इन विश्वासों के कायल कितने ही गडारामों का बाप बन जाता है। यशपाल ऐसी ही साहसपूर्ण और गहरी चोटों से जीवन के विकास के ऊपर छाये हुए पठार को तोड़ना चाहते हैं। जीवन की वास्तविकताएँ तो उनमें कब की छूट चुकी है। लेकिन उनकी रचनाएँ जीवन के लिए हैं। गो, जीवन अभी शोषण की शक्तियों का गुलाम होने के कारण सामान्य आदमी से कभी-कभार मिलने पर उसे भ्रम में डालकर रफूचक्कर हो जाता है। यशपाल खुद उससे मिलने के लिए, उसे बदलने के लिए प्रतिबद्ध हैं। उनकी दृष्टि ने उस खोल को पहचान लिया है, जिसे ओढ़ कर वह लोगों को रिझाता है, भ्रम में डालता है, और फिर उस पठार के नीचे छिप जाता है जिसे तोड़ते रहने का व्रत लेकर वे साहित्य में आये थे; और कहना न होगा कि उन्होंने अपने व्रत का पालन करने में जिस शक्ति, आत्म-विश्वास और निष्ठा का परिचय दिया है, वह हिन्दी ही नहीं, भारतीय भाषाओं में विरल है। ('माया', १९६४)

जैनेन्द्र : कहानी, वहाँ की

"वह सातसमुन्दर-पार जो नीलम का देश है, वहाँ की कहानी है।" जैनेन्द्र के संग्रह में 'नीलम द्वीप की राजकन्या' पहली कहानी है और ऊपर कहा गया वाक्य, पहला ही वाक्य है। यह तो रहा कहानी का स्थान, अब जरा पात्र से मिलिये। "वहाँ की राजकन्या को एकाएक किन्नरी बालाओं का हास-कौतुक जाने क्यों फीका लगने लगा है।" यानी राजकन्या ही नहीं — ऐसी राजकन्या पात्र है, जिसका जी जाने कैसा रहने लगा है!

इस तरह जाने कितनी परतें हैं—प्याज के छिलकों की तरह, जिनके भीतर कहानी का मर्म ही नहीं, पूरा जीवन छिपा हुआ है; और अगर इन परतों को एक-एक कर उतारें और जीवन को खोजें तो अंत में 'सप्तभंगी नय' नाम का न्याय ही काम में लाना पड़ेगा—(१) शायद है, (२) शायद नहीं है, (३) शायद है और शायद नहीं है, (४) शायद अकथित है, (५) शायद है और अकथित है, (६)

शायद नहीं है और अकथित है और (७) शायद है और नहीं है और अकथित है।

राजकन्या को किसी का इन्तजार है। इसलिए वह अकेली हो गई है और इस अकेलेपन के भीषण त्रास में भी वह यह नहीं मानना चाहती कि 'कोई नहीं है'। वह कहती है "जिसके लिए मैं हूँ, वह तो है, वह है। नहीं तो मैं नहीं हूँ।..." 'तू है। नहीं आया, तो भी तू आ रहा है। तू आने के लिए नहीं आता है।"

कहानी के पूरे विवरण के अनुसार राजकुमार राजकन्या के 'नहीं में भी है।' और जब राजकन्या को इस सत्य का बोध हो जाता है तो उसे जीवन की सार्थकता प्राप्त हो जाती है—पर पाठक को तो अब तक राजकुमार की खोज बनी हुई है, और पूछने पर सहसा वह सप्तभंगी न्याय का ही प्रयोग कर बैठता है और चेतना के स्तर पर स्वीकृति की बात उठती है तो वह कहेगा, 'मुझे भ्रम हो गया है। नीलम का द्वीप हो, न हो राजकन्या हो, न हो उसे किसी का इन्तजार हो, न हो; और उसे जिसका इन्तजार है, वह भी हो, न हो लेकिन जो कहानी अभी कही गई है, उससे एक भ्रम की सृष्टि जरूर हो गई है। अगर भ्रम की जगह वास्तविकता अथवा सच्चाई की सृष्टि होती तो राजकुमार होता, राजकन्या होती और होता वह नीलम द्वीप, जिसमें उस राजकन्या के अलावा हम सब भी होते और जान सकते कि आखिर वह राजकुमार कैसा बेवफा है, जो इतनी गहरी मुहब्बत को स्वीकार नहीं करता। अगर राजकुमार न होता तो राजकन्या को इन्तजार न होता, क्योंकि बिना राग के उसका बोध कैसा ? बिना वस्तु के रूप-बोध एक तो सम्भव नहीं, और यदि हो भी तो वह मात्र बोध करनेवाले को होगा और अन्य के लिए बोधगम्यता से परे ही रहेगा या मात्र भ्रम का निर्माण करेगा।

यही भ्रम जैनेन्द्र का अभीष्ट है। क्योंकि वे स्याद्वाद की उपज हैं, इसलिए 'जो वास्तविक है' तो दूर रहा 'जो है' का भी वे सात बार परीक्षण करके उसे भ्रम का रूप दे देते हैं। वस्तुत वे वैचारिक विकास की पूँछ की ओर जाते हुए दिखते हैं। जैन-दर्शन के जिस संशयवाद से उनका निर्माण हुआ है वह स्वयं अपने ही तर्कों की काट नहीं सह पाता। अगर कोई पदार्थ हो, तो वह नहीं कैसे हो सकता है ? और जो अकथित हो वह कहा नहीं जा सकता परन्तु कहा गया है, और अकथित है, यह तो परस्पर-विरोधी कथन हुआ। इस तरह तो जो मिथ्या ज्ञान है, वह भी है, और जो ज्ञान है, वह नहीं भी है।

वस्तुत यह स्थल जैन-दर्शन के विवेचन का नहीं है, न उसकी बारीकियों में जाकर यहाँ आलोचना ही अभीष्ट है। लेकिन इतना जरूर है कि जैनेन्द्र की मरीचिका का मृग यही चिन्तन-प्रणाली है, जिसने उनकी रचना-प्रक्रिया को सर्वाधिक प्रभावित किया है और हथेली पर पैसा रखकर उसे गायब कर देने और फिर मंत्र फूँककर उसे हथेली पर ला रखनेवाले मदारी की तरह उन्हें पाठकों की एक भीड़

में ला खड़ा किया है। वैसे हथेली पर रखे दीये की तो बात दूर रही, उन्हें स्वयं अपनी हथेली पर भी सन्देह है कि वह है या नहीं है।

जैसा हमने अभी ऊपर कहा है कि जीवन की सहज सच्चाइयों को कहानी की वस्तु बनाने का मतलब है, किन्हीं सुनिश्चित नतीजों पर पहुँचना, लेकिन जो संशय-मात्र की सृष्टि ही अपनी रचना का परम उद्देश्य मानता है, उसे एक काल्पनिक जगत् का निर्माण करना होगा। 'नीलम का द्वीप' जैनेन्द्र की कल्पना का वही नगर है—जिससे चलकर वह संशय के सत्य तक पहुँच सकते हैं। यह दूसरी बात है कि हवा में अँगुलियों से बनाया गया उनका यह नगर, कोई नगर न होकर, नगर की कल्पना-मात्र हो, उसकी रेखाएँ धुएँ की हों, और हाथ लगते ही पिघलकर मिट जाती हों, लेकिन है वह कल्पना का नगर और रहेगा कल्पना का। वस्तु-जगत् में तर्क-प्रणाली पर खरा उतरकर किसी भी युग और मानव-विकास के किसी भी स्तर पर विचार बना रहनेवाला तत्त्व-दर्शन ही रचना के लिए ग्राह्य हो सकता है और उसे ही मानव-जीवन के नये रहस्यों के उद्घाटन और अन्वेषण के लिए काम में लाया जा सकता है। नतीजों पर बहस हो सकती है, लेकिन चिंतन-प्रणाली का तर्क-सम्मत होना जरूरी है।

ऐसा नहीं कि वस्तु-जगत् का यह काल्पनिक निर्माण ही इन कहानियों का दोष है, वरन् हिन्दी-कहानी के विकास को देखा जाए तो जैनेन्द्र पहले लेखक होंगे, जिन्होंने अपनी मान्यताओं के लिए कल्पना की एक नयी दुनिया खड़ी की और उसमें रक्त-मांसहीन पात्रों की परछाइयाँ दिखाकर कथानक का ढाँचा खड़ा किया और कथ्य को उसके भीतर से उभारने की चेष्टा की।

काश, जीवन की अमूर्त सच्चाइयों को वाणी देने के लिए—उसे एक रूप देकर अधिक सहज और सम्यक् बनाने के लिए उन्होंने अपनी इस निर्माण-प्रतिभा का उपयोग किया होता। तब शायद 'नीलम का द्वीप' हमारा भी नगर होता और उसकी राजकन्या के स्नेह-भाव में हम हिस्सा बँटा सकते।

बात मात्र जीवन के साथ गहरे तादात्म्य की है। यदि लेखक ने अपनी यात्रा विचार-सूत्रों की ओर से की और जीवन को मात्र एक माध्यम माना तो वह निश्चय ही नकली अनुभूतियों के बल पर काल्पनिक चरित्रों की सृष्टि करेगा, गढ़ी हुई परिस्थितियों को जन्म देगा, निर्जीव भाषा के चमकते हुए वाक्य गढ़ेगा और घुमा-फिराकर अपने वैचारिक नुस्खों को रचना पर लादकर उसे मेकैनिकल और निर्जीव बना देगा।

विचारदर्शी जैनेन्द्र को जीवन के प्रति भारी संशय है। इसलिए जब वे 'रत्न-प्रभा' जैसी कहानी में एक नारी की कल्पना करते हैं तो लगता है, वह मोम की गुड़िया है। कुल मिलाकर हमें इतना ही मिलता है कि उसके पास मोटर है, नौकर है, महल है और रुपये हैं—वह जमुना जाती है और आती है और एक किताब

बेचनेवाले के प्रति सदय हो जाती है। कमाल तो तब होता है, जब वह उसे हटरों से पिटवाती है। फिर उसे घर ले जाती है और नौकर बनाती है, फिर प्रेम-निवेदन करती है। लगता है, जैसे लेखक के पास कोई ऐसी रील है जिसमें वह कथानक को फुर-फुर करके छोड़ता चला जाता है—एक मशीन की तरह। ध्यान देने की बात है कि रत्नप्रभा के मार्ग में कहीं भी कोई बाधा नहीं है। वह प्रश्नों की सीमा में आती ही नहीं। इसलिए दुनियावी स्तर पर वह जो चाह लेती है, वही होता है। ऐसा लगता है कि इस विस्तृत भूभाग में केवल रत्नप्रभा है—जो अन्य हैं भी, वे रत्नप्रभा के लिए हैं। इसलिए रत्नप्रभा के बारे में सदाय पैदा होना है और तनिक-सी गहराई में उतरने पर लगता है कि—अरे, यह तो जैनेन्द्र ने अपनी कल्पना को ही एक दूसरा नाम दे रखा है! लेकिन क्या कल्पना एकदम स्वच्छन्द है? उत्तर अगर हाँ में दिया जाए तो जीवनानुभव को आदमी से अलग करके ही ऐसा कहा जायगा। जितना ही जीवनानुभव कम होगा, कल्पना उतनी ही निरंकुश होगी। सूर्य को लीलने के लिए उद्यत बालक हनुमान की कल्पना हमारे मन्तव्य को कितना स्पष्ट कर देती है! जैनेन्द्र की कल्पना (रत्नप्रभा) ऐसी ही अवास्तविक और नकली है, जो अपने रचनाकार को एक तरुण दिवा स्वप्नदर्शी बालक की बगल में ला बैठाती है।

जीवन-दर्शन की निर्जीव सूत्रात्मकता को कल्पना द्वारा एक सीमा तक ही नया जामा पहनाया जा सकता है। जहाँ रचना की प्रतिज्ञा में जीवन का सागर नहीं लहराता, वहाँ कल्पना व्यक्ति-मन की उड़ानों के पंख पर चढ़कर कुछ देर भले नयी बनी रह सके, लेकिन अन्ततः उसे बसियाना ही पड़ेगा और लेखक पुनरावृत्ति के द्वारा रचना-प्रक्रिया में एक सेट चरित्रों, एक सेट घटनाओं और सीमित सम्वेदनाओं का विक्रेता बनकर रह जायगा। फलतः नवीनता की खोज में वह बहुत दूर जायेगा तो कभी ट्रिक, कभी भाषा की सृष्टि करके अपने पाठक को विस्मय बनाये रखने की कोशिश करेगा। 'पाजेब' और 'अपना-पराया' जैसी रचनाओं में लेखक इसी आँख-मिचौनी वाली पद्धति द्वारा कहानी बुनता है। लेकिन अगर आप पाठक हैं तो यह मानकर कहानी के इस खेल में हिस्सा लीजिये कि चोर हमेशा आप होंगे और जैनेन्द्र कभी आपकी पकड़ में नहीं आयेंगे। बाल-मनोविज्ञान की बारीकियों में घुमाकर वे छोटे बच्चे को नायक बनाते जायेंगे और आपको इस बात का विश्वास दिलाते रहेंगे कि पाजेब बेचकर बच्चे ने पतंग खरीदी है। लेकिन अन्त में जब आपकी आँख खुलेगी तो देखेंगे कि पाजेब तो बुआ की जेब में पड़ी है। 'अपना-पराया' में भी यह बात और भी कच्चे और निराधार सतही स्तर पर सामने आती है। जब बरसों बाद लड़ाई से लौटे हुए सरदार को सराय में अपनी ही पत्नी और बच्चा दिख जाते हैं—उस समय वह उनका स्वांग देखकर उदास ही होता है।

जैनेन्द्र आत्मप्रक्षेपण करते हैं—कभी-कभी सभी लेखक रचना में इस [illegible]

का प्रयोग करते हैं। इसी कारण किसी रचना और रचनाकार का व्यक्तित्व बनता है। एक रचना दूसरी रचना से भिन्न भी इसी कारण हो पाती है। जीवन के नये-नये सत्य और सच्चाइयों के नये-नये स्तर तोड़ने में भी लेखक के इस 'आत्म' का महत्त्वपूर्ण योग होता है। लेखक भाव-अनुभाव को रूप देकर कठोर सच्चाइयों के निकट ले जाने और उसे अधिक स्पष्ट और प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कभी-कभी आत्म-प्रक्षेपण द्वारा ऐसे निर्माण भी करने लगे हैं, जो वैयक्तिकता की गहरी छाप के कारण दुरूह हो उठते हैं। लेकिन जीवन ही इतना सहज कहाँ है ! सहजीकरण के नारे ने कला और साहित्य के आगे जो लक्ष्मण-रेखा खींच रखी थी, वह टूट रही है और नया लेखक सच्चाइयों के नये-नये स्तर तोड़ने की ओर उन्मुख है। स्पष्टत उसकी दृष्टि के पीछे जीवन का सहज दर्शन है, जो मनुष्य को सामाजिक विकास के पूरे संदर्भ में रखकर निरन्तर परिवर्तित होनेवाली सामाजिक सच्चाइयों के प्रकाश में देखता है। इसलिए उसके 'सेल्फ प्रोजेक्शन' में आदमी एक बड़े भुनगे का रूप पाकर भी अधिक जीवन्त और प्राणवान् बन जाता है, क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों की क्रिया-प्रतिक्रिया के लिए वह अधिक उद्‌घाटित हो जाता है। परम्परा की राख में दबे-छिपे भावों की वास्तविकताएँ नंगी और वस्तु-सत्य की तरह कठोर हो उठती हैं। अत्यधिक सम्बन्धों के ऊपर से रूमानी परदा जैसे आप ही खिंच जाता है। लेकिन वह भुनगा क्या भुनगा है ? काफ्का की 'मेटामार्फोसिस' में उसे कितनी सहज और शुद्ध मानवीय भाव-प्रक्रिया मिली है, यह कहने की बात नहीं। अपनी बहिन और माँ के सूक्ष्मतम भावावेगों के प्रति उसकी सजगता पर सैकड़ों मनुष्य निछावर किये जा सकते हैं और संगीत के प्रभाव से उसे संवेदित, और अपनी बहिन के कला-दर्शन के प्रति नासमझों की उपेक्षा से क्षुब्ध होते देखकर तो लेखक की गहरी समझ और जीवन की सहज सच्चाइयों के प्रति महान् आस्था का लोहा मानना पड़ता है।

जैनेन्द्र, आत्मप्रक्षेपण द्वारा अगर काल्टी को कुआँ कहने तो भी उसके परीक्षण की गुंजाइश होती। वे तो आँखों में धूल झोंकते हैं और गम्भीर मुद्रा में कहते हैं कि, "जो आप देख रहे हैं, वह है भी, और नहीं भी है और फिर वही 'सप्तभंगी नय' ! फलत. सामने आता है एक भ्रम और वह भी कल्पना के पर्दों पर चढ़ा हुआ, और सारी रचना-प्रक्रिया को अवास्तविक और कोरी गढ़ी हुई बनाकर कहानी को कहीं की बना देता है, जहाँ 'शायद' है और हम दुनिया में रहनेवालों के लिए यह 'शायद' भ्रम का बेटा है।

('नयी कहानियाँ', '६२)

अज्ञेय : शेखूपुरे के शरणार्थी

"हर व्यक्ति अद्वितीय है, हर चेहरा स्मरणीय। सवाल यही है कि हम उसके विशिष्ट पहलू को देखने की आँखें रखते हों।" 'खितीन बाबू' को अज्ञेय शायद इसी निगाह के कारण प्राप्त कर सके हैं। लेकिन हमारे मन में बार-बार एक सवाल उठता है कि क्या सचमुच बस यही एक सवाल है? उत्तर शायद 'हाँ' में ही होगा, और अगर 'नहीं' में भी हो तो इतना मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि यह एक अहम सवाल है, रचना के निर्माण के लिए; और चूँकि यहाँ कहानी के दायरे में ही बात करनी है और अज्ञेय ने व्यक्ति को देखने की बात कही है, इसलिए उसे और भी केन्द्रित करके हम चरित्रांकन तक ही सीमित रखेंगे।

असल में जो सबको दिखायी देता है, वह कहानी का पात्र नहीं है—कहानी का पात्र तो सिर्फ वह है जो कथाकार को दिखायी दे।

खितीन बाबू को कितने ही लोगों ने देखा होगा, लेकिन सबने तो कहानी नहीं लिखी, लिखी मात्र अज्ञेय ने, और सिर्फ इसलिए ही नहीं कि खितीन बाबू के हाथ-पाँव लगातार दुर्घटनाओं के कारण कटते गए और कहानी में, एक समय पर पहुँचकर कटी हुई बाँहें भी कन्धे तक कट गई और "शरीर के अवयव जितने ही कम होते गए, उनमें आत्मा की कान्ति मानो उतनी ही बढ़ती गई,' बल्कि इसलिए कि "रोटी, कपड़ा, आसरा हम चिल्लाते हैं, निःसन्देह जीवन के एक स्तर पर ये सब निहायत जरूरी हैं, लेकिन मानव-जीवन की मौलिक प्रतिज्ञा ये नहीं हैं, वह है केवल मानव का अदम्य, अटूट संकल्प..." इस तरह कुल मिलाकर सब-कुछ विचित्र रहा खितीन बाबू के साथ। नायक बनने की सारी विचित्रताएँ एक जगह इकट्ठी कर दी अज्ञेय ने। वैसे भी, अगर सड़क पर इतना बड़ा क्षत-विक्षत योद्धा दिखायी पड़ जाए तो आप उसके पीछे किसी कहानी की कल्पना जरूर कर लेंगे और अगर उसके विचार जानने का मौका भी लग जाए कि दो हाथों में से एक अतिरिक्त है, इसलिए इस भार को साथ रखने से फ़ायदा क्या, तो शायद आप अपना हाथ भी कटाने को उत्सुक हो उठें। पर, भाईजान, अगर आप आदमी हैं और समाज में जीवन व्यतीत कर रहे हैं तो इन सारी विचित्रताओं को देखते ही एक बात आपके मन में उठेगी—बेचारा, भला, काम कैसे करता होगा? खाता क्या होगा? कौन होगा इसके आगे-पीछे?...

यहीं हम आपसे पूछेंगे कि आखिर ये प्रश्न क्यों? किसी कनकटे को देखकर आप यह नहीं सोचेंगे, दूसरी ही बातें आपके मन में आयेंगी, पर हाथ-पाँव के साथ

आपकी इतनी ममता क्यों है ? शायद उत्तर वही है जो अज्ञेय का 'हम' सोचता है, 'रोटी, कपड़ा और आसरा'; लेकिन उनका 'मैं' पीछे-पीछे दुम दबाये, अपनी आँखें माथे पर चिपकाये आता है और कहता है, 'ठीक है, लेकिन मानव-जीवन की मूल प्रतिज्ञा यह नहीं है।'

सतह और आग्रह की सच्चाइयाँ कभी मानव-जीवन की सच्चाइयाँ नहीं बन पातीं—सफल कलाकार कभी भी इस सदर्भ में इतनी हलकी बात कह गुज़रने का ख़तरा मोल नहीं लेगा, न वह खितीन बाबू की पीठ से एक लाल निशान ही बाँध देगा। आरोपित आग्रह रचनाकार के विचारों का परिचय ज़रूर देते है, पर वे रचना ही में क्यों आयें ? उनके लिए भाषण और लेख का माध्यम क्या बुरा है ? बेचारे खितीन बाबू अच्छे-भले आदमी भी हो सकते थे। ऐसा भी सम्भव हो सकता था कि उन्हें प्यार करने वाला कोई ऐसा व्यक्ति कहीं बैठा हो या उनके स्वर्गीय बाप ही उनके लिए तीन लाख का बैंक-बैलेंस छोड़ गए हों, जिससे अंग-पर-अंग कटते जाने पर भी वह उत्साहित नज़र आते हैं और उनके मुख-मण्डल की दीप्ति उभरती आती है। लेकिन लेखक अपनी ओर से उनके अदम्य, अटूट सकल्प की सफाई देते हुए यह बताने में भी नहीं चूकते कि खितीन बाबू एक साधारण क्लर्क थे। इतना जानते ही पाठक के सामने से लेखक का रचा हुआ सारा भ्रम-जाल क्षण-भर में टूट जाता है और अब तक का सारा पात्र-परिचय नकली लगने लगता है। आखिर यह आया कहाँ से उत्साह, कैसे खितीन बाबू को वह दफ़्तर बरदाश्त रहा, जिसमें क्लर्क का अर्थ होता है कुछ लिखने का काम करने वाला ? दोनों पैरों के बग़ैर खितीन बाबू भला दफ़्तर कैसे पहुँचते रहे होंगे और कैसी, कितने रुपयों की क्लर्की थी वह ? आदि...पाठक के लिए बहुत-सी बातें उठ खड़ी होती हैं, क्योंकि वह जीवन की सच्चाइयों का भोक्ता है। इसलिए शायद हवा पीकर अदम्य-अटूट सकल्प रखने वाले की कल्पना भी वह नहीं कर सकेगा।

चरित्रों के लिए सच्चाइयाँ इसी तरह विचित्र और भयावह हो उठती हैं, अगर उनका रचनाकार उनकी सहज प्रकृति का भोक्ता अथवा जानकार नहीं है।

अज्ञेय की कई कहानियाँ पढ़ते-पढ़ते मन में यह विचार बार-बार आया कि लेखक की अपनी विशेषता क्या है ? 'परम्परा' में कभी 'सिगनेलर' पढ़ी थी। 'सन्ध्या' की सहजता आज भी वैसी ही मन में व्याप्त है, पर जाने क्यों, दिन-पर-दिन अज्ञेय का रचनाकार जीवन और जगत् की ओर से उदास होता चला गया और 'कलाकार की मुक्ति' तक पहुँचते-पहुँचते उसमें इतनी असमर्थता आ गई कि वह किंवदन्तियों और पौराणिक कथाओं के शिल्प पर उतर आया। संभव है, जीवन की सहज गति से रचनाकार का व्यक्तित्व किनारे पड़ गया हो, अथवा विचारों के दुरूह, अस्वाभाविक प्रतिमानों के कारण मन की वे परतें ही मुरझा गई हों, जिनपर सच्चाइयों के अक्स आकर नक्श होते हैं अथवा वैयक्तिक कुंठाओं ने

अपने पात्रों और एक ऐसा मौन ओढ़ लिया हो कि सब-कुछ में उसे अपने आरोपों की मर्यादाएँ कितनी सही हों, कुछ ठीक कह पाना मुश्किल लगता है क्योंकि संयोग की बात है कि 'ये तेरे प्रतिरूप' की कहानियाँ पढ़ते हुए मेरी मुलाकात उस 'शेखूपुरे' के शरणार्थी से भी हुई, जिसे मैं इधर भूलने-सा लगा था। शरणार्थी उस समय बहुत-से देखे थे और गरम उबलती हुई कलमों से साम्प्रदायिक दंगों के बयान भी पढ़े थे, पर 'शरणदाता' की 'जेबू', 'लेटरबक्स' का बच्चा 'रोशन', 'बदला' का 'सरदार' और 'मुस्लिम-मुस्लिम भाई-भाई' की वह स्पेशल ट्रेन, जो सकीना, अमीना और जमीला को प्लेटफॉर्म पर छोड़कर दहाड़ती हुई चली गई थी, आज भी मन में एक लकीर की तरह खिंची रह गई है।

यह सच है कि अज्ञेय तब भी भोक्ता नहीं थे, लेकिन उनका कलाकार यथार्थ के सजग सम्पर्क में था। शिल्प की सहजता का हाथ से छूट जाना भी रचना की असफलता का बहुत-कुछ कारण बन जाता है। आदर्श तब भी उनके अपने ही थे और आँखों की रोशनी भी वही थी, पर तेज और इतनी कि जब 'शरणदाता' के देविन्दरसिंह को भोजन में विष भेजा और उसकी लड़की 'जेबू' ने रोटियों में खत छिपा दिया और देविन्दरसिंह ने पत्र के अनुसार लाचार होकर उस भोजन को अपनी पालतू बिल्ली के आगे डाल दिया, तब जरा लेखक का यह वर्णन देखिये—

"सहसा बिलार जोर से गुस्से से चीखा और उछलकर गोद से बाहर जा कूदा, चीखता गुर्राता-सा कूदकर दीवार पर चढ़ा और गैराज की छत पर जा पहुँचा। वहाँ से थोड़ी देर तक उसके कानों में अपने-आप से ही लड़ने की आवाज आती रही। फिर धीरे-धीरे गुस्से का स्वर दर्द के स्वर में परिणत हुआ, फिर एक करुण रिरियाहट में, एक दुर्बल चीख में, एक बुझती हुई-सी कराह में, फिर सहसा चुप हो जानेवाली लम्बी साँस में..."

पात्रों के कथोपकथन और चरित्रों के बारीक, भिन्न पहलुओं को थोड़े-से शब्दों में उभारने की कला को देखना हो तो 'नारंगियाँ' देखें—दो भिन्न मानव-चरित्र अपनी सारी सहजता के साथ कहानी के शिल्प को पूर्णता तक ले जाते हैं। आसानी से पाठक यह सोच भी नहीं सकते कि अज्ञेय निचली सतह के जीवन से इस सीमा तक परिचित हैं।

यहाँ दो भिन्न कहानियों का उल्लेख जरूरी है। एक है 'देवीसिंह' और दूसरी 'हजामत का साबुन'।

'देवीसिंह' के मि० अस्थाना के इस वाक्य से अज्ञेय कहानी बुन लेते हैं कि "एक आदमी का स्ट्रगिल कोई माने नहीं रखता, असल चीज वर्गों का संघर्ष है।" लेकिन इसका तात्पर्य शायद, उनके नजदीक यह है कि सामूहिक संघर्ष की बात को प्रधानता देने वाला खुद संघर्ष करता ही नहीं। असल में बात बेहद हैक्नीड है और निहायत पिटे-पिटाये ढंग से अज्ञेय ने कहानी शायद इसलिए बुनी

है कि अस्थाना की इस साम्यवादी फैशनपरस्त बात का उन्हें विरोध करना है। भीख माँगना या देना कोई ऐसा प्रतिमान नहीं हो सकता, जिससे वर्गों के संघर्ष की बात का खंडन हो सके। अस्थाना का भीख देने से मना करना और लेखक का दुअन्नी दे देना, दोनों ही बातें इस कहानी के आधार में कोई अवदान नहीं करतीं। यह सही है कि सामाजिक जीवन और व्यवस्था को गहराई से समझने वाले के लिए भीख देना, फिर उसके लिए अपने को उदार समझ लेना और दया से आर्द्र हो लेना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। उसका ध्यान तो भीख माँगने वालों की मूल समस्या पर रहता है। बेचारी गाँव में बैठी एक ठकुराइन बुढ़िया रोज ही इस बात की डींग मारा करती है कि आज तक उसके दरवाजे से कोई भिखारी खाली हाथ नहीं लौटा। हाँ, अगर देवीसिंह, जिसे भीख देने के लिए अस्थाना मना करते थे, वही अब अखबार बेचना और खरीदारों की रुचि की आलोचना भी करता है, तो निस्सन्देह उसने व्यक्तिगत स्ट्रगिल किया है और रुचि के कर्म के मर्म तक पहुँच सका है। काश, वह किसी दिन अस्थाना की पार्टी के किसी जुलूस में आगे-आगे झंडा उठाये नारा लगाता दिख जाता तो शायद अस्थाना की इस सतही बात के मुँह पर जोरों का तमाचा लगता और लेखक के मन्तव्य के साथ ही, कहानी का स्तर भी ऊँचा हो जाता। लेकिन देवीसिंह तो अज्ञेय का मानव-पात्र है। ऐसा करने पर उसकी पात्रता ही नष्ट हो जाती, क्योंकि वह वास्तविक हो उठता और स्वतन्त्रता का स्वाधीन और यथार्थ रूप देखने के लिए मात्र नजर नहीं, एक नजरिया भी चाहिए।

हैरत की बात है कि अज्ञेय ने जहाँ भी एक राजनीति का विरोध किया है, वहीं एक दूसरी कमजोर राजनीति ने जन्म लेकर उनकी रचना को पंगु और प्रचारात्मक बना दिया है। वस्तुतः वे राजनीतिक सन्दर्भों को अपनी रचना-प्रक्रिया में समेट ही नहीं पाते और भावुकतापूर्ण बातों को आधार बनाकर चरित्रों को तोड़-मरोड़ देते हैं। लेकिन जहाँ वे आग्रहों से मुक्त होकर अपने व्यक्तित्व को चरित्र और उसकी रचना-प्रक्रिया से अलग कर लेते हैं वहीं उनकी रचना उत्कृष्ट हो उठती है। 'हजामत का साबुन' उन्हीं कुछ-एक रचनाओं में से एक है। फिर भी वह चरित्रों के चयन में, जाने क्यों, इस बात की सख्त जरूरत समझते हैं कि उन्हें कहीं-न-कहीं सामान्य मनुष्य से अलग तरह का ही चित्रित किया जाय। यह तो बहुत पुरानी और स्टेल-सी परिपाटी है कि 'टाइप' ही को कथा-नायक बनाया जाय।

वस्तुतः कथा-नायक के चुनाव का यह अत्यन्त प्रारम्भिक ढंग है। शायद ख्याल यह होगा इसके पीछे कि व्यक्ति की असाधारण-सी विशिष्टता लोगों को आकृष्ट कर लेगी और कहानी सुगठित हो जायगी। बहरहाल, 'हजामत का साबुन' के नायक में इतनी ही विशिष्टता है कि वह कोट-पैंट पहनकर दुकान पर बैठता है।

कहानी में इतना ही है लालाजी अपने नौकर को पीट रहे हैं, सिर्फ इसलिए
जब उनका लड़का लापता हो गया था तो उसने उन्हें फोन क्यों नहीं कर दि
और कथाकार मारे आवेश के दुकान तक पहुँच अपनी प्रतिक्रिया को खून के
की तरह पी रहा है। बड़ी गहराई से लेखक ने मनुष्य की संस्कारगत, वर्गगत
समाजगत लाचारी का चित्रण किया है—"यह लाला जैसे इन्सानियत के घावों
जमा हुआ कच्चा खुरट है, जिसके सम्पर्क में आने की बात ही घिनौनी जान पड़
है।..." लाला के हाथों बालक नौकर को पिटते देखकर लेखक की प्रतिक्रिया इत
ही नहीं। जब लाला नौकर को पीटना बन्द करके उससे पूछता है कि, "हाँ, सा
आपको क्या चाहिए ?" तो लेखक प्रत्यक्ष कुछ नहीं बोलता, लेकिन मन में कह
है, 'मुझे ? अच्छी तश्तरी पर रखा हुआ तुम्हारा कटा हुआ सिर...'

इतने पर भी समाज की विषमता और व्यवस्था की हीनता ने लेखक क
जबान बन्द कर रखी है—कौन इसमें बोलकर हंगामा खड़ा करे और एक नयी बल
मोल ले ! यह तो राह-चलते झगड़ा मोल लेने की बात हुई। पूँजीशाही में अपनी
सुरक्षा, अपना लाभ, अपनी गति सबको प्यारी है, क्या लेना है मुझे किसी से ? जिससे
लेना है, वही माई-बाप है—अज्ञेय ने इस सच्चाई की तहें उधेड़कर उसे नंगी कर
दिया है। नौकर को नौकरी प्यारी है, इसलिए इतना पिटने पर भी वह लाला को
'माई-बाप' ही कहता है और स्वयं लाला, जिसे दर्शक लेखक की जेब प्यारी है, उसे
कुछ उदास और नाराज देखकर बगलें झाँकने लगता है और कहता है, "जो भी हो
मा'ब, आप बिना कुछ लिये न जायें, नहीं तो मुझे बड़ा मलाल रहेगा।" लेखक ने
पूरी परिस्थिति की विडम्बना को इस दुहरे आघात से और भी जटिल बना दिया
है, जब वह अपने ही अन्दर कुछ खरीदने का बहाना निकालता है और चाय का एक
छोटा-सा पैकेट और हजामत का सस्ता साबुन माँग बैठता है। सबेरों का क्षणिक
तनाव इस समाज में कितनी बेमानी है और इसे बेमानी बनाने वाली शक्तियाँ किस
तरह कहीं-न-कहीं एक-दूसरे के आसरे के लिए लाचार हैं !

कुल मिलाकर, एक तरह का अजीब तरह का मिला-जुला प्रभाव इस संग्रह
की कहानियाँ मन पर छोड़ जाती हैं। विचार, शिल्प और वस्तु की दृष्टि से इनमें
इतनी भिन्नता है और स्तर में इतनी असमानता कि सहसा इन्हें एक ही लेखक
की कृतियों के रूप में पढ़ते हुए उसे पहचान पाना भी मुश्किल हो जाता है। कारण
बहुत साधारण है—'शरणार्थी' (१९४८) की कहानियाँ, 'परम्परा' (१९४४) से
'प्रेम और देव' (१९३७) 'बन्दों का सूत, सूत के बन्दे' (१९४१) और 'हरिणा
और जीवन—एक कहानी, (१९३७) तथा कुछ इधर की लिखी हुई कहानियाँ, सब
एक जगह आ मिली हैं। इस तरह इस संग्रह की कहानियों के लेखन का समय अज्ञेय
के समूचे रचनात्मक जीवन के सबसे विस्तार में फैला हुआ है, जिसमें जितने ही
मोड़ हैं, जितनी ही अन्तर्धाराएँ हैं, जो एकसाथ एक-दूसरे को काटती चली जाती हैं।

नयी कहानी : एक पर्यवेक्षण

उपेन्द्रनाथ अश्क

"नयी कहानी में वस्तु और प्रकार की कोई सार्थक उपलब्धि है ?" इस प्रश्न को लेकर पिछले दिनों इलाहाबाद-रेडियो में एक परिसंवाद ब्रॉडकास्ट हुआ। जिन 'नये' कथाकारों ने उसमें भाग लिया, उनके नाम हैं—इलाचन्द्र जोशी, भगवती-चरण वर्मा, यशपाल, अमृतराय, विजयदेव नारायण साही और अश्क...। इन नामों का उल्लेख मैंने इसलिए किया है कि जब मुझसे परिचर्चा में भाग लेने के लिए कहा गया था और मुझे नामों का पता चला था तो मैंने आपत्ति की थी कि इनमें नये कथाकारों का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई नहीं, पुराने कथाकार 'नयी कहानी' का अस्तित्व या उपलब्धि कुछ मानेंगे नहीं और यह सेमिनार 'नयी कहानी' के सम्बन्ध में पुराने कथाकारों के विपरीत फतवों पर खत्म होगा।

और यदि सेमिनार वाले दिन स्थानीय नये कथाकारों ने आदरणीय जोशीजी को कॉफी-हाउस में घेरा न होता तो बात वही होती, जिसका मैंने उल्लेख किया। सेमिनार से आध-एक घंटा पहले जब मैं पहुँचा तो रेडियो के लॉन में बिछे कोचों पर सेमिनार में भाग लेने वाले आदरणीय कथाकार बैठे थे। *यशपाल अभी पहुँचे न थे और शेष इस बात पर आश्चर्य प्रकट कर रहे थे कि आखिर यह 'नयी कहानी'* है क्या ! उन्हें उसके अस्तित्व तक से इन्कार था, पर जब सेमिनार के लिए सब अन्दर स्टूडियो में गये और जोशीजी ने एनाउंसमेंट देखा—'नयी कहानी में वस्तु और प्रकार की...' तो बोले—इसमें तो 'नयी कहानी है', यह मानकर ही चला गया है। हमें केवल यह देखना है कि उसकी वस्तु और प्रकार की कोई सार्थक उपलब्धि *है या नहीं। अपने उद्घाटन-भाषण में उन्होंने यही बात दोहरायी और बायीं ओर बैठे सज्जन से कहा कि आप शुरू कीजिये।*

उन सज्जन ने कहा कि नयी कहानी प्रेमचन्द की 'कफन' से ही शुरू हो गई थी। और तब से लेकर आज तक 'नयी' कहानियाँ सदा लिखी जाती रही हैं। उन्होंने नयी वस्तु और शिल्प का उल्लेख कर, राजेन्द्र यादव की *'अभिमन्यु की आत्महत्या' के नितान्त प्रयोगात्मक प्रयास तक बात को पहुँचा, बाईं ओर बैठे दूसरे सज्जन की ओर विषय को ठेल दिया।* उन दूसरे सज्जन ने 'अभिमन्यु की आत्म-

हत्या' या किसी दूसरे प्रयोग पर दाद देने के बदले अपने सामने बैठे गलमुच्छों वाली मोटे स्वर में उन्होंने अपनी पुरानी बहस का उल्लेख किया कि वे नयी कहानी के अस्तित्व को नहीं मानते, जब कि मैं मानता हूँ। किन्हीं किसी नयी कहानी या प्रयोग का उल्लेख किये उन्होंने कहा कि वे नयी कहानी की उपलब्धि से इनकार करते हैं। तीसरे महानुभाव ने इसी बहस का उल्लेख किया जो वे लखनऊ में उन दूसरे साहब से किया करते थे (और यदि उन्होंने एक भी नयी कहानी न पढ़ी थी) दुर्भाग्य, कुछ कहानी के आचार्यत्वपूर्ण शब्दों और कुछ पुराने-पुराने जमाने के किन्हीं अच्छी कहानियों का उल्लेख कर इधर-उधर की बातों में दो के बदले आठ मिनट लगा दिए (यह तय था, पहले दौर में सब लोग दो-दो मिनट बोलेंगे, फिर दूसरे दौर में सब को दो-दो मिनट दिये जायेंगे) और बड़े जोर से कहा कि नयी कहानी की कोई सार्थक उपलब्धि वे नहीं मानते। चौथे ने उनका समर्थन किया कि उनकी समझ में नहीं आता, नयी कहानी में नया क्या है। उन्होंने प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ गिनायीं और पूछा कि वे कैसे नयी नहीं हैं? और नये कथाकारों की आठ-दस कहानियों के नाम लिये और पूछा कि वे कैसे नयी हैं? दीक्षित साहब ने उनका उत्तर देने के बदले नयी कहानी के मानवीय पक्ष का उल्लेख कर यह दर्शाया कि उन्होंने कम-से-कम दो 'नयी' कहानियाँ—कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' और शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' ध्यान से पढ़ी हैं।...इसी सब में सारा समय समाप्त हो गया। तब आदरणीय जोशीजी ने, जो बहस सुनने के बदले घड़ी और मानचित्रों की ओर देखते रहे थे, उसको खत्म करने का संकेत किया और परम उल्लास से घोषणा की कि आज के परिसंवाद से वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि नयी कहानी की उपलब्धि खूब घनी और सार्थक है और सभी उपस्थित जन उससे परम सन्तुष्ट हैं।...और जब रेडियो की सामग्री खत्म हो गई तो रेडियो के सम्मान्य श्रोताओं ने ऐसे सफल और मनोरंजक परिसंवाद पर उन्हें ढेरों बधाइयाँ दीं।

मन की बात कहूँ तो ऐसा हास्यास्पद और निरर्थक परिसंवाद मैंने कभी नहीं सुना। सो भी जिन महानुभाव ने नये कहानीकारों की आठ-दस कहानियों का उल्लेख कर पूछा था कि वे कैसे नयी हैं, और कैसे प्रेमचन्द से आगे हैं, उन्होंने एक आधारभूत प्रश्न उठाया था और मेरे ख़याल में उस पर पूरी तरह विचार करके उस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए था।

जहाँ तक हिन्दी की नयी कहानी के आरम्भ और विकास का सम्बन्ध है, 'नयी' के नाम को लेकर यहीं एक प्रश्न नहीं, प्रश्नों की एक शृंखला सामने आ खड़ी होती है।

नयी कहानी का आरम्भ कहाँ से माना जाय? क्या प्रेमचन्द के यहाँ नयी कहानी नाम की कोई चीज़ है?

यदि प्रेमचन्द को पुरानी कहानी का प्रतिनिधि माना जाय और उनसे भिन्न

—मनोवैज्ञानिक यथार्थ—विशेषकर सेक्स को लेकर जो कहानियाँ उन्हीं के समय में लिखी जाने लगी थीं, उन्हें 'नयी' की संज्ञा दी जाय तो क्या इस दृष्टि से जैनेन्द्र और अज्ञेय नये कहानीकार नहीं हैं ? क्योंकि प्रेमचन्द की तुलना में इन दोनों की कहानियाँ वस्तु और शिल्प के लिहाज से एकदम भिन्न हैं।

यदि इन दोनों को भी पुराने कहानीकार माना जाय तो क्या यशपाल से नयी कहानी का आविर्भाव हुआ ? क्योंकि यशपाल के यहाँ वस्तु और उसे देखने वाली जो दृष्टि है, वह पहले तीनों के यहाँ नहीं है।

और फिर अमृतराय...? (जिन्होंने 'आह्वान' को छोड़कर शायद कोई भी कहानी पुराने शिल्प में नहीं लिखी और सभी तरह के प्रयोग किये।

यदि इन सबको ही 'पुराने कथाकार' मान लिया जाय तो नयी कहानी 'किसां या 'किनसे' शुरू हुई ? नयी कविता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहा जा सक है (सप्रमाण) कि उसे शमशेर और प्रभाकर माचवे ने शुरू किया, मुक्तिबो और नेमीचन्द जैन ने उसके समारम्भ में योग दिया और अज्ञेय ने उसका समन्वि रूप प्रस्तुत किया (नामों के आगे-पीछे के बारे में विवाद हो सकता है, पर मू बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता।) क्या 'नयी कहानी' के सम्बन्ध में भी को ऐसी बात कही जा सकती है ?

घूम-फिरकर वही दो प्रमुख प्रश्न फिर सामने आते हैं :

१. क्या प्रेमचन्द के यहाँ भी कुछ ऐसी कहानियाँ नहीं, जो उनके सतत प्रगतिशील और जागरूक कथाकार ने अपने अन्तिम दिनों में लिखीं, जो हर लिहाज से उनकी पुरानी आदर्शोन्मुख कहानियों से भिन्न हैं और जिन्हें 'नयी' की संज्ञा, वस्तु और शिल्प दोनों के लिहाज से, दी जा सकती है ? मिसाल के लिए 'नशा', 'बड़े भाईसाहब', 'मनोवृत्तियाँ' और 'कफन'।

२ इसके विपरीत क्या आज के कथाकारों के यहाँ कुछ ऐसी कहानियाँ नहीं हैं, जिनमें चाहे कुछ खूब उच्च कोटि की हैं, लेकिन शिल्प और शैली के लिहाज से पुरानी कहानी से भिन्न नहीं ? उदाहरण के लिए मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक', राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', शिवप्रसाद सिंह की 'नन्हों', मार्कण्डेय की 'गुलरा के बाबा', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', अमरकान्त की 'डिप्टी-कलक्टरी', कृष्णा सोबती की 'सिक्का बदल गया', कमलेश्वर की 'देवी की माँ' आदि...आदि...।

रेडियो के उपर्युक्त सेमिनार में उठाये गए प्रश्न ही क्या नहीं, इन सभी प्रश्नों का कोई-न-कोई उत्तर दिये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते।

जहाँ तक शिल्प और वस्तुगत प्रयोगों का सम्बन्ध है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये प्रयोग निश्चित रूप से (बदलते हुए राजनैतिक और सामाजिक मान्यता के कारण) प्रेमचन्द के यहाँ आरम्भ हो गए थे और प्रेमचन्द की उपर्युक्त चार

कहानियाँ मेरे इस कथन का प्रमाण हैं। 'कफन' और 'बड़े भाईसाहब' में पात्रों का चरित्र-चित्रण, कथा की कथानकहीनता और यथार्थ की पकड़ आज की किसी भी नयी कहानी की उपलब्धि मानी जा सकती है।

लेकिन इस पर भी 'नया' सब-कुछ प्रेमचन्द के यहाँ ही समाप्त नहीं हो गया। जैनेन्द्र ने 'बड़े भाईसाहब' की मनोवैज्ञानिकता को दूसरे धरातलों पर (और भी गहरे पैठ कर) उठाया। जैनेन्द्र की 'अपना पराया', 'फाँसी' अथवा 'पाजेब' आदि पुरानी तरह की कहानियाँ हैं, लेकिन 'राजीव और उसकी भाभी', 'बिल्ली बच्चा', 'एक रात', 'नीलम देश की राजकन्या' और 'रत्नप्रभा' उस सवेदन को और भी आगे बढ़ाती हैं।

इसी कड़ी में अज्ञेय की 'जीवनी-शक्ति', 'रोज', 'लेटर-बक्स' और 'हीलीबोन की बत्तखें' आती हैं और यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि 'हीलीबोन की बत्तखें' में यह शैली अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची।

यशपाल ने पुराने वस्तु-सत्य को मार्क्सवादी दृष्टि से देखा और परखा। जैनेन्द्र और अज्ञेय ने जहाँ मन और उसकी सहज आवश्यकताओं की गहराई में डुबकी लगाकर, खुर्दबीन से देखी जाने वाली मन की स्थितियों को अपनी गहरी अन्तर्दृष्टि से उजागर किया, वहाँ यशपाल ने शरीर और मन के साथ अर्थ को जोड़कर सामाजिक अथवा वैयक्तिक सम्बन्धों को परखा और उस परख के परिणाम हमारे सामने रखे। उनकी कहानी 'पराया सुख' उनकी कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है और यशपाल की सूझ-बूझ, अकाट्य तर्क और गहरी अन्तर्दृष्टि का परिचायक है।

और यों प्रेमचन्द के जमाने ही से नयी कहानी पुरानी के साथ-साथ अपने नये शिल्प, शैली और दृष्टि को लिये हुए चलने लगी और यदि मैं कहूँ कि यह विकास अभी जारी है, नयी कहानी दो-चार दिशाओं में ही नहीं, दसों दिशाओं में विकास कर रही है तो गलत न होगा। बेशुमार लेखक जिनका नाम, चाहे उतना सामने न आये, इस विधा में प्रयोग कर रहे हैं। लेखक का नाम (बार-बार सामने न आने के कारण) याद नहीं रहता, पर कहानी याद रह जाती है। यह प्रवृत्ति इतनी बहुमुखी है कि इसे रूपों अथवा वादगत रूढ़ियों में बाँध सकना कठिन लगता है और किसी नयी दिशा में बढ़ने वाला हर कलाकार समझता है कि उसी की दिशा वास्तव में नयी है—पिछले दिनों नयी कहानी के देहाती और शहरी पक्ष को लेकर जो शोर मचा, वह इसी धारणा का परिणाम था।

वास्तव में दो महायुद्धों ने संसार-भर को जैसे झकझोरकर रख दिया। आज के मिनट में पूरे-के-पूरे राष्ट्रों को दूसरी शक्तियों अथवा राष्ट्रों में एक अजीब, क्रूर पाशविकता का व्यवहार करते हुए, एक असमानबोध के दौरान में उसे नष्ट-भ्रष्ट करते हुए, उसका अस्तित्व तक मिटते हुए देखा और जाने ही उनकी पुरानी

मान्यताएँ बदल गईं। ऐसी पाशविकता, ऐसी क्रूरता तो पहले कहानियों में कहीं नहीं थी। साहित्य में तो क्रूर-से-क्रूर व्यक्ति के मन में भी ममता की खोज दिखाया जाता था। इस सामूहिक पाशविकता का कारण जानने के लिए समूह की इकाई—व्यक्ति, उसकी उत्पत्ति, विकास, उसके मनोभावों और उद्वेगों की ओर लेखक की दृष्टि गयी। डार्विन, मार्क्स और फ्रायड ने इस काम में उसका पथ-निर्देश किया। एक ने मानव की उत्पत्ति, दूसरे ने उसके क्रिया-कलाप और तीसरे ने उसके मनोविज्ञान के सम्बन्ध में पुरानी धारणाओं को बदल दिया और मानव के कृत्यों का कारण पशु से उसके विकास, मानव-समाज की ऐतिहासिक और आर्थिक यथार्थताओं अथवा उसके विकसित या अविकसित मन की गहराइयों में खोजा जाने लगा।

इस तेहरी दृष्टि से देखने पर पुराने माने हुए सत्य झूठे दिखायी देने लगे।—भाई अपनी बहिनों से उतना प्यार नहीं करते, जितना बहिनें अपने भाइयों से, हमारे यहाँ यह एक माना हुआ सत्य था। पर युद्ध की विभीषिका, दिनों-दिन बढ़ती कीमतों और देश के विभाजन के बाद, जब लड़कियाँ नौकरी करने लगीं, वे न केवल आर्थिक रूप से स्वावलम्बिनी हुईं, वरन् माता-पिता और छोटे भाई-बहिनों की पालक बनीं, तो घर में उनकी स्थिति अनायास बदल गई। और बेरोज़गार भाइयों के लिए कहीं-कहीं उनका व्यवहार वैसा ही उपेक्षापूर्ण हो गया, जैसा कभी पहले भाइयों का बहिनों के प्रति होता था। न केवल यह, बल्कि माता-पिता को भी उनके इस व्यवहार में कोई असंगति दिखायी नहीं दी। उषा प्रियंवदा ने अपनी कहानी 'ज़िन्दगी और गुलाब के फूल' में इसी वस्तु-सत्य को नयी दृष्टि से परखा है।

दसियों पुराने राजनैतिक, सामाजिक अथवा वैयक्तिक सत्य इस तेहरी दृष्टि के प्रकाश में झूठे दिखायी देने लगे। मानव की सद्वृत्तियों ही को देखते रहने के बदले, लेखक का ध्यान उसकी ग्रन्थियों, कुप्रवृत्तियों और स्वभाव की विषमताओं की ओर भी गया। जब पुरानी कहानियों के आदर्श पात्र और उनकी स्थितियाँ जीवन में कहीं दृष्टिगोचर न हुईं, तो वैसी कहानियों से वितृष्णा होने लगी। लेखक के साथ-साथ पाठक भी कहानी से मनोरंजन की अपेक्षा कुछ अधिक की माँग करने लगे। तब गढ़े-गढ़ाये काल्पनिक कथानकों का जादू टूटा, कथाकार ने बदलते जीवन के तक़ाज़े को मान, पहले निर्वैयक्तिक यथार्थवादी दृष्टि से मानव और समाज को देखा और ऐसी कहानियाँ लिखी जो, जीवन का एक जीता-जागता, उसकी गति से स्पन्दित खण्ड-मात्र दिखायी देती थीं। ऐसी कहानियाँ प्रेमचन्द के वक़्त ही से लिखी जाने लगी थीं। प्रेमचन्द की 'बड़े भाईसाहब', अज्ञेय की 'रोज़', अमृतराय की 'क़स्बे का एक दिन' ऐसी ही कहानियाँ हैं। नये कथाकारों में अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन' इस शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।...फिर कथाकार ने

वैयक्तिक दृष्टि से अपने पात्रों के अन्तर में झाँका और अर्धचेतन, उपचेतन और अवचेतन तक मे गोते लगाकर मानव की ग्रन्थियों, विकृतियों और कुप्रवृत्तियों से पर्दा उठाया। जैनेन्द्र की 'रत्नप्रभा' और अज्ञेय की 'हीलीबोन की बतखें' से लेकर मोहन राकेश को 'मिस पाल', मार्कण्डेय की 'उत्तराधिकार', राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' और राजकमल चौधरी की 'बस-स्टॉप' तक इन कहानियों की लम्बी शृंखला है। ..यही नहीं, नये कथाकार ने उस वैयक्तिकता मे भी निःसंग दृष्टि अपनायी और अपने ही मन के भावो का एक निरपेक्ष द्रष्टा की तरह विश्लेषण करने का प्रयास किया। जितेन्द्र की 'ये घर : ये लोग' और राजेन्द्र यादव की 'अभिमन्यु की आत्महत्या' इसके उदाहरण हैं।

दृष्टि बदली, मानव और जीवन को देखने के ढंग बदले, तो कहानी का शिल्प भी बदला। पहले की-सी कथानक-प्रधान, झटका देने और मधुर टीस उत्पन्न करने वाली, गढ़ी-गढ़ायी कहानियों के बदले जीवन की गहमागहमी, रंगारंगी, कटु यथार्थता, जटिलता, संश्लिष्टता का प्रतिबिम्ब लिये हुए[1], सीधे-सादे स्केच की-सी[2], निबन्ध की-सी[3], संस्मरण[4] या यात्रा-विवरण की-सी[5], कुछ प्रभावों अथवा स्मृतियों का गुम्फन-मात्र[6], वर्णनात्मक[7], चित्रात्मक[8], डायरी के पन्नों[9], अथवा पत्रों का रूप लिये हुए[10], एक ओर लोक-कथाएँ और दूसरी ओर उपन्यास की हदों को छूती हुई[11] तरह-तरह की कहानियाँ लिखी जाने लगीं। पहले कहानियों में उपमाओं का प्रयोग होता था, जिससे उनकी सरलता और सुगमता द्विगुणित हो जाती थी। अब उनमें स्पष्ट अथवा अस्पष्ट बिम्बों और प्रतीकों का प्रयोग होने लगा, जिससे उनकी जटिलता और संश्लिष्टता बढ़ी। निर्मल वर्मा की 'परिन्दे', मार्कण्डेय की 'धुन', राजेन्द्र यादव की 'अभिमन्यु की आत्महत्या', अमृतराय की 'मंगलाचरण' ऐसी ही कहानियाँ हैं। लेकिन कहानी के नये शिल्प मे प्रतीकों की आवश्यकता थी। उपमाएँ प्रायः बाहर की स्थितियों को समझने में सहायता देती हैं, बिम्ब और प्रतीक मन

---

१. जिन्दगी और जोंक (अमरकान्त), जानवर और जानवर (मोहन राकेश), प्लाट का मोर्चा (शमशेर बहादुर सिंह)
२. खेल (रघुवीर सहाय), नंगा आदमी : नंगा जरूम (अमृतराय)
३. समाप्ति (जैनेन्द्र)
४. अकाल (रामकुमार), घरउआ (भैरवप्रसाद गुप्त), दोपहरी (लक्ष्मीनारायण लाल)
५. पहाड़ की स्मृति (यशपाल)
६. सुराबू (राजेन्द्र यादव)
७. शिमले के क्लर्क की कहानी (रामकुमार)
८. निशा जी (नरेश मेहता)
९. निष्परशिता की डायरी (नरेश मेहता)
१०. सईदा के राज (अमृतराय)
११. नीलम देश की राजकन्या (जैनेन्द्र), नीली झील (कमलेश्वर)

की स्थितियों को समझने में सहायक होते हैं। कई बार जिन मानसिक स्थिति को समझाने के लिए गहरे और गाढ़े रंगों की आवश्यकता होती है, वह एक बिम्ब अथवा प्रतीक के माध्यम से समझा दी जाती है।

लेकिन वस्तु और शिल्प के ये प्रयोग, जैसा कि इन तथा दूसरे उदाहरणों से पता चलता है, पुराने कथाकारों में भी मिलते हैं और सही-सटीक, झटका देकर खत्म होने या मन में एक टीस-सी छोड़ देने वाली कहानियाँ नये कथाकारों ने भी लिखी हैं। राकेश के यहाँ 'मलबे का मालिक' और 'नये बादल', राजेन्द्र यादव के यहाँ 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' और 'गुनाह', रेणु के यहाँ 'तीर्थोदक' और 'मारे गए गुल-फाम', कृष्णा सोबती के यहाँ 'सिक्का बदल गया' और 'गुलाबजल गंडेरियाँ', मन्नू भंडारी के यहाँ 'सयानी बुआ' और 'यह भी सच है' मार्कण्डेय के यहाँ 'गुलरा के बाबा' और 'माही', अमरकान्त के यहाँ 'डिप्टी-कलक्टरी' और 'दोपहर का भोजन' भीष्म साहनी के यहाँ 'चीफ की दावत' और 'हमला'—पुरानी और नयी कहानि[याँ] साथ-साथ मिलती हैं।

नये कथाकारों को मैं तीन श्रेणियों में बाँटना चाहूँगा

१. वे कथाकार, जिन्होंने चाहे दो-एक नये प्रयोग किये हों, लेकिन सा-रणतः उनकी कहानियाँ नख से शिख तक चुस्त और दुरुस्त, पुरानी शैली के मँजाव के साथ लिखी जाती हैं। इनमें राकेश, शिवप्रसाद सिंह, रेणु, मन्नू भंड[ारी] उषा प्रियम्वदा और शानी प्रमुख हैं।

२. वे कथाकार, जिन्होंने चाहे चार-छः कहानियाँ पुरानी शैली की लिखी पर जिनका रुझान नये शिल्प और नयी वस्तु की ओर है। इनमें राजेन्द्र य[ादव] मार्कण्डेय, राजकमल चौधरी, रामनारायण शुक्ल और प्रयाग शुक्ल के उल्लेखनीय हैं।

३. वे कथाकार, जिन्होंने एकदम नया शिल्प और नयी वस्तु अपना[यी] इनमें रामकुमार, निर्मल वर्मा, रघुवीरसहाय, नरेश मेहता, राजेन्द्र [...] मुद्राराक्षस, रणधीर सिन्हा, वीरेन्द्र मेंहदी रत्ता, शरद जोशी आदि के ना[म] जा सकते हैं।

ऐसे बेगिनती नये कथाकार, जिनकी दो-एक कहानियाँ ही मैंने पढ़ी जिनकी कहानियों की तो याद है, पर लेखकों की नहीं, इन्हीं तीन श्रेणियों के आते हैं। दयानन्द अनन्त या ऐसा ही कुछ नाम याद आता है जिनकी बड़ी नख से शिख तक दुरुस्त कहानी 'गुड़ियाँ गले न गले' मैंने पढ़ी थी और र[...] श्रीवास्तव की कहानी 'वेश्या नहीं बनूँगी' अभी पढ़ी है, जिसमें शिल्[प] प्रयोग है। इन सभी कथाकारों के सम्मिलित प्रयत्नों से नयी कहानी का सामने आता है, वह उज्ज्वल दीखता है। पुरानी परम्परा से हटकर लि[...]

ने भी कुछ बड़ी सुन्दर कहानियाँ दी हैं—मार्कण्डेय की 'माही', रामकुमार की 'दूसरा बीवी', निर्मल वर्मा की 'परिन्दे', नरेश मेहता की 'तथापि', अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन', राजकमल चौधरी की 'बस-स्टाप'—इस कथन की सबल प्रमाण हैं। एक खतरा अवश्य है कि नयी कहानी नयी कविता की तरह पश्चिम की वस्तुस्थितियों और मनोभावनाओं को अपने ऊपर लादकर दुर्बोध, दुर्गम और अवास्तविक न हो जाय ! विशिष्टता के चक्कर में कुछ नये कथाकार इसका भी प्रयास कर रहे हैं। श्रीकान्त वर्मा की कहानी 'टोमो' इसका उदाहरण है। उसका पुरुष न यहाँ का पुरुष लगता है, न युवती यहाँ की युवती। मार्कण्डेय के 'घुन' और अमृतराय के 'मंगलाचरण' का प्रतीक इतना दुर्बोध है कि लेखक के समझाये ही समझ में आता है और इस पर भी वह कथा से स्वतः निःसृत नहीं, ऊपर से लदा हुआ प्रतीत होता है। फिर पद्य तो आत्मरत होकर जी सकता है (यद्यपि इसमें मुझे सन्देह है) लेकिन गद्य के लिए दुर्बोध होकर जीना मुश्किल है। अच्छी बात यही है कि कथाकारों में रावेश, शिवप्रसाद सिंह, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, धानी, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा आदि के रूप में ऐसे सक्षम कथाकार हैं, जो परम्परा से कटे नहीं, वरन् पुरानी परम्परा के गुणों को अपनी शैली में समोकर, नयी वस्तु को अत्यन्त मनोरंजक और हृदयग्राही ढंग से दे रहे हैं।

जहाँ तक शिल्प की तुलना में वर्तमान कहानियों के सामर्थ्य का प्रश्न है, पुराने कथाकार के नाते मेरे लिए उस पर कोई राय देना सगत नहीं है। नये कथाकारों और आलोचकों को कफन, मनोवृत्तियाँ, बड़े भाईसाहब, नशा, एक रात, रत्नप्रभा, पाजेब, राजीव और उसकी भाभी, जीवनी-शक्ति, रोज, लैटर-बक्स, हीलीबोन की बत्तखें, पराया सुख, राज, पहाड़ की स्मृति, अपनी-अपनी जिम्मेदारी, धर्मयुद्ध, आह्वान और समय जैसी उच्चकोटि की पुराने लेखकों की नयी कहानियाँ पढ़कर अपनी राय बनानी चाहिए। बड़ी झिझक के साथ मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि नये लेखकों की कुछ कहानियाँ इनके बराबर चाहे पड़ जाएँ, पर इन पर भारी कम ही पड़ेंगी। लेकिन साहित्य में तुलना कुछ अच्छी चीज नहीं है। एक सुन्दर रचना की तुलना दूसरी सुन्दर रचना से की ही नहीं जा सकती। केवल दोनों का रस लिया जा सकता है। नये कथाकारों में नये ढंग से बात कहने की जो लालसा है, नये रूपाकार को ढूँढने या अपनाने की जो छटपटाहट है, पुराने के प्रति जो खिझलाहट अथवा आक्रोश है, वह उनकी युवावस्था का ही प्रतीक है और इसीलिए आश्वस्त भी करता है। क्योंकि पुराने के प्रति आक्रोश और नये की खोज जिन्दगी का परिचय देती है। नये लेखकों में जो लोग प्रयोग को महज़ प्रयोग के लिए अपनी विशिष्टता सिद्ध करने या दूसरों को चौंकाने के लिए लेंगे, वे शायद दूर तक

नहीं जा सकेंगे। जो विभिन्न प्रयोग करके ऐसी शैली अपना लेंगे, जिसमें वे अपनी अनुभूतियों को अपने विशिष्ट ढंग से व्यक्त कर सकेंगे और ज़िन्दगी-भर टामकटोये न मारेंगे, वे ज़रूर साहित्य पर अपनी शैली की अमिट छाप छोड़ जायेंगे।

इसके अतिरिक्त नये लेखक के लिए इस बात का भी ध्यान रखना ज़रूरी है कि वह कैसा भी नया प्रयोग क्यों न करे, उसकी दृष्टि साफ़ रहे और जो वह कहना चाहता है वह ज़रूर कह दे। यह नहीं कि वह कहना कुछ चाहे और उसकी कहानी कुछ कहे। 'अभिमन्यु की आत्महत्या' में ऐसी ही बात हुई है। कथ्य वहाँ बोधगम्य नहीं रहा और लेखक जो कहना चाहता है, वह नहीं कह पाया। कहानी की अन्तिम पंक्ति—'वह मेरी आत्मा की लाश थी' सारे कथ्य को झुठला देती है। मेरे सवाल में आत्मा की हत्या करके जो आदमी लौटता, वह यह कहानी न कहता। हुआ वास्तव में यह कि कथा का नायक आत्मा की हत्या करने गया था, पर आत्मा की लाश नहीं, सजीव आत्म को अपने कंधे पर लादे लौट आया। सुभद्रा—उसके अन्तर की माँ, याने सृजन शक्ति, याने आत्म, और भी गहरे में जायें तो—आत्मा ही का प्रतीक है। उसने उसे 'छोड़ा कहाँ? ख़त्म कहाँ किया? डुबाया कहाँ? उसे तो वह लेकर चला आया है अपने शिशुओं के लिए, याने अपनी रचनाओं के पालन-पोषण के लिए।...' ऐसा ही किंचित् धुंधलापन मार्कण्डेय के 'धुन' में भी है, लेकिन राजेन्द्र यादव ने अपनी कहानी 'लूले पग, टूटे डैने' में थीम को बड़ी कुशलता से निभाया है और मार्कण्डेय की 'माही' तो छोटी होने पर भी प्रयोग के नयेपन और संकेत के (सजेशन) अति सूक्ष्म होने के बावजूद, मन पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती है। क्योंकि जो बात मार्कण्डेय उस कहानी में कहना चाहता है, वह उसने बड़ी बारीकी, लेकिन पूरी सफ़ाई से कह दी है।

जहाँ तक मेरे मत का प्रश्न है, मैं समझता हूँ कि सबसे महत्त्व की चीज़ वस्तु और देखने वाली दृष्टि है। उसके बाद शिल्प का स्थान है। १९३८ से ४८ तक उर्दू-कहानी में लगभग वे सभी प्रयोग किये जा रहे थे, जो कि आज हिन्दी में किये जा रहे हैं (कोई अन्वेषी बड़े शौक़ से उस वक्त की पत्रिकाओं को देखकर मेरे कथन की सच्चाई को जान सकता है), और उस वक्त आज की हिन्दी-कहानी की तरह उर्दू-कहानी की गति में बाढ़ पर आयी नदी का वेग था और कथाकारों की तीन पीढ़ियाँ एक साथ, प्रतिस्पर्धा के साथ, सृजनरत थीं। नये-नये प्रयोग आये दिन हो रहे थे। ऐन उस वक्त मोपासाँ और मॉम के शिल्प से प्रभावित होकर मंटो ने कहानियाँ लिखनी शुरू कीं और उसी पुराने शिल्प को पूरी तरह अपनाकर, अपनी वस्तु के नयेपन, दृष्टि की गहराई और गहन मानवीयता के साथ, उर्दू-कहानी पर छा गया।

नये कथाकारों के सामने मैं मंटो की मिसाल रखना चाहूँगा। शिल्प वे कोई भी अपनायें, यदि उनकी दृष्टि साफ़ और गहरी है, कहने के लिए उनके पास कुछ नया है, अपना है, अनुभूत है, चुराया या सयत्न अपने ऊपर लादा नहीं, और उनके हृदय में गहरी मानवीयता है, तो जो वे लिखेंगे, सीधा दिल पर असर करेगा। और हिन्दी-साहित्य ही नहीं, हिन्दी के माध्यम से विश्व-साहित्य पर अपना नक्श छोड़ जायगा।

('लहर', १९६१)

नयी कहानी

हरिशंकर परसाई

आज की कहानी को 'नयी कविता' के ढंग पर 'नयी कहानी' कहने लगे हैं। नयी कविता तो विगत युग के काव्य से एक भिन्न शिल्प और संवेदन लेकर जन्मी और विकसित हो रही है, विगत युग के काव्य से उसका मौलिक विरोध भी है, कुछ हद तक वह विगत युग के काव्य की प्रतिक्रिया भी है, परन्तु आज की कहानी के सम्बन्ध में यह सही नहीं है। हिन्दी में कहानी की एक पुष्ट, समर्थ और स्वस्थ परम्परा है और वर्तमान कहानी उसका एक विकसित रूप है। किसी भी नाम से उसे पुकारा जाय, प्रश्न उठते ही हैं—कि आज की कहानी की विकास-दिशा क्या है? उसकी विशेष उपलब्धियाँ कौन-सी है? विगत युग की कहानियों से उसमें कहाँ भिन्नता है? जीवन के यथार्थ के प्रति उसकी दृष्टि क्या है? युग-सत्य को अभिव्यक्ति देने की उसकी क्या क्षमता और सीमा है? ऐसे अनेक प्रश्न हमारे सामने हैं।

कहानी के पाठक के नाते, तथा थोड़ा-बहुत लिखते रहने के नाते, मैं इस सम्बन्ध में जो सोच-समझ पाया हूँ, वह संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत करता हूँ। ऐसा करने में मैं विशेष कहानीकारों या विशेष कहानियों का उल्लेख न करके, प्रवृत्तियों की ही चर्चा करूँगा।

जहाँ तक कहानी के शिल्प और तंत्र का प्रश्न है, यह सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि हम आगे बढ़े हैं। नये जीवन की विविधताओं को, मार्मिक प्रसंगों को, सूक्ष्मतर समस्याओं को चित्रित करने के लिए कहानी के शिल्प ने विविध रूप अपनाये हैं। हमसे पहले की कहानी का एक पूर्व-निश्चित चौखटा था; छन्दशास्त्र की तरह उसके भी पेटर्न तय थे। पर जैसे नवीन अभिव्यक्ति के आवेग से कविता में परम्परागत छन्द-बन्धन टूटे, वैसे ही अभिव्यक्ति की माँग करते हुए नये जीवन-प्रसंगों, नये यथार्थ ने, कहानी को इस चौखट से निकाला। आज जीवन का कोई भी खण्ड, मार्मिक क्षण, अपने में अर्थपूर्ण कोई भी घटना या प्रसंग कहानी के तंत्र में बँध सकता है। जीवन के एक अंश को अंकित करनेवाली हर गद्य-रचना, जिसमें कथा का तत्व हो, आज कहानी कहलाती है। रेखाचित्र, लघुकथा, रिपोर्ताज, डायरी, पत्र-कथा, संस्मरण, मन:स्थिति, चित्रण, इंटरव्यू आदि विविध निर्वाह-

पद्धति वाले गद्य-खण्ड कहानी की परिधि में आ जाते हैं। सामाजिक जीवन की वर्तमान जटिलता, उसके अन्तर्विरोध, उसकी नयी समस्याएँ अभिव्यक्त करने के लिए कहानी ने विभिन्न नवीन निर्वाह-पद्धतियाँ अपनायी है। उदाहरण के लिए, पौराणिक या लोक-कथाओं को नयी दृष्टि से अर्थान्वित करके युग-सत्य को व्यंजित करना। इन सिलसिले में हमारी एक विशेष उपलब्धि व्यंग भी है। समाज के विरोधाभास, अर्थहीन आदर्श, खोखली जीवन-पद्धति, सामाजिक प्रवचना, पाखंड और वैषम्य को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने के लिए पहले भी विश्व के चिन्तकों, लेखकों और दार्शनिकों ने व्यंग का माध्यम अपनाया है। अभी तक हिन्दी में हास्य-व्यंग पारिवारिक जीवन तक ही सीमित था। अक्सर स्त्री, साला-साली या ससुराल को लेकर बड़े भोंड़े-भद्दे मजाक लिखे जाते थे। तीखा सामाजिक व्यंग, जो जीवन में व्याप्त असामंजस्य, असन्तुलन और वैषम्य के बखिये उधेड़ता है, आज की कहानी की उपलब्धि है।

भाव और विचार की दृष्टि से प्रथम उल्लेखनीय परिवर्तन यह हुआ है कि हम गाधीवाद के अति आदर्शवादी प्रभाव से मुक्त होकर अधिक ठोस यथार्थ की भूमि पर खड़े हैं। आज हम जीवन को उसकी महत्ता, पूरी सुन्दरता और पूरी कुरूपता के साथ देखने के लिए आग्रहशील हैं। अति आदर्शवाद तथा अति भावुकता के कुहासे से निकल आने के कारण, तथा इन वर्षों में मनोविज्ञान, समाजविज्ञान और नेतृत्वशास्त्र आदि के विकास के कारण, हमारी दृष्टि अधिक वैज्ञानिक हो गई है। मनोविश्लेषण-प्रधान कहानियों में ही यह स्पष्ट अन्तर दिखता है—आज की इन कहानियों का चित्रण अधिक गहरा होता है। इसमें एक खराबी भी आयी—कुछ लेखकों ने मानव-जीवन को विज्ञान का 'फारमूला' बना दिया और हिन्दी में ऐसी प्राणहीन, उबाऊ कहानियाँ भी कम नहीं लिखी गईं, जो कहानी कम है, मनोविज्ञान की पाठ्य पुस्तक का अध्याय अधिक। सच्चे मानव-संवेदन के अभाव में ये केवल प्राणहीन शिल्प का नमूना बनकर रह गईं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले हमारे समाज की आकांक्षाएँ सीमित थी और राष्ट्रीय स्वाधीनता के उद्देश्य पर पूरा ध्यान केन्द्रित होने के कारण अन्य अनेक समस्याएँ दब गई थी। विदेशी साम्राज्यवाद ने जहाँ जनसाधारण के विकास के पथ को रुद्ध किया था, वहाँ उसने भारतीय पूँजीवाद का भी अपने स्वाभाविक रूप में विकास नहीं होने दिया। फलतः हम पाते हैं कि स्वाधीनता के मोर्चे पर पूँजीवादी शक्तियां ने भी देश की जनवादी शक्तियों का साथ दिया। सरकार के प्रति असन्तोष की भावना ने दोनों को एक सूत्र में बाँध दिया था। आकांक्षाएँ भिन्न थी, पर शत्रु एक था। राष्ट्रीयता की भावना इतनी तीव्र और व्यापक थी कि ये दो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ भी अपने मूल द्वन्द्व को भुलाकर एक-दूसरे का साथ दे सकी। प्रेमचन्द में जो व्यापक सहानुभूति की भावना दिखायी पड़ती है—और अधुनातन साहित्य में

जिसकी कमी की, ऐतिहासिक दृष्टि से हीन आलोचक, शिकायतें किया करते हैं—उसके मूल में यही व्यापक राष्ट्रीयता और पूंजीवाद तथा जनवाद का सह-अस्तित्व है, यह भुला दिया जाता है।

अब स्वतन्त्रता की प्राप्ति के साथ ही वह क्षीण सूत्र, जो दोनों परस्पर-विरोधी शक्तियों को बांधे था, टूट गया। अब केवल अन्तर्विरोध ही सामने आये। यह स्पष्ट हो गया कि दोनों शक्तियां हाथ-में-हाथ डाले अधिक दिनों तक नहीं चल सकतीं। राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद आर्थिक सुसम्पन्नता की जायज मांग पेश की गई। निम्न मध्यम वर्ग के साहित्यकारों ने इस वैषम्य को, इस अर्तविरोध को, समझा और जनसाधारण की आकांक्षाओं को मूर्त्त रूप दिया। उच्च मध्यम वर्ग और उससे भी ऊपर के साहित्यकारों में से अनेक ने ह्रासोन्मुख पूंजीवाद से सहयोग किया और *'व्यक्ति-स्वाधीनता', 'मानवता' जैसे आकर्षक नारे* लगाकर इस अन्तर्विरोध को जैसा-का-तैसा स्वीकार करना चाहा। इसी कारण *कहानी और कविता दोनों में आपको स्पष्ट ही दो प्रकार का साहित्य मिलना है।*

केवल यही नहीं, परम्परागत नैतिक मूल्यों का भी विघटन होने लगा। मध्ययुगीन सामन्तवादी नैतिकता हमारे काम की चीज़ नहीं रह गई। हमारे आदर्श, जीवन-पद्धति, समाज और परिवार—नीति, सब में युगानुकूल नये मूल्यों की प्रतिष्ठा की मांग थी। जीवन की व्याख्या ही नये सिरे से करने का आग्रह किया गया, परन्तु वह बहुत हद तक आर्थिक स्थिति में सुधार पर ही अवलम्बित था। वह हो नहीं पाया। शासक वर्ग ने समाज से फासला बना लिया जो बढ़ता ही गया। *जनता का विश्वास भी उठने लगा। चारित्रिक असंयम, भ्रष्टाचार, दायित्वहीनता* और बेईमानी का नंगा नाच होने लगा। इसी समय यूरोप के साहित्य में महायुद्ध के पश्चात् *आशंका, भय, अनिश्चितता, मूल्यों का विघटन, पतनशील प्रवृत्तियों* का उदय, जीवन के प्रति अनास्था, मृत्यु और वेदना की जीवन पर प्रतिष्ठा आदि-आदि ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियां ही एक सिरे से प्रगट होने लगीं। इसका भी कुछ प्रभाव हम पर पड़ा।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय इन परिस्थितियों का प्रभाव नयी हिन्दी-कहानी पर दो रूपों में पड़ा। एक लेखक वर्ग ने इस दर्द, कुंठा और निराशा को ही जीवन का आवश्यक अंग मान लिया। समाज-संदर्भ से हटकर ये लेखक एकांतिक रूप से खण्डित-मानव के मन की इन गुत्थियों का प्रदर्शन-विश्लेषण करने में लग गए। अपने-आप में डूबे, अपने ही भीतर झांकते, केवल व्यक्तिगत और एकनामेन समस्याओं से अभिभूत इन कहानियों के पात्र विचित्र लगते हैं। इन्हें हर समय अपना 'व्यक्ति' संकटग्रस्त लगता है। मज़े की बात यह है कि यही लोग आस्था और व्यापक मानवता की खूब बातें करते सुन पड़ते हैं।

दूसरे प्रकार के कहानी-लेखकों ने इस ह्रास और विघटन को जीवन मानने से

इन्कार कर दिया। वे इसे एक पतनशील युग की देन मानते हैं। और कार्य-कारण के सम्बन्धों में बिना भूल किये, इसका सम्बन्ध सामाजिक और ऐतिहासिक कारणों से जोड़ते हैं। इसीलिए वे जीवन के लिए मृत्यु के खिलाफ, सेहत के लिए कुंठा के खिलाफ और मानवता के लिए एकांगी व्यक्तिवादिता के खिलाफ 'जिहाद' बोल देते हैं। इनकी कहानियों में संघर्ष, विद्रोह और आस्था तीनों मिलेंगे। खूब भावुकता और जोशखरोश! पर इन लेखकों में भी कहीं-कहीं एक निर्जीव ढाँचे के आधार पर बिना कलाकार-सुलभ संवेदन के कहानियाँ लिखने की प्रवृत्ति भी दिखायी पड़ी, जिनमें खूब आक्रोश है, उत्साह और भावुकता का अतिरेक है, खूब घृणा है और बुलन्द नारे भी हैं। कालान्तर में इनमें से अनेक ने जीवन को निकट से देखा, संवेदन ग्रहण किया और उसे साहित्य में रूपायित किया।

एक तीसरे प्रकार के लेखकों ने यद्यपि इस सारी परिस्थिति को मानव-समाज की प्रवृत्ति के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखता, इसे क्षणिक थकन माना, यथार्थ को उसके समग्र रूप में स्वीकारा भी; परन्तु किसी ढाँचे के आधार पर नहीं बल्कि जीवन से वास्तविक, निकट-सम्पर्क स्थापित कर, सच्चे अनुभव-संवेदन ग्रहण कर, कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें यथार्थ के विभिन्न स्तर और विभिन्न कोण उभरे हैं।

आज की कहानी की यही भाव और विचार-भूमि है।

जीवन को अपनी सुन्दरता और कुरूपता के साथ अखण्ड रूप में स्वीकारने वाली, इन कहानियों के सम्बन्ध में शुभ और अशुभ के प्रश्न उठे हैं—मुख्य रूप से स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्बन्धों को व्यक्त करने वाली और पतन, कुरूपता, पीड़ा और विफलता के चित्रण करने वाली कहानियों के सम्बन्ध में। पहले प्रकार की कहानियों में श्लील का जो प्रश्न है, वह सहसा यहाँ हल नहीं हो सकता। इतना ही कहा जा सकता है कि इसका निर्णय चित्रण के संकेतों और लेखक के प्रयोजन पर निर्भर है। यह सच है कि अनेक लेखक ऐसा चित्रण किसी सामाजिक प्रयोजन के लिए नहीं, बल्कि खुद रस लेने और चौंका देने के लिए करते हैं। इसी संदर्भ में उन कहानियों का जिक्र भी हो जाय, जो होती हैं—ग्राम-कन्या और शहरी बाबू की; काश्मीरी रमणी और पर्यटक की; पहाड़ी बाला और शहरी रईस की। पहले इन पर अच्छी कहानियाँ भी लिखी गई थीं, पर फिर बर्षों पहाड़ और गाँव नहीं गये। पर लिखना तो है ही; इसलिए जो कुछ रूमानियत दिमाग़ में है, उसी के सहारे कल्पना से बालाओं को निर्वस्त्र करना आरम्भ कर दिया। पहाड़ी स्त्रियों के साहित्य में ऐसा घृणित बर्ताव करने के विरुद्ध पहाड़ी इलाके के कुछ शिक्षित निवासियों ने एक साप्ताहिक में बड़े कड़े पत्र अभी हाल ही में लिखे थे। मजा यह है कि इस रूमानियत को अवसादी वस्त्र उढ़ा दिया जाता है। डॉ० रामविलास शर्मा ने कहीं एक विचारक का वाक्य उद्धृत किया है जिसका आशय है कि मार्क्सवादी और फायडवाद का मेल उसी प्रकार है जैसे दर्शनशास्त्र और टर्नविद्या का।

तनाव, कुण्ठा, विघटन आदि के चित्रण की आलोचना करने वालों को इसे भारत के यथार्थ के विभिन्न रूप देखना चाहिए। फिर चित्रण का प्रयोजन और लेखक की अपनी भावात्मक और बौद्धिक स्थिति। इसे एकदम 'मॉर्बिड' (रुग्ण-पीड़ित-कमज़ोर) कहकर नहीं नकारा जा सकता। मैंने ऊपर कहा है कि हमारा अधिकांश लेखक-वर्ग निम्न मध्यम श्रेणी का होता है। इसी वर्ग ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता से सबसे अधिक अपेक्षाएँ की थीं, इसलिए सबसे अधिक निराशा और विफलता इसी को हुई है। इस वर्ग की जिन्दगी सबसे कष्टमय है, वह आन्तरिक और बाह्य संघर्षों से आक्रान्त है। इस वर्ग के लेखक सबसे अधिक अपने इसी वर्ग को जानते हैं। वे इसके साथ जीते हैं, इसकी समस्त पीड़ा और विफलता के हिस्सेदार हैं। स्वाभाविक है कि अपने इस मध्यम वर्ग की ही कहानियाँ उन्होंने ज्यादा लिखीं। इस वर्ग की जिन्दगी जितने रूपों में, जितनी सच्चाई से चित्रित हुई है, उतनी किसी अन्य वर्ग की नहीं और स्पष्ट है कि उसमें दर्द और पीड़ा, पतन और विवशता होगी ही। एक तबके का ऐसा सुविस्तृत चित्रण एक विशेष उपलब्धि है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर यह सीमा अच्छी नहीं है। मध्यम वर्ग अब लुप्त हो रहा है और दो वर्ग स्पष्ट उभर रहे हैं। अतएव हमारे अनुभव-संवेदन की सीमाएँ बढ़नी चाहिए। कई लेखक गाँवों की ओर बढ़े हैं, वहाँ के जीवन के चित्रण में काफी सफलता और ख्याति अर्जित की है। पर मध्यमवर्गीय शहरी चश्मे से ग्रामीण जीवन देखने की मजबूरी के कारण उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं बड़ा अजब मिश्रण मिलता है।

मुझे स्वयं अपने से तथा और सहकर्मियों से भी एक शिकायत है कि हमारी कहानियों में वैविध्य कम होता है। इसका कारण एक तो मध्यमवर्गीय लेखक की विवशता है जिसे मैंने इंगित किया है। दूसरा कारण अपने ही अनुभव से मुझे यह लगता है कि हम सचेत होकर नहीं जीते—एक धारा में बहे जाते हैं। सचेत होकर जीने का अर्थ है, अपने दैनिक अनुभव-संवेदनों के प्रति जागरूक होना, उन्हें बटोरना, उन पर विचार करना, उनका विश्लेषण करना और उनमें अर्थ खोजना। कितने ही मूल्यवान् और अर्थवान् विविध प्रकार के अनुभव-संवेदन हम खो देते हैं। जो हम ले लेते हैं, उसका निर्वाचन, दिमागी आदत के कारण और पूर्व ग्रह के कारण, एक ही प्रकार का हो जाता है। यह अपनी बात ही मैंने कही है; औरों को ऐसा लगता है या नहीं, मैं नहीं जानता।

प्रेम-कहानियों के सम्बन्ध में भी नवीन लेखकों को सोचना होगा। अति आधुनिक कहानीकारों में भी दो तरह की नारी मुझे दिखती है : एक तो छायावादी युग की 'नारी, तुम केवल श्रद्धा हो!' ढंग की बिलकुल भावाकुल, समर्पणशीला नारी जिसका प्रेम एकदम वायवी, अशरीरी। दूसरे प्रकार की नारी वह, जिसके पास केवल शरीर है। दोनों प्रकार के लेखकों ने नारी के व्यक्तित्व को नहीं

स्वीकारा है। ऐसी बुद्धिहीन, व्यक्तित्वहीन नारी सामन्ती युग के निठल्ले धनिकों के यहाँ होती होगी और उन दिनों खूब फुरसत से लोग 'होल-टाइम प्रेमी' भी रहे होंगे। नये युग में, नारी और प्रेम, दोनों पर हमें फिर से विचार करना होगा।

नयी कहानी के शिल्प और भाव तथा विचार-सम्पदा पर मैंने अपनी कुछ धारणाएँ आपके सामने रखी। कोई महान् कहानीकार हुआ है या नहीं; कोई महान् कहानी लिखी गई है या नहीं, ये बहुत बाद के सवाल हैं, और न ये इस मूल्यांकन के लिए जरूरी हैं। इतना निश्चित है कि कहानीने इस नये मोड़ से काफी प्रगति की है।

(साहित्यकार सम्मेलन में पठित: दिसम्बर, '५७)

नयी कहानी : सफलता और सार्थकता

नामवरसिंह

'छोटे मुंह बड़ी बात' कहनेवाली कहानी के बारे में प्रायः 'बड़े मुंह छोटी बात' कही जाती है। कहानी का यह दुर्भाग्य है कि वह मनोरंजन के रूप में पढ़ी जाती है। और शिल्प के रूप में आलोचित होती है। मनोरंजन उसकी सफलता है तो शिल्प सार्थकता! कहानी में अनेक आलोचकों की दिलचस्पी इतनी ही है कि यह साहित्य का एक 'रूप' है। इसलिए कहानी की ओर ध्यान जाता है या तो इतिहास (जिसमें साहित्य के वार्षिक और दशाब्दिक विवरण भी सम्मिलित हैं) लिखते समय या फिर साहित्य-रूपों का शास्त्रीय विवेचन करते समय। जहाँ साहित्य के मान और मूल्यों की चर्चा होती है, वहाँ कहानियों के हवाले नहीं मिलते। हवाले मिलते हैं प्रायः कविताओं के और कभी-कभी उपन्यासों के। यदि शास्त्रीय आलोचक कहानी को केवल साहित्य-रूप समझते हैं तो मूल्यवादी आलोचक उसे जीवन की सार्थक अनुभूतियों के लिए असमर्थ मानते हैं। संभवतः जीवन के लघु प्रसंगों को लेकर लिखी जानेवाली कहानी स्वयं भी 'लघु' समझी जाती है। इसलिए 'व्यापक जीवन' पर दृष्टि रखने वाले स्वभावतः कहानी-जैसी छोटी चीज को नजरअन्दाज कर जाते हैं। आलोचकों की कुछ ऐसी धारणा है कि केवल कहानियाँ लिखकर कोई लेखक महान् नहीं हो सकता। बहुत से लोगों के यह कहने पर भी कि प्रेमचन्द उपन्यासकार से अधिक सफल कहानीकार हैं, डॉ० रामविलास शर्मा जैसे आलोचक ने जोर देकर कहानियों की अपेक्षा प्रेमचन्द के उपन्यासों को ही उनकी महानता का आधार माना है। कहानी की लघुता के सम्बन्ध में यह धारणा मोपासाँ, चेखव, ओ' हेनरी तथा रवीन्द्रनाथ, प्रेमचन्द, यशपाल, कृष्णचन्द्र जैसे कहानीकारों के रहते हुए भी बनी हुई है।

दूसरी ओर, जिन लोगों ने हर तरह की 'लघुता' को 'सार्थकता' प्रदान करने का झंडा उठाया है, उनके यहाँ भी छोटी कहानी की सार्थकता नहीं दिखाई पड़ती। मूल्यों की विस्तृत चर्चा करते समय जहाँ वे नितान्त वैयक्तिक और अनुभूति-क्षणों के लघु-लघु 'प्रयोगों' का हवाला देते चलते हैं, वहाँ भूलकर भी किसी कहानी का ज़िक्र नहीं आता। यह विस्मरण क्या एकदम आकस्मिक है? यदि

इन मूल्य-खोजी आलोचकों को अपने साथियों की कहानियों में मूल्यों के दर्शन नहीं होते तो क्या बाक़ी कहानी-साहित्य भी सूना है? या कि जीवन की वास्तविकता के चित्रण में आज की कहानियाँ कविताओं से पीछे हैं?

नये कहानीकारों में से बहुतों ने आजकल कहना शुरू कर दिया है कि इस पीढ़ी के कहानीकारों में 'मानवीय मूल्यों के संरक्षण, जीवनी-शक्ति के परिप्रेषण एवं सामाजिक नवनिर्माण की उत्कट प्यास है।' इतना ही नहीं, बल्कि आज की कहानी 'नयी भाव-भूमियों का सृजन' भी कर रही है। नये कवियों के दावे, इस तरह, नये कहानीकारों के कंठ से भी अनुगुंजित हो चले हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया है कि कहानी की आलोचना को एक नये स्तर पर उठाया जाय। टेक्नीक की शास्त्रीय चर्चाओं और कहानियों का साराश बतलाते हुए उनकी सामान्य समस्याओं के परिचयात्मक विवरणों का काम बहुत हो चुका, 'ये बहुत दूर जायेंगे और 'भविष्य सुरक्षित है' जैसी सद्भावनाओं से भी अब सद्विवेक की माँग की जा सकती है।

आज इतना ही कहना काफी नहीं है कि अमुक कहानी बहुत अच्छी है या अमुक कहानी सफल है, बल्कि इस 'अच्छेपन' को और 'सफलता' को अधिक ठोस और युक्तिसंगत रूप से उपस्थित करने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में, आज कहानी की 'सफलता' का अर्थ है, कहानी की सार्थकता। आज किसी कहानी का शिल्प की दृष्टि से सफल होना ही काफी नहीं है, बल्कि वर्तमान वास्तविकता के सम्मुख उसकी सार्थकता भी परखी जानी चाहिए। जीवन के जिन मूल्यों की कसौटी पर हम कविता, उपन्यास आदि साहित्य-रूपों की परीक्षा करते हैं, उन्हीं पर कहानी की परीक्षा भी होनी चाहिए। इससे कहानी-समीक्षा का एक ढाँचा तो तैयार होगा ही साथ-साथ मानवीय मूल्यों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान भी बढ़ेगा और सम्पूर्ण साहित्य के मानों की अपर्याप्तता भी क्रमशः कम होगी। आज साहित्य के क्षेत्र में अनेक एकांगी विचारधाराएँ केवल इसलिए फैली हुई हैं कि वे केवल एक साहित्य-रूप, कविता, पर आधारित हैं। बहुत सम्भव है कि कहानियों का सत्य इनमें से कुछ को एकदम ग़लत ठहरा दे, कुछ की अनावश्यक नोकें मार दे और कुछ में नये कोंढ निकाल दे।

यह धारणा ग़लत है कि साहित्य के तमाम रूपों में एक ही बात कही जाती है। रूप की विशेषता से वस्तु में भी विशेषता आ जाती है। एक ही साहित्यकार कविता में वास्तविकता का एक पहलू दिखाता है, तो उपन्यास में दूसरा, और कहानी में तीसरा। उदाहरण के लिए, रवीन्द्रनाथ और प्रसाद का साहित्य प्रस्तुत है। इसी तरह एक ही युग की कविता, उपन्यास और कहानी में वास्तविकता के विभिन्न पहलुओं के दर्शन किये जा सकते हैं।

साहित्य के रूप केवल रूप नहीं हैं बल्कि जीवन को समझने के भिन्न-भिन्न

माध्यम है। एक माध्यम जब चुकता दिखायी पड़ता है तो दूसरे माध्यम का निर्माण किया जाता है। अपनी महान् जययात्रा में सत्य-सौन्दर्य-द्रष्टा मनुष्य ने इसी तरह समय-समय पर नये-नये कला-रूपों की सृष्टि की ताकि वह नित्य विकासशील वास्तविकता को अधिक-से-अधिक समझे और समेट सके। हमारी इसी ऐतिहासिक आवश्यकता से एक समय कहानी भी उत्पन्न हुई और अपने रूप-सौन्दर्य के द्वारा इसने हमारे सत्य-सौन्दर्य-बोध को भी विकसित किया। कहानी की इसी ऐतिहासिक भूमिका की माँग है कि वर्तमान परिस्थिति मे उसकी सार्थकता की परीक्षा व्यापक सदर्भ में की जाए।

इस कार्य में पहली बाधा है कहानी-संबंधी सामान्य धारणा। कहानी-शिल्प-सम्बन्धी आलोचनाओं ने कहानी की जीवनीशक्ति का अपहरण कर उसे निर्जीव 'शिल्प' ही नही बनाया है बल्कि उस शिल्प को विभिन्न अवयवों में काटकर बाँट दिया है। लिहाजा, हम कहानी को 'कथानक', 'चरित्र', 'वातावरण', 'भावात्मक प्रभाव', 'विषयवस्तु' आदि अलग-अलग 'अवयवो' के रूप में देखने के अभ्यस्त हो गए हैं। कालेज-जीवन में 'डायग्राम' बनाकर कथानक के क्रमिक विकास की जो बात दिमाग में भर दी गई है, वह चलकर भी साथ नहीं छोड़ती। 'प्रधानता' के आधार पर कहानियों के जो 'कथानक-प्रधान', 'चरित्र-प्रधान', 'भाव-प्रधान', 'वातावरण-प्रधान', विविध प्रकारों का अभ्यास कराया गया, उसने लत का रूप धारण कर लिया। लिहाजा, हम हर नयी कहानी में चरित्र, वातावरण या कथानक देखने के आदी हो गए। किसी कहानी-संग्रह की आलोचना उठाकर देख लीजिये, सबमें इसी तरह की बातें मिलेंगी : 'इस कहानी में अमुक का चरित्र बहुत उभरकर आया है', 'वातावरण का चित्रण बहुत सुन्दर बन पड़ा है', 'कथानक बहुत गठा हुआ है।' यह सारी आलोचना वैसी ही है, जैसे किसी भाषा का परिचय उसकी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण आदि परिभाषाओं मे दिया जाय।

इस धारणा का यह असर पड़ा कि लोगों ने कहानी में जीवन-सत्य तथा भाव-बोध को देखना छोड़कर, उसे कहानी की पारिभाषिक संज्ञाओं के रूप में देखना शुरू कर दिया। 'प्रभावान्विति' और 'एकान्विति' की माला जपते हुए भी इस तरह के आलोचकों ने कहानी की अनुभूति को एक 'ईकाई' के रूप मे देखना छोड़ दिया। इस तरह उन्होंने कहानी के सत्य को ही नहीं, बल्कि कहानी के 'कहानीपन' की समझ भी खो दी।

इस गलत धारणा का असर स्वयं आलोचना पर जो कुछ पड़ा वह तो स्पष्ट ही है कि न तो वह पाठक के काम की रही और न कहानी-लेखक के काम की, परन्तु इसके अतिरिक्त इस विभक्तिवाद ने कहानी के शिल्प को बिगाड़ने में भी बहुत काम किया। मेरा अनुमान है कि वर्तमान कहानियों में जहाँ कहीं शिल्पवादी

प्रवृत्ति का अतिरेक दिखायी पड़ता है, उसका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में कहानी की इस विभक्त धारणा से अवश्य है। यदि कोई कहानीकार शिल्प के किसी विशेष अवयव की रचना करके सफलता का ढोल पीटता है तो यही समझना चाहिए कि वह कहानी को एक 'शिल्प' समझता है। श्रीपतराय का यह कथन इसी स्थिति की ओर संकेत करता है—"उनकी (आज के कहानीकारों की) कहानियाँ जैसे सफलता के पास पहुँचकर भी, या उसे मुट्ठी में पाकर उँगलियों के बीच से फिसल जाने देती हैं। किसी कहानी में वर्णन की खूबी है, किसी में प्राकृतिक दृश्यों का जीता-जागता चित्र मन को लुभा लेता है, किसी में कोई मनोवैज्ञानिक रहस्य इस सजीवता और स्वाभाविकता से उद्घाटित होता है कि चित्त प्रसन्न हो जाए, पर ऐसा बहुत कम ही होता है कि किसी कहानी के सभी पक्ष निर्दोष हों। (कहानी, विशेषांक, '५६)

कहानी की असफलता परिश्रम और अभ्यास की कमी के कारण भी हो सकती है, लेकिन अभ्यस्त लेखकों के यहाँ यदि कहानी की ऐसी रूपहानि दिखायी पड़े तो क्या कहा जायगा? यहीं कहानी के क्षेत्र में नये शिल्पवादियों की पहचान हो सकती है। 'नये भाव-सत्य' के अनुसार नये कहानी-शिल्प के नाम पर ये कहानी में कभी केवल वातावरण देते हैं, तो कभी केवल एक व्यक्ति का रेखाचित्र, तो कभी रोचक व्यंग्यों में फैलाकर आद्यन्त एक विचार। अज्ञेय की 'कलाकार की मुक्ति' और 'देवीसिंह' तथा अमृतराय का 'नंगा आदमी, नया जन्म' जैसी एक दर्जन कहानियाँ उदाहरण के लिए पेश की जा सकती हैं। फार्मूले के अनुसार कहानियाँ लिखने की प्रवृत्ति भी इसी धारणा का प्रभाव है। नये भाव-सत्य के अनुसार कहानी का रूप बदलता जरूर है लेकिन इतना नहीं बदलता कि वह कहानी ही न रह जाय। कहानी का रूप कहानी के भीतर ही बदला जा सकता है जैसा कि समय-समय पर महान् कहानीकारों ने किया है। कहानी का रूप प्रेमचन्द ने कब नहीं बदला? 'पूस की रात', 'कफन', 'ईदगाह', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'सवा सेर गेहूँ'—इन कहानियों का रूप एक-सा नहीं है और न एकदम पुराना ही है, लेकिन फिर भी ये कहानी हैं। कहानी का रूप चेखव ने भी बदला और एकबारगी उसने कथानक-सम्बन्धी पूर्ववर्ती धारणा को तोड़कर अलग कर दिया, लेकिन उसने कहानीपन का दामन एकबारगी नहीं छोड़ दिया। इससे स्पष्ट है कि कहानी-शिल्प के भी मालिक वही हैं जो उसके गुलाम हैं। क्या साहित्य, क्या जीवन, सभी क्षेत्रों में स्वाधीन होने की सामर्थ्य उन्हीं के लिए सम्भव है जिनमें अधीन रहने की योग्यता है।

कहानी में शिल्पगत नवीनता की सीमा को स्पष्ट करने के लिए साहित्य के एक दूसरे रूप 'गीत' का उदाहरण लें। नये कवियों ने नये गीत लिखे हैं लेकिन उन्होंने गीतात्मकता का ढाँचा एकदम तोड़ नहीं दिया। गीत-गोविंद, विनय-

पत्रिका, गीतिका और नये गीत-प्रयोगों की तुलना करके आसानी से देखा जा सकता है कि 'गीत' के एक ढांचे की रक्षा करते हुए भी समर्थ कवियों ने समय-समय पर किस प्रकार उसके रूप में नवीनता उत्पन्न की है।

इसी प्रकार कहानी के कहानीपन की रक्षा करते हुए भी कहानी के शिल्प मे नवीनता उत्पन्न की जा सकती है। जैसे कुछ दिन पहले प्रकाशित 'राजा निरबसिया' (कमलेश्वर)। यहाँ एक लोककथा की पृष्ठभूमि में एक आधुनिक निम्न मध्यवर्गीय परिवार की कहानी कही गई है। दो भिन्न-भिन्न युगों के दो निरबंसियो की जीवन-कथा दो रेखाओं की तरह एक-दूसरे को छूती और काटती हुई चलती चली जाती है। कहानी मे लोककथा का यह उपयोग शिल्प-सम्बन्धी नवीनता कही जा सकती है; लेकिन यह कोरा शिल्प नही है, न इससे कहानी के कहानीपन में बाधा पड़ती है। इसके विपरीत, वह लोककथा मुख्य कथा को और भी मार्मिकता प्रदान करती है, जैसे दो समीपवर्ती तारो मे से एक की झंकार दूसरे मे भी सह-स्पन्दन उत्पन्न कर देती है। मुख्य कथा की गति मे जैसे ही सवेदना की तीव्रता आती है, वह सहधर्मी लोककथा से छू जाती है और हम देखते हैं कि लोककथा का टूटा हुआ सूत्र अनजाने ही हाथ मे आ गया है। शिल्प के लिए लायी हुई अतीत की कथा यह वर्तमान वास्तविकता को उभारने के साथ ही अतीत का अर्थ भी हमारे लिए बदल देती है। और अन्त मे दो कथाओं की विषमता दो युगों की विषमता की गहरी खाई पर ही रोशनी नहीं डालती है, बल्कि वर्तमान वास्तविकता पर मीठा व्यंग भी करती है कि इतना विकास करने के बाद भी आज का निम्न मध्यवर्गीय युवक है कि अपनी पत्नी को स्वीकार नही कर सकता, जब कि शताब्दियों पहले एक राजा ने सारी लोकमर्यादा छोड़कर अपनी रानी को अपना लिया। यह अन्तर दो युगों का है या दो वर्गों का या कल्पना और यथार्थ का? शिल्प-विधान का यह नया प्रयोग कहानी में अनेक अर्थों और व्याख्याओं की सम्भावना भर देता है और इस तरह एक विशेष घटना के भीतर से मानवीय सत्य की व्यापकता उद्भासित हो उठती है।

यहाँ इस एक कहानी के विस्तार मे जाने का अवसर नही है और न तो इसका यही अर्थ है कि नये शिल्प-विधान के द्वारा कहानीपन की रक्षा करने वाली यह एकमात्र नयी कहानी है। कहानियाँ और भी हैं तथा शिल्प के नये विधान दूसरे-दूसरे भी हैं—यहाँ तक कि इनके लिए कोई सीमा नहीं बनायी जा सकती। असल बात है कहानी का कहानीपन। यह आकस्मिक नहीं है कि कहानीपन की उपेक्षा करके केवल शिल्प के लिए लिखी हुई एक भी श्रेष्ठ कहानी नहीं बन सकी। पत्र और डायरी-शैली मे जाने कितनी कहानियाँ लिखी गईं, लेकिन उनमें से एक भी कहानी ऐसी नहीं है जिसका नाम श्रेष्ठ कहानियों मे लिया जा सके या जो लोक-चित्त पर अमिट छाप छोड़ गई हो। इसके विपरीत पिछले आठ-दस वर्षों के

भीतर की 'हत्या-भरन' (तेजबहादुर चौधरी), 'गदल' (रांगेय राघव), 'छोटा डाक्टर' (निर्गुण), 'चीफ की दावत' (भीष्म साहनी), 'सिद्ध और सेवती के फूल' (सति तिवारी), 'भैंस का कट्या' (विद्यासागर नौटियाल), 'जिन्दगी और जोंक' (अमरकान्त) आदि श्रेष्ठ कहानियाँ सबकी सब कहानी भी हैं।

कहानी का यह कहानीपन समझाने में कठिन होते हुए भी कोई 'रहस्य' नहीं है। कविता में जो स्थान लय का है, कहानी में वही स्थान कहानीपन का है। कविता चाहे जिस हद तक उन्मुक्त हो जाए, लेकिन वह लयमुक्त नहीं हो सकती। लयमुक्त रचना काव्य होते हुए भी कविता नहीं कहलायेगी। कहानीपन से रहित गद्यरचनाओं के बारे में भी यही बात लागू होती है। लय की तरह ही कहानी कहना मनुष्य की काफी पुरानी कलात्मक वृत्ति है और इसकी रक्षा अपने-आप में स्वयं भी एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक कार्य है और इतिहास से प्रमाणित होता है कि नीति, लोक-व्यवहार, धर्म, राजनीति आदि विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस कला का उपयोग करते हुए भी मानवजाति ने आज तक इसकी रक्षा की है। निःसन्देह इस कला का चरम विकास आधुनिक युग में हुआ जब उद्देश्य और कहानीपन दोनों घुल-मिलकर इस तरह एक हो गए कि उद्देश्य से अलग कहानी के रूप की कल्पना भी कठिन हो गई। कहानी के सम्बन्ध में आधुनिक युग के प्रथम कहानीकार एड्गर एलन पो के 'एकान्विति' शब्द से निःसन्देह अनेक अर्थों की सम्भावनाएँ हैं। कहानी की यह आंतरिक एकता केवल रूप-गठन तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसकी वस्तु का भी समाहार करती है। जिस प्रकार कविता में अर्थ-व्यंजना अथवा वस्तु-व्यंजना से भिन्न लय की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार कहानी में भी वस्तु-व्यंजन से भिन्न कहानीपन की कल्पना करना खतरनाक है। वस्तु-व्यंजना से रहित लय कोरे पद्य को जन्म देती है, उससे रहित कहानीपन कोरी आख्यायिका को।

इसलिए कहानी के कहानीपन की सफलता का अर्थ है उसकी अर्थवत्ता या सार्थकता। नये कहानीकार कहानी की इस शक्ति से भली भाँति परिचित हैं। 'राजा निरबंसिया' में कहानीपन की रक्षा करनेवाले लेखक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "केवल सोद्देश्यता की पृष्ठभूमि में ही आज के लेखक की कहानियों का अध्ययन किया जा सकता है।" इस सोद्देश्यता को मैं सार्थकता कहना चाहता हूँ क्योंकि आजकल सोद्देश्यता का बहुत सीमित अर्थ किया जाने लगा है। लेकिन मूलतः इसका अर्थ है एक इशारा—इशारा एक दिशा की ओर या एक अनदेखी स्थिति की ओर। कहते हैं कि जब डाक्टर को मर्ज़ का पता नहीं चला तो एक प्रसिद्ध चित्रकार ने उसके पास अपना नग्न चित्र बनाकर एक जगह छोटा-सा धब्बा लगाते हुए इस नोट के साथ भेज दिया था कि 'यहाँ दुखता है।' कहानी में इतना-सा इशारा ही सोद्देश्यता है। दर्द से छटपटाते हुए जिस व्यक्ति अथवा समाज

को यह पता न हो कि दर्द कहाँ है और क्या है, उसके लिए उसकी दुखती रग पर हाथ रख देना भी बहुत बड़ी बात है।

लेकिन कहानी में जब मैं सार्थकता की बात करता हूँ तो इसका यह अर्थ है कि कहानी हमारे जीवन की छोटी-से-छोटी घटना में भी अर्थ खोज लेती है या उसे अर्थ प्रदान कर देती है। इस युग में, जब कि 'निरर्थकता' की भावना व्यापक रूप से फैली हुई है और एक वर्ग के लोगों द्वारा फैलायी भी जा रही है, कहानी-जैसे छोटे गद्य-रूप से सबसे पहले सार्थकता की माँग की जा सकती है। यह नहीं है कि छोटी-छोटी बातें ही अर्थहीन प्रतीत होती हों, कुछ लोगों को अपना सारा का सारा जीवन ही अर्थहीन मालूम होता है और कुछ को तो दुनिया का सारा कारोबार भी व्यर्थ लगता है। परन्तु लघुता में निरर्थकता का खतरा सबसे अधिक है। कहानी की सृष्टि इसी लघुता को सार्थकता प्रदान करने के लिए हुई थी।

लोगों की यह धारणा गलत है कि कहानी जीवन के एक टुकड़े को लेकर चलती है, इसलिए उसमें कोई बड़ी बात कही ही नहीं जा सकती। कहानी जीवन के टुकड़े में निहित 'अन्तर्विरोध', 'द्वन्द्व', संक्रान्ति' अथवा 'क्राइसिस' को पकड़ने की कोशिश करती है और ठीक ढंग से पकड़ में आ जाने पर यह खंडगत अन्तर्विरोध भी बृहद् अन्तर्विरोध के किसी-न-किसी पहलू का आभास दे जाता है। यह खंडगत अन्तर्विरोध की पकड़ श्रेष्ठ कहानियों के कथानक में कहीं नाटकीय मोड़ पैदा करता है तो कहीं चरित्र को वस्तुस्थिति के साथ संघर्ष करते दिखलाता है और कभी स्वयं उस चरित्र के भीतर संकल्प-विकल्प की दुविधा दरसाता है या फिर उसके चिन्तन और कार्य के बीच विडम्बना (आयरनी) को चित्रित करता है। यह एक विरोधाभास है कि कहानी-जैसा एकान्वित शिल्प अन्तर्विरोध पर निहित होता है। नये कहानीकारों में भीष्म साहनी में एक ही साथ इन दोनों विशेषताओं का सर्वोत्तम सामंजस्य मिलता है। इस दृष्टि से भीष्म साहनी सबसे सफल कहानीकार हैं। एक इकाई के रूप में उनकी कहानियाँ अत्यन्त गठित होती हैं, साथ ही प्रायः किसी-न-किसी प्रकार की विडम्बना (आयरनी) को व्यक्त करती हैं और यह विडम्बना किसी-न-किसी रूप में हमारे वर्तमान समाज के व्यापक अन्तर्विरोध की ओर संकेत करती है। उदाहरण के लिए, उनकी 'चीफ की दावत' कहानी ही लीजिये।

कहानी शुरू होते ही 'संकट-बिन्दु' उपस्थित हो जाता है या यों कहें कि 'संकट' से ही कहानी शुरू होती है :

"अब घर का फालतू सामान आलमारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा। तभी शामनाथ के सामने सहसा एक अड़चन खड़ी हो गई, माँ का क्या होगा ?"

'चीफ की दावत' में अपनी निरक्षर और बूढ़ी माँ ही एक समस्या बन गई;

जैसे घर के 'फालतू सामान', बल्कि सामान से भी बड़ी समस्या। सामान को छिपाना तो आसान है लेकिन इस जीवित सामान का क्या करे ? और इस तरह शामनाथ एक कूड़े की तरह अपनी माँ को इस घर या उस घर में छिपाता फिरता है। उधर माँ है कि लड़के के इस व्यवहार का बुरा नही मानती, बल्कि स्वय ही अपने अस्तित्व से सकुचित हुई जा रही है और लड़के के भले के लिए अपने को यहाँ से वहाँ छिपाती फिरती है। एक विडम्बना यह भी है। परन्तु हुआ यह कि शामनाथ ने जिस चीज़ को इतना छिपाया, आखिर मे वह खुल ही गई। चीफ ने माँ को देखा ही नहीं बल्कि बुरी हालत मे देखा। परन्तु शामनाथ की घबराहट के बावजूद स्थिति सुधर गई। चीफ माँ से स्वय मिले। और अन्त मे शामनाथ ने देखा कि जिस 'सामान' को छिपाने के लिए उन्होंने इतनी परेशानियाँ उठायी, वह खुल ही नही गया बल्कि हितकर भी साबित हुआ। यहाँ तक कि दावत से भी बढ़कर ! यह सबसे बड़ी विडम्बना है। और गहरे जाकर देखें तो माँ केवल एक चरित्र नहीं बल्कि प्रतीक भी है—प्रतीक, सम्पूर्ण प्राचीन का !

इससे स्पष्ट हो सकता है कि एक समर्थ कहानीकार किस प्रकार जीवन की छोटी-से-छोटी घटना मे अर्थ के स्तर-पर-स्तर उद्घाटित करता हुआ उसकी व्याप्ति को मानवीय सत्य की सीमा तक पहुँचा देता है। ऐसे अर्थगर्भत्व को मैं सार्थकता कहता हूँ।

हमारे सन्त कवियों ने इसी तरह पिंड के भीतर ब्रह्मांड का दर्शन कराया था और भक्त कवियों ने मानव-चरित्र के भीतर विराट् की लीला को उद्घाटित किया था। हद मे बेहद और मानव मे भगवान की उद्भावना इसी अर्थवत्ता का मध्य-युगीन रूप है। काव्यशास्त्र के आचार्य ने मुख्यार्थ के भीतर से जो अर्थ की व्यंजना करायी थी, वह भी इसी का एक रूप है। जीवन का सत्य इसी तरह खड के भीतर से, किन्तु उसे खडित करता हुआ पूर्ण की ओर सकेत करता है, खड की सीमा को तोड़कर पूर्ण से मिलता है, मुख्यार्थ को बाधित करके रसमय अर्थ को व्यंजित करता है, जीवन की हर छोटी घटना के भीतर से सम्पूर्ण जीवन की सार्थकता का अनुभव करता है।

इस प्रकार जीवन के प्रत्येक प्रसंग मे निहित अन्तर्विरोध को पकड़कर जागरूक कहानीकार उसे सार्थकता प्रदान करते हैं। राजेन्द्र यादव के नवप्रकाशित कहानी-सग्रह 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' की भूमिका के बीच भी हम 'डाक्या तृतीय' होने का सकट उठाकर इसे 'ओवरहीयर' कर सकते हैं। अपनी 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' का अर्थ समझाते हुए वह वर्तमान जीवन के एक अन्तर्विरोध की ओर सकेत करते हैं। वह प्रेमिका और पत्नी दोनो की भूमिकाएँ एक साथ ईमानदारी से निबटाने का ढोंग करती है—"ट्रेजेडी यह नहीं है कि वह दोनो के प्रति सच्ची क्यों नहीं है, ट्रेजेडी यह है कि वह दोनो मे से किसी एक को अपने जीवन से झटककर

नहीं निकाल सकती।"

जहां अन्तर्विरोध है, वहां विरोधी तत्त्वों में से किसी को भी झटककर नहीं निकाला जा सकता। यदि कहानीकार कहानी में एक विरोधी तत्त्व को निकाल देता है अथवा उसे जबर्दस्ती कमज़ोर कर देता है या उस द्वन्द्व को जल्दी-जल्दी निपटाने की कोशिश करता है तो वह कथानक को उत्सुकताहीन, चरित्रों को सपाट और वस्तु पर उद्देश्य का आरोप ही नहीं करता, बल्कि अपनी कहानी की सार्थकता भी नष्ट करता है। अन्तर्विरोध को अपनी सम्पूर्ण तीव्रता से ग्रहण करके ही किसी कहानी को सघन और सार्थक बनाया जा सकता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी घटना-प्रसंग में निहित अन्तर्विरोध को कम करना सपाटता है तो उसे वास्तविकता से अधिक तीव्र करना भावुकता है या फिर दिमागी ऐयाशी। अक्सर देखने में आता है कि जिन्हें अन्तर्विरोध के बीच ठीक दिशा मालूम है, कहानी को बिल्कुल सपाट बना देते हैं और जिन्हें कोई दिशा नहीं सूझती, वे उसे और भी उलझा देते हैं। 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' में राजेन्द्र यादव ने इस सत्य को उलझा दिया है, जिसके लिए पाठकों पर उनका आरोप है कि कहानी को लोगों ने गलत समझा है। लोग तो ग़लत समझेंगे ही, लेकिन जिनके लिए वे लिखते हैं वे 'कमज़ोर लड़कियाँ' उसे गलत नहीं समझेंगी। कमज़ोरी उभारने के लिए ताक़त की बात कही जाती है तो उलझ ही जाती है। किसी आलोचक ने बिलकुल ठीक ही लिखा है कि राजेन्द्र यादव का लेखन बहुत उलझा हुआ होता है। यह बात राजेन्द्र यादव के शिल्प के बारे में जितनी सत्य है, उतनी ही वस्तु के बारे में भी। शायद इसीलिए वे प्रायः चक्करदार शिल्प गढ़ने के चक्कर में रहते हैं और उनकी भाषा की पेचीदगी भी सम्भवतः इसी का परिणाम है। 'खेल-खिलौने' कहानी से लेकर 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' तक में इस पेचीदगी और उलझन को देखा जा सकता है। अपनी कहानियों के द्वारा वह एक अतिरिक्त तीव्रता उत्पन्न करना चाहते हैं, फलतः कहीं वह कथानक में पेच डालते हैं तो कहीं भावनाओं के स्तर पर मानसिक गुत्थियाँ। लिहाज़ा, उनके चरित्र विचित्र हो उठते हैं और कहानी अवास्तविक। जिन्हें समस्या को धैर्य के साथ धीरे-धीरे सुलझाने की अपेक्षा परिश्रम से उलझाने में ही एक सुख मिलता है, उनकी कला की यही गति होती है।

इस मामले में मोहन राकेश की स्थिति थोड़ी भिन्न है। जैसाकि उन्होंने 'नये बादल' कहानी-संग्रह की भूमिका में लिखा है, उनकी पैनी दृष्टि अपने आसपास की हर घटना में कहानी ढूंढ लेने की क्षमता रखती है—कहानी अर्थात् कहानी की 'वस्तु' अथवा अर्थ। यह बहुत बड़ी बात है। आधुनिक कहानीकारों में यह सामर्थ्य हम केवल यशपाल में पाते हैं। जब कोई कवि हर चीज़ में कवित्व देखने लग जाए ...र कोई कहानीकार हर घटना में कहानीपन पा जाए तो उसमें बहुत बड़ी ...ना का बीज समझना चाहिए। लेकिन इसके बाद भी बहुत-कुछ शेष रह

जाता है। यथार्थ की इस विविधता मे 'सुपरफ्लुअस' होने का बहुत बड़ा खतरा है। इस प्रवृत्ति, अन्धकार मे उड़ते हुए जुगनुओ को पकड़ने-जैसी है। अन्धकार के कणो से मिर्चमिचानी आँखो को बन्द कर लेने की अपेक्षा जुगनुओ को देखने का साहस कही अधिक सराहनीय है, लेकिन जुगनू रोशनी नही है।

अपने आसपास के वातावरण मे उडती हुई कहानियो को पकडकर नि सन्देह मोहन राकेश ने उन्हे उतनी ही तेजी के साथ व्यक्त किया है जो मन में एक 'फ्लैश' की तरह कौंध जाती हैं। लेकिन लगता है कि उन्होने अभी बिजली की कौंध ही पकडी है, बिजली की वह शक्ति नही पकडी है जिसका उपयोग हम अपनी सीमा मे उष्णता तथा आलोक के लिए कर सके जो कि मनुष्योचित सामर्थ्य का प्रतीक है। अत कुछ लोग मोहन राकेश को 'डाकबँगलो का कहानीकार' कहते हैं। लोकप्रिय कहानीकार सामरसेट माम की तरह मोहन राकेश भी जैसे अपनी यात्राओ मे कहानी बटोरते चलते हैं और यात्रा के दौरान प्राप्त कहानियो की तरह ही इनमे गहरी मानवीय सवेदना का अभाव मिलता है। वस्तुत यात्रा की सवेदनशीलता बडी 'सुपरफिशल' होती है। यात्रा मे या तो हम अतिरिक्त सवेदनशील होते हैं या फिर नितान्त सवेदनशील। हम परदेश में हैं, पराये लोगो के बीच हैं, 'अपने' लोगो से मुक्त हैं, यहाँ हमारे बारे मे कोई कुछ नही जानता, आदि बातें मन की स्थिति को सहज नही रहने देती। इस तरह की कहानियो की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वे दर्शक का सत्य हैं, द्रष्टा का सत्य नही।

बड़ी ईमानदारी के साथ मोहन राकेश ने स्वीकार किया है कि हमारी पीढी ने यथार्थ के अपेक्षाकृत ठहरे हुए अर्थात् वैयक्तिक और पारिवारिक रूप को अपनी रचनाओ मे अधिक स्थान दिया है, जो समूची पीढी के लिए तो सच नही है, लेकिन कई कहानीकारो पर ठीक बैठता है। यायावर को अपनी यात्रा मे उड़ती हुई कहानियों का टूटा हुआ सत्य ही मिल पाता है, जिसे चाहे तो 'ठहरा हुआ' भी कह सकते हैं। नि.सन्देह कुछ कहानीकार लम्बी यात्राएँ न करते हुए भी वर्तमान जीवन मे वस्तुत. 'यायावर' हैं।

और यहाँ हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जो कुछ हाथ लग जाए या दृष्टि मे पड जाए वह सब सार्थक नही है। हर घटना मे अन्तर्विरोध को लक्षित करना एक बात है लेकिन युग के मुख्य अतर्विरोध के प्रवाह मे सार्थक घटनाओं को सकलित करना बिलकुल दूसरी बात है। कहानीकार की सार्थकता इस बात मे है कि वह अपने युग के मुख्य सामाजिक अन्तर्विरोध के सदर्भ मे अपनी कहानियों की सामग्री चुनता है। ऐतिहासिक विकास के दौरान विरोधी शक्तियो के सघर्ष के फलस्वरूप जीवन के नये-नये क्षेत्र खुलते चलते हैं, पिछले युग की दबी हुई शक्तियाँ उभर आती हैं और उभरी हुई शक्तियाँ दब जाती हैं, गौण प्रधान हो जाता है और प्रधान गौण। इस प्रकार सामाजिक अन्तर्विरोध का रूप ही नही बदलता, बल्कि उसमें भाग लेने

वाली अथवा भाग न भी लेने वाली, किन्तु भाग होने वाली, हर सामाजिक इक
के भीतर अन्तर्विरोध के रूप भी बदल जाते हैं।

वर्तमान वास्तविकता में मेहनत करने वाले लोगों का उभरना और दूसरों
मेहनत पर जीने वालों का दबना ऐतिहासिक तथ्य है। स्वाभाविक है कि जीव
शक्ति और सौन्दर्य का आधार इस नयी शक्ति के जीवन में दिखायी पड़े और इ
नयी शक्ति की समस्याओं की ओर जागरूक कहानीकारों का ध्यान जाये। जह
कुछ कहानीकारों ने अपनी मध्यवर्गीय वास्तविकताओं के चित्रण में ही अपनी कल
की सार्थकता समझी, वहाँ दूसरे कहानीकारों ने इसमें सम्भवतः कोई रस न पाक
नये जीवन के प्रतीक गाँवों की ओर दृष्टि दौड़ायी। इसे अपनी वास्तविकता
पलायन नहीं कहा जा सकता। अपने वातावरण से लड़ने के लिए पहले भी मध्य
वर्ग ने व्यापक जन-शक्ति का सहारा लिया है। इसलिए इन नये कहानीकारों की
यह निर्वैयक्तिकता सराहनीय है। सम्भवतः शहरों के मध्यवर्गीय जीवन में जीवन
और सौन्दर्य को न पाकर ही महत्त्वाकांक्षी कहानीकारों ने गाँवों की राह ली। जो
जीवन स्वयं ही निष्कर्ष प्रतीत हो रहा हो उसमें सार्थकता की खोज कहाँ तक की
जा सकती है? मध्यवर्गीय जीवन को लेकर लिखी हुई आज की शायद ही कोई
वास्तविक कहानी ऐसी हो जिसमें जीवन का स्वस्थ सौन्दर्य और मानव की ऊर्ज-
स्वित शक्ति मिले। इसके विपरीत गाँव के जीवन को लेकर लिखी हुई कुछ कम
वास्तविक कहानी में भी ऐसे वातावरण तथा ऐसे चरित्रों के दर्शन हो सकते हैं।
रांगेय राघव की 'गदल', मार्कण्डेय के 'गुलरा के बाबा', 'हंसा जाई अकेला' वाले
'हंसा', शिवप्रसादसिंह की 'कर्मनाशा की हार' वाले 'भैरो पाडे' जैसे सशक्त व्यक्ति
केवल चरित्र नहीं बल्कि आज की ऐतिहासिक शक्ति के प्रतीक हैं।

इन कहानियों ने निरर्थक प्रतीत होने वाले वर्तमान जीवन में भी शक्ति और
सौन्दर्य की झलक दिखाकर जीवन की सार्थकता में आशा बँधायी है। इसलिए देखते-
देखते इस जीवन के चित्रकार नवोदित कहानीकारों ने कहानी के क्षेत्र में अपनी
जगह बना ली। यह सफलता केवल नयी सामग्री की सफलता नहीं है, बल्कि वर्तमान
जीवन के एक सार्थक सत्य को पहचानने की सफलता है।

इस कठिन कार्य में हमारे इन नये कहानीकारों को सचमुच उतनी सफलता
नहीं मिली है, जितनी अन्य अनुभव-सत्यों के चित्रकार कहानी-लेखकों को मिल
चुकी है। किन्तु इसका एक कारण यह है कि उन कहानीकारों को कहानी की एक
बनी-बनायी परिपाटी प्राप्त है—वस्तु की भी और वस्तु के अनुरूप शिल्प की भी,
जबकि इन नये कहानीकारों को बहुत-कुछ अपने अनुभव और अभ्यास से निर्माण
करना है। सचमुच 'इसे समझने के लिए पूरे दो युगों की *सम्पूर्ण संयोजित चेतना*
का उपयोग करना पड़ेगा।'

अन्त में इस निबन्ध के उद्देश्य और सीमाओं का समाहार करते हुए निवेदन

करना चाहूँगा कि नयी कहानी-कला को अपनी विशेषता के साथ ही सम्पूर्ण साहित्य के मान और मूल्यों के संदर्भ मे देखने की आवश्यकता है और उसके लिए कहानी-समीक्षा की एक व्यापक और निश्चित 'भाषा' का निर्माण भी होना चाहिए। मेरी अपनी सीमा यह है कि मैं अब तक मुख्यत: काव्य का पाठक रहा हूँ (जिसका आभास इस कहानी-सम्बन्धी लेख मे भी लाचारी के कारण आ गया है।) कहानियाँ मैंने कम पढ़ी हैं और उनमें अन्तर्निहित सत्य को समझने तथा व्यक्त करने की 'भाषा' भी अब तक नहीं तय कर पाया हूँ। अपनी सीमाओं मे संकोच का अनुभव करते हुए भी मेरा विश्वास है कि कहानियो के अधिक और समर्थ पाठकों के सहयोग से प्रस्तुत आधार पर कहानी-समीक्षा के सन्तुलित प्रतिमान तैयार हो सकते है।

('कहानी' : १९५८)

आज की हिन्दी-कहानी : नयी प्रवृत्तियाँ

हृषीके

आज की हिन्दी-कहानी की प्रवृत्तियाँ, और वे प्रवृत्तियाँ नयी हों तो, क्या हैं
इसकी समुचित व्याख्या के लिए किसी हद तक गहरे तात्त्विक चिन्तन की अपे
होनी चाहिए। यानी, केवल यह बता देना कि आज की हिन्दी-कहानी की अमुक
अमुक प्रवृत्तियाँ हैं, यह विषय की बाहरी चीज हुई। साथ ही उसमें किसी नय
स्थापना के लिए गुंजाइश कम ही रहेगी। उदाहरण के लिए, आज की कोई प्रवृत्ति
जिसे हम नयी कहें, हो सकता है, किसी पुरानी प्रवृत्ति (तब भले ही वह 'प्रवृत्ति'
रही हो) का पुनः प्रस्तुतीकरण हो। प्रेमचन्दोत्तर काल में एक प्रदीर्घ मौन के
पश्चात् पुनः ग्राम-जीवन पर कहानियों का उदय नयी उपलब्धि अस्तु, नयी प्रवृत्ति
के रूप में प्रचार पा रहा है, यद्यपि तह में देखा जाए तो यह एक स्वस्थ और प्रकृत
प्रवृत्ति का अस्वाभाविक, परिवर्तित, कृत्रिम और डिस्टार्टेड पुनः प्रस्तुतीकरण ही
है, जिसके अन्तर्भूत तथ्यों और सत्यों का गला मरोड़ दिया गया है। जिन बहुत-
सारी बातों को हम नयी प्रवृत्ति कह या समझ रहे हैं, उनमें तीन-चौथाई ऐसी हैं,
जिनमें पुनः प्रस्तुतीकरण का दोष व्याप्त है। प्रस्तुत निबन्ध में मैंने विषय को
प्रवृत्तियों की ओर इंगित करने का साधन-मात्र माना है।

हिन्दी-कहानी में नयी प्रवृत्तियों के आने की बात अभी कुछ पिछले दो वर्षों से
होने लगी है। अपने-आप में यह स्वयं एक प्रवृत्ति का काम पूरा करती है। प्रवृत्ति-
मूलक होने के कारण हिन्दी-कहानी को 'नयी कहानी' कहा जा रहा है। यह प्रयास
इसलिए प्रतीत होता है कि हिन्दी-कहानी को भी हिन्दी-कविता के समानान्तर,
समान गुणों से प्रतिष्ठित कर दिया जाए। ऐसा लगता है, हिन्दी-कहानी में प्रत्यक्ष
रूप से नयी प्रवृत्तियों के उद्भूत होने के पूर्व ही उसे नयी प्रवृत्तियों से अभिभूत कर
देने की आवश्यकता समझी गई है, क्योंकि कविता के मुकाबले कहानी बहस के
दौर में नहीं आयी। कहानी-साहित्य का सर्वेक्षण और मूल्यांकन करते समय कई
उत्साही आलोचकों ने लगभग उसी दृष्टि का सहारा लिया है, जिसे कविता
के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा। कहानी-कविता का समानान्तर स्तर पर देखना
वर्तमान आलोचना में चिन्तन के [illegible] अभाव का सूचक है। यहाँ के [illegible]

भी झूठी पड़ जाती है कि, पहले कृतित्व तब समीक्षा, या पहले समीक्षा तब कृतित्व ? कहानीकारों और आलोचकों के बीच इस दिशा में प्रायः समझौता दीखता है और इनके मिले-जुले प्रयासों ने कविता को कहानी पर हावी करा दिया है। कहानी में नयी प्रवृत्तियाँ विकसित होने और उनकी परख करने के लिए स्वतन्त्र मार्ग न खोजकर उसे कविता की पूँछ में बाँधकर घसीटना पड़ा। पर कहानी के लिए दुर्भाग्य इस बात में है कि वह कविता की तरह हौआ बनकर ही सही, अपनी सत्ता दृढ़ नहीं कर सकती। लेखक-आलोचक इस ख्याल में है कि अगर कविता में ध्वनि, नाद, विरामादि चिह्नों के विचित्र प्रयोग, प्रतीकभरी व्यंजना, अभिव्यक्ति के सडेन ट्विस्ट और खुशनुमा भड़कीले पोस्टरों की तरह अजनबी दीपक नयी सम्वेदना उभारते है, तो कहानी में भी इन्हें क्यों नहीं आजमाया जा सकता ? कहानी-संग्रहों की भूमिकाओं और आलोचनाओं के माध्यम से हिन्दी-कहानी का प्रदीप्त मुख झलकाने के लिए उन तमाम मुश्किल टेकनिकल शब्दों को जोड़ा-बटोरा गया है, जो अब तक कविता के हिस्से में थे, और अब उपन्यास, नाटक आदि की नयी प्रवृत्तियाँ भी इन्हीं चौखटों में गर्दन डालकर झाँकना शुरू कर दें, तो तौबा करने की आवश्यकता ही न रहे।

लेकिन कविता और कहानी की विकास-यात्रा में जो बड़ा भेद है, उसे उजागर कर देने पर कविता-कहानी की नागफाँस टूट जाती है। हिन्दी की नयी कविता अपनी पिछली प्रवृत्ति की तीव्र प्रतिक्रिया, विद्रोह और उससे मुक्त होने के प्रयास का प्रतिफल है। नयी कविता ने अपनी पूरी शास्त्रीयता का नवीनीकरण कर लेना अपना लक्ष्य माना है। हिन्दी-कहानी के साथ प्रतिक्रिया और विद्रोह की ऐसी कहानी नहीं है। उसकी विकास-यात्रा में कोई ऐसा उलट-फेर नहीं, जो च्युत परम्परा अथवा विच्छिन्नता की सूचना दे। नयी कविता ने सिर से पैर तक नये उपादान और नयी प्रणाली ग्रहण की है और उसे द्विवेदी-काल से प्रगतिवाद-काल तक की काव्याभिव्यक्ति को क्षीण, असफल, भिलमिल, कर्कश और शुष्क बता देने में संकोच नहीं, उसका यह भी कहना है कि वास्तविक (कान्क्रीट), श्रेष्ठ और उच्च कविता अब लिखी जाएगी। कहानी के न ऐसे दावे है, न हठधर्मी। थोड़ी आधुनिकता और शिल्प-चमत्कार के अलावा बाकी सभी मामलों में हिन्दी की वर्तमान कहानी पूर्ववर्तियों का अनुसरण करके चल रही है। हिन्दी-कविता में हिन्दी-कहानी की तरह 'प्रेमचन्द की परम्परा' के अनुरूप 'प्रसाद की परम्परा' नाम की चीज सुनने को कभी नहीं मिली। हिन्दी-कहानी प्रेमचन्द की ऋणी है, कविता में प्रसादोत्तर अभिव्यक्तियाँ प्रसाद के लिए चुनौती-सदृश हैं। अगर हिन्दी-कहानी की नयी प्रवृत्तियों को सही रूप में देखना है तो उसे कविता के प्रभाव से हटाना पड़ेगा और कहानी-साहित्य के मूल्यांकन के लिए स्वतन्त्र समीक्षा-पद्धति बनानी पड़ेगी। मुझे हिन्दी-कहानी की ये तथाकथित प्रवृत्तियाँ, जो कविता के साँचे में

उभरकर आती है, नयी प्रवृत्तियों के रूप में स्वीकार्य नहीं। खेद है, कहानी की बा
कविता की चर्चा अधिक विस्तार से मुझे करनी पड़ी।

ऊपर पुनःप्रस्तुतीकरण की बात चलायी गई है। आज के कथाकारों के लि
इसके विभिन्न स्रोत हैं। देश-विदेश का साहित्य सहूलियत से प्राप्त है। अतः पु
प्रस्तुतीकरण के वास्ते न केवल हिन्दी तथा हिन्दीतर भाषाओं के साहित्य हैं, वर
यूरोपीय साहित्य भी है। कोई मोपासाँ की मजेदार, लम्बे-लम्बे वाक्यों वाली
भावुकतापूर्ण भाषा में रोमांस के अतीन्द्रिय गुण देनेवाले चित्र अंकित क
रहा है, कोई सारोयन-सदृश अमरीकी लेखकों के कथा-वस्तुविहीन कोई वर्णना
त्मक और रूमानी वातावरण बुनकर कहानी में औत्सुक्य और उत्तेजना की सृष्टि
कर रहा है, कोई हेमिंग्वे-कामू आदि की ऋजु और निर्मल भाषा-शैली का प्रवाह
लाने की धुन में स्वादहीन, लाइट स्टोरी के अम्बार खड़ा कर रहा है, कोई हार्डी
के प्रकृति चित्रण, सैण्डस्केप और ग्रामयुवतियों के दर्द और अवसादमय वाता-
वरण की अनुभूति जगा रहा है, कोई शरत की पीड़ा, मन्टो की सेक्स-विषयक पैठ
पर काबू पाने में लगा है और ऐसों को तो गिनती ही नहीं, जो कहानी को आज
भी अप्रत्याशित रूप से अधर में डाल देना कहानी-कला की इति मानते हैं। घरेलू
और पारिवारिक जीवन पर इस समय काफी कहानियाँ लिखी जा रही हैं, उन्हें
नयी प्रवृत्ति से सम्बोधित किया जा रहा है। और ऐसी समस्त कहानियाँ जीवन के
द्वन्द्व, संघर्ष और उद्वेलन चित्रित करने से दूर भागती हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के
बाद कहानीकारों ने अपनी रचनाओं में द्वन्द्व और संघर्ष का उत्कट चित्रण ठप कर
दिया और वैयक्तिक ऊहापोह-भरे, राहत, थकान, लाचारी और ऐकान्तिक सुख के
चित्र ज्यादा दिये। विशेषकर ग्राम-कहानियों में प्रेमचन्द्युगीन चरित्रों के उद्वेग,
संघर्ष और उनकी साधना की जगह गाँव के रीति-रिवाजों, तौर-तरीकों और
अटपटे चरित्रों को चित्रित करने पर ज्यादा झुकाव हुआ है। वर्तमान हिन्दी-
कहानी ने अपनी पूर्ववर्तियों से और सब-कुछ लिया है, पर उनका साहस और
उनकी कर्मठता को त्याग दिया है। आज की हिन्दी-कहानी में, ग्राम-कहानियों में
विशेषकर, स्वान्तःसुखाय की भावना प्रबल है। पुनःप्रस्तुतीकरण की प्रवृत्ति ने तरुण
कथाकारों को नुस्खापसन्द बनाया है और प्रायः सभी ज्यादे-से-ज्यादा चौंकाने
और ध्यान आकृष्ट करने की कला को अपना ध्येय बना रहे हैं।

चौंकाने और ध्यान आकृष्ट करने के अर्थ में एक विशेष प्रवृत्ति ने हिन्दी कहानी
में अपना मार्ग बनाया है, जिसके आग्रहपूर्ण और विवादग्रस्त लक्ष्यों का दुःखद
प्रभाव पड़ा है। वे हैं अंचल-विशेष पर लिखी गई कहानियाँ और लेखकों द्वारा
उनकी सार्थकता सिद्ध करना और इस वर्गीकरण को खुलेआम प्रोत्साहन देते हुए
भी छद्मवेष में अपने कैथोलिक सेन्स का इज़हार करना। लगभग वे समस्त लेखक इस
बखेड़े में गहरी दिलचस्पी लेते हुए पतिबद्ध हैं जिनका लेखन अधिकांश में सामान्य

कोटि का, असफल और क्षणकालिक है, क्योंकि वे अपने यश का दारोमदार अपने कृतित्व की अपेक्षा इस प्रवृत्तिविशेष के विज्ञापन को मानते हैं, जिसके बिना उनका अस्तित्व अवशिष्ट नहीं है। यह बात निर्ममता के साथ स्वीकार करनी पड़ती है कि प्रवृत्तिमूलक इस आग्रह-विशेष को जन्म देनेवाले हैं कतिपय तरुण कथाकार, जिन्होंने ग्राम या नगर-कहानियाँ लिखने मात्र को विशेष महत्त्व का समझ लिया और इस सत्य को ग्रहण कर नहीं सके कि किसी भी सृजन का महत्त्व उसके सम्पूर्ण प्रभाव से आँका जाता है, जो जीवन के कुटिलतम और नाना विधि-पक्षों को सही-सही उद्घाटित करे। प्रेमचन्द की महानता ग्राम-कथाकार होने में नहीं, उनकी महानता जीवन के यथार्थ को पकड़कर उसे शक्ति-सम्पन्न दृष्टि से उद्घाटित कर देने में है। उनके लिए किसी शहर या गाँव का चुनाव करने की न थी। उनका जोर केवल इस बात पर था कि जीवन के जिस क्षेत्र और पक्ष के वह सन्निकट हैं, उसे वह कितनी सीमा तक व्यक्त कर सकते हैं। आश्चर्य की बात है, जो बात उनके समय में होनी चाहिए थी, वह तब तो सुनी नहीं गई और आज वही प्रवृत्ति बनकर सिर के बल खड़े हो ध्यान आकर्षित करना ही अपना चरम ध्येय मानती है। नये ग्राम-कथाकार प्रेमचन्द की पारदर्शी दृष्टि और जीवन को व्यक्त करने की क्षमता से शून्य हो, अपनी असमर्थता ढँकने के लिए अनावश्यक अलंकरण, निरर्थक चमत्कार, भद्देपन, लोकल कलर, आंचलिकता, नितान्त अप्रचलित टेढ़े-सीधे लुजपुज शब्दों की नुमायश, रहस्यमय और अलौकिक पात्रों के सृजन इत्यादि वाह्याडंबरों तथा उन तमाम शॉक एलिमेंट्स को इकट्ठा कर रचनाओं को दम बनाये जा रहे हैं, जिनमें से किसी की भी आग्रह के साथ गुंजाइश कर सकना प्रेमचन्द के लिए असम्भव था। आज की ग्राम-कथाओं में ग्राम-जीवन के उत्कट संघर्ष का चित्रण नगण्य या न्यून हो गया है और उसके बदले स्वादप्रवृत्ति बढ़ गई है। प्रेमचन्द की परम्परा में आदर्श रूप 'गत्ती भगत', 'डाकुओं का सरदार' प्रभृति कुछेक उत्कृष्ट रचनाओं का लिखा जाना अपवाद, आश्चर्यजनक और प्रेरणाप्रद है। अन्यथा पिछले आठ-दस वर्षों में ढेर-की-ढेर लिखी ग्राम-कहानियाँ प्राय निर्जीव, स्पन्दनहीन, रूक्ष तथा व्यक्तिगत रुचियों का कोरा प्रदर्शन है। इस बात को इतने विस्तार से कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि ग्राम-कथाकार गाँव के जीवन पर कहानियाँ बेशक लिखें, पर शहरी कथाओं से राग-द्वेष पैदा करने और अपनी प्रवृत्ति को जान-बूझकर बहुत बड़ी बात मनवाने का प्रयास बन्द कर दें। तथाकथित 'शहरी कथाकारों' से भी मैं यही कहना चाहता हूँ। कृतित्व का महत्त्व उसके पिंजन-खोल वाली छँटनी या वर्गीकरण में नहीं, बल्कि उसकी जीवनदायिनी शक्ति में मिलेगा। और इसके लिए दृष्टि पर आच्छादित उस मायोपिया का इलाज कराना पड़ेगा, जिसने देखने की शक्ति को धुँधला कर दिया है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को शहर और ग्राम, दोनों जीवनों पर लिखी कहानियाँ समान रूप से प्रिय

है। पर वह उनके वर्तमान लटकों को अभी तक अपना समर्थन नहीं दे सका है वैसे ग्राम-कथाकार अब लोकल और आंचलिकता के बाद 'जानीय साहित्य' को तकियाक़लाम बना रहे है, जो उनके आत्मसन्तोष के लिए किसी भी दिन नाकाफ़ी पड़ जाएगा। बहरहाल, वह जादू क्या जो सिर पर चढ़कर न बोले ?

जीवन के बदलते मान-मूल्यों के सन्दर्भ में हमारी हिन्दी-कहानी ने युग-सत्य को किस तरह व्यक्त किया है, यह विचारणीय है। इसके लिए कथाकारों के मन में कम-से-कम वे समस्याएँ अवश्य उठनी चाहिए, जो आने वाले कल का आभास दे सकें। *किसी पुरानी इमारत को ढहते देखना सत्य का एक अंश है, पर पूर्ण सत्य* वह तभी होगा, जब हम इसको भी देख सकें कि ढह जाने के बाद आखिर उस जगह नींव कैसी खुदेगी और खड़े होनेवाले ढाँचे का प्रारूप क्या होगा। जिसका काम सृजन करना है, उसके उत्तरदायित्व में जहाँ एक पुरानी वस्तु को गिराकर समाप्त कर देना और उसकी जड़ें उखाड़ फेंकना है, वहीं पूरक और अत्यधिक महत्त्व के रूप में नयी सृष्टि के लिए नये सत्य का न्यास भी करना है। पिछले कुछ दिनों में हिन्दी में ऐसी ढेर-सी रचनाएँ आयीं, जिनमें पूँजीवादी, महाजनी *और रियासती सभ्यता पर लेखकों ने तीव्र आक्रोश तो व्यक्त किया, पर यह* पता नहीं चल सका कि आखिर इस आक्रोश से उनके मन का सारा सन्देह धुल गया या नहीं। ग्राम-कथाकारों के बारे में तो ख़ैर इतना भी कहने-भर की जगह नहीं, क्योंकि वे व्यक्तिमन के सौन्दर्य और विचित्र-विचित्र पात्रों के सृजन में ही लगे हैं। सामाजिक दृष्टिकोण चाहे पहले से जितना भी व्यापक हुआ हो, पर वह लेखक के मन में ही दबा पड़ा है। सृजन का ऐकान्तिक सुख लेखक के लिए मुख्य चीज़ बन गई है। प्रेम-कहानियाँ जो काफी संख्या में लिखी जा रही हैं, उनमें भी *यही ऐकान्तिक सुख हिलोरें ले रहा है। ऐसी सारी कहानियाँ एक रंग हैं।* पर कुछ ऐसे लेखक हैं, जिनकी आश्चर्यजनक तटस्थता और तदनुसार अपनी प्रतिभा को एकदम मौलिक सृजन पर लगा देना बड़ी बात लगती है। *इन लेखकों ने, कहानी* की सबसे बड़ी शर्त, उसके कथानक को पूर्णरूपेण जीवित रखा है। हिन्दी में कथानक-शून्य कहानियाँ लिखने की रुचि पूर्ववत् विद्यमान है। ये लेखक भ्यासों के गुहा-गह्वर में भटकने फिरने को ही यथार्थ समझ रहे हैं। कहने लायक उनके पास कुछ नहीं है। इतना ही नहीं, कुछ बड़े नगरों में रहनेवाले कथाकार, जिन्होंने 'अध्ययन' *तो अच्छा किया, पर अनुभव शायद कम, उन्होंने चमत्कारदार कथा कहने के मोह* में एक-एक कहानी में चार-पाँच कहानियों के मसाले भरे और परिणामस्वरूप *उनकी कहानियाँ या तो अघटनीय बन गईं या शिल्प का कौशल बनकर महत्त्व* पैदा कर सकीं। टेमों के बारे में मार्के की एक बात उनकी प्रणय-कहानियों में *मिलती है, जिनकी नायिका का 'सिड्डेनार' गर्भ होना बुनियादी बात हो गई है।* 'ईसा के घर इन्सान' की मेलिसा को भी इसी तरह का ... है। हांसल और

चर्च के जीवन ने लेखको को घेरा है। लेकिन बात तब भी प्रश्न बनकर रह जाती है कि क्या कोई भी लेखक प्रवृत्तियो का आग्रह त्यागे बिना सफल कृतियाँ नही दे सकता ? पूरे एक दशक के कहानी-साहित्य पर दृष्टिपात करने के बाद क्या यह सच नही लगता कि आग्रह-विशेष का ध्यान किये बिना जो रचनाएँ उत्कृष्ट मानी जा सकती हैं और जिनका किसी भी भाषा मे उतना ही गौरव हो सकता है, उनकी सख्या कठिनता से एक दर्जन ही होगी। 'धरती अब भी घूम रही है', 'गदल', 'अपरिचित', 'माई', 'अकल', 'डिप्टीकलक्टरी', 'जिन्दगी और जोंक', 'डाकुओ का सरदार' 'गत्तो भगत,' 'भटके हुए लोग' इत्यादि कहानियाँ उदाहरण हैं। दो-चार और नाम भी आसानी से जोड़े जा सकते हैं। सयोगवश इन समस्त कहानियों मे एक ऐसी जिजीविषा का भाव होता है, जो कला की मुझे एकमात्र कसौटी लगती है। इन कहानियो की भाषा का सौन्दर्य अपूर्व है। हो सकता है, ये परिश्रम-साध्य रचनाएँ हो, जो इनके लिए ठीक भी है। कहते हैं, बर्नार्ड शॉ, जिसे सगीत का विशद ज्ञान था और जिस पर मोजार्ट का सीधा प्रभाव पड़ा था, अपने एक-एक शब्द की ध्वन्यात्मकता बखूबी समझकर ही लिखता था। 'द एपल कार्ट' के दो-ढाई पृष्ठो वाले लम्बे-लम्बे डायलॉग पाठक के लिए जरा भी बोझिल नही प्रतीत होते। कितना अच्छा होता, यदि हमारे कथाकार भाषा के महत्त्व को समझते !

आज की हिन्दी-कहानी मे हमे अपेक्षा केवल प्रवृत्तियो की नही होनी चाहिए। हिन्दी-कहानी में सृजन कम नही है। शायद अन्य भाषाओं से अधिक ही है। पर यह नि.सकोच कहना पड़ेगा कि सृजन की कोटियाँ उत्साहवर्धक नही हैं। प्रवृत्तियों के घटाटोप मे जो शक्ति क्षीण हो रही है, उसे एकाग्र चित्त हो मौलिक सृजन करने मे लगाना श्रेयस्कर होगा।

अन्त मे मैं इतना कहूँगा कि प्रस्तुत लेख मे मैंने हिन्दी-कहानी के बारे मे थोथी आदर्शवादिता और कोरी आशा के नाम पर 'सब-कुछ अच्छा-ही-अच्छा' नहीं बताया है। वह मेरा इरादा ही नही रहा। हिन्दी-कहानी ने जो सभावनाएँ और विकास के अगले चरण दिये हैं, उनसे पूरी तरह अवगत होते हुए मैंने केवल अतिवादी दृष्टियों पर विहंगम दृष्टि-भर डाली है।

समसामयिक कहानी : रचना की प्रक्रिया

सुरेन्द्र चौधरी

पिछले वर्षों में हिन्दी-कहानी जिस तेजी से विकसित हुई है, उसकी सामान्य रचना-प्रक्रिया में जो गति आयी है उसके कारणों पर विचार करना यहाँ उद्दिष्ट नहीं। यहाँ सिर्फ इतना भर कहना काफी होगा कि १९४५ ई० के उपरान्त कहानी एकसाथ ही अनेक दिशाओं में विकसित होने की सम्भावना बना लेती है। रचना-प्रक्रिया से चूंकि इस प्रश्न का सीधा सम्बन्ध है, इसलिए यहाँ सामयिक कहानी की विकास-दिशाओं पर ध्यान रखते हुए उसके उस सामान्य रूप की चर्चा करूँगा जो इस प्रक्रिया को विशिष्ट और तात्विक रूप प्रदान करता है। सामयिक परिस्थितियों का प्रभाव इस युग में रचनात्मक मानस पर दो रूपों में पड़ता है : एक रूप उसका शुद्ध मानसिक है और दूसरा बोधात्मक। सामयिक कहानी की रचना-प्रक्रिया पर ध्यान देने से ऐसा स्पष्ट हो जाता है कि उसके ये दोनों ही रूप समानान्तर ढंग से विकसित हो रहे हैं और उनकी सम्भावनाएँ अक्षय हैं।

अज्ञेय, जैनेन्द्र, पहाड़ी, इलाचन्द्र जोशी इत्यादि ने अपनी कहानियों के द्वारा उस प्रक्रिया को यथेष्ट रूप दे दिया था जो शुद्ध मानसिक सत्यों को लेकर कथा के निर्माण में प्रवृत्त थी। बोध-प्रधान कहानियों के लिए प्रेमचन्द और यशपाल ने एक निर्दिष्ट परम्परा ही निर्मित कर दी थी। परिणाम यह है कि सामयिक हिन्दी-कहानी किसी एक ही प्रक्रिया का विकास नहीं है। जो लोग सामयिक हिन्दी-कहानी को किसी एकात्मक रचना-प्रक्रिया का विकास मानते हैं उनके लिए आज दो धाराओं के उस मूल स्रोत को स्पष्ट करना मुश्किल हो रहा है जिसके आधार पर वे उसकी एकतानता सिद्ध कर सकें।

रचना-प्रक्रिया की इस समानान्तरता को स्वीकार कर आज की हिन्दी-कहानी पर विचार करना उतना कष्टकर प्रतीत नहीं होगा। आज की हिन्दी-कहानी की एक धारा ऐसी है जो अपनी आन्तरिक चेतना से वह रूप गढ़ती है जो प्रत्यक्ष सामाजिक शक्तियों की अन्तःक्रिया से निर्मित नहीं है। दूसरी ओर एक दूसरी धारा है जो शुद्ध बोध के आधार पर सामाजिक शक्तियों, सम्बन्धों और जीवन-रूपों की व्याख्या करती है। इन अलग-अलग रचना-प्रक्रियाओं पर स्वतन्त्र रूप से आज

विचार करने की आवश्यकता है। ऐसा करने के उपरांत ही हम आधुनिक कहानियो के स्वरूप को समझ सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

चूंकि कहानी की रचना-प्रक्रिया जीवन के व्यवहारो से ही सबद्ध है, इसलिए उसकी विधाओ के सम्बन्ध मे आत्यन्तिक रूप से और झटके से कुछ कहना उचित नही है। आवश्यकता यहाँ इस बात की है कि कहानी की रचना-प्रक्रिया को समझने की चेष्टा मे हम अधिक-से-अधिक व्यवस्थित रूप मे जीवन के व्यवहारो के आतरिक और क्रियात्मक ढाँचे का परिज्ञान करें। रचनात्मक मानस इन समस्त जीवन-व्यवहारो को एक ही रूप मे ग्रहण नही करता, वह कुछ को स्वीकार करता है और कुछ को अस्वीकार। ये दोनो ही प्रक्रिया रचयिता के अवधान और सामान्य जीवन-परिस्थितियो से उसके सम्बन्ध का परिणाम है।

यहाँ सबसे पहले मैं हिन्दी कहानी की उस रचना-प्रक्रिया की चर्चा करूँ जो जीवन-सत्य का अवधान मानसिक आयाम मे करती है। इस रचना-प्रक्रिया के उत्थापन के विशेष कारण थे। प्रेमचन्द की अधिकाश कहानियो मे विषय (Theme) की ऐसी विधि का विकास हुआ था जो समस्त सत्य को शुद्ध रूप से बहिर्गत सम्बन्ध के रूप में ही देखती-मानती थी। यशपाल की कहानियो में यद्यपि थोडा विषयान्तर मिलता है, किन्तु इससे कोई विशेष अन्तर नही पडता। प्रेमचन्द ने सारे मानवीय सम्बन्धो को आँकडो (Measurable data) के स्तर तक सरल कर रखा था। परिणाम यह हो रहा था कि मानव-व्यवहार के उन रूपों को कहानियो में जगह नही मिल पाती थी जिन्हे हम सामाजिक आँकडो तक सरलीकृत करने मे समर्थ नही थे। जैनेन्द्र आदि की कहानियो मे इसके लिए चेष्टा हुई, किन्तु सकेतों मे। वस्तुत: जैनेन्द्र आदि कहानीकारो ने भी मानवीय व्यवहार के इस मानसिक रूप को किसी विशिष्ट जीवन-प्रक्रिया के रूप मे नही उभारा।

सामयिक हिन्दी-कहानी मे इस ओर कुछ अधिक सचेष्टता बरती जा रही है। नलिनविलोचन शर्मा (स्व०), विष्णु प्रभाकर, भिक्षु, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा और राजकमल चौधरी की कहानियों की रचना प्रक्रिया पर विचार करने से हमे इस बात का कुछ सही अन्दाज़ लग सकता है। स्व० नलिन-विलोचन शर्मा की अधिकाश कहानियो मे एक केन्द्रीय परिस्थिति का उत्थापन कारक-आवेगो (Motivation) से होता है जो मुख्य पात्र के अचेतन सस्कारो मे कार्य करते हैं। इन कारक-आवेगों को पात्रों की परिस्थिति के अन्तर्विरोध में ढूंढना उनकी कहानियों के अर्थ को विकृत करना होगा। जो लोग प्रत्येक व्यापार का कारण परिस्थिति में ढूंढने के आदी हैं उन्हें ये कहानियाँ [illegible] करती हैं। हमारी सामयिक जीवन-परिस्थिति अपने [illegible]
उससे अधिक जटिल वह अपने आन्तरिक रूप मे [illegible]
पर उसकी जटिलता का [illegible]

को होता ही। 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है', 'परिन्दे', 'मामोंत पार्टियों के मोर' इत्यादि रचनाएँ भी इसी कोटि के अन्तर्गत आती हैं। इन सभी कहानियों में उस जीवन-परिस्थिति का चित्रण है जो मनुष्य को निरन्तर वैयक्तिकता में उलझाती जा रही है, जो व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व का सन्तुलन नष्ट कर रही है और इस प्रकार निरन्तर जीवन को खण्डित करती चल रही है। मगर इन सभी कहानियों में इस परिस्थिति के प्रति लेखकों की प्रतिक्रियाएँ एक-जैसी नहीं हैं; उनके अनेक धरातल हैं। सामान्यतः जीवन-परिस्थितियों के दो ही रूप होते हैं, एक वह जहाँ घटनाएँ सार्वभौम रूप से एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न करती हैं। ऐसी घटनाओं को लेकर चलनेवाली रचना-प्रक्रिया अनुभव की दृष्टि से प्रत्यक्ष और विस्तृत रहती है। इसके विपरीत कुछ ऐसी घटनाएँ हैं जो व्यक्ति-मानस पर अलग-अलग गहराइयों में प्रभाव उत्पन्न करती हैं। किन्तु दोनों में कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं है जिससे लेखक तटस्थ रहकर काम चला सके। एक काल में यदि एक प्रकार के अनुभव रचना की प्रक्रिया में उभरते हैं तो दूसरे काल में ठीक उससे दूसरे प्रकार के अनुभवों का उभार होता है।

ऊपर मैंने रचना की मानसिक और बोधात्मक प्रक्रियाओं की चर्चा की है। यहाँ मुझे उनके प्रथम रूप की व्याख्या करना अभिप्रेत है। इस सम्बन्ध में ऑडेन की कुछ-एक पंक्तियाँ उद्धृत करूँ—"...*man is a history-making creature* for whom the future is always open; human nature is a nature continually in quest of itself, obiliged at every moment to transcend what it was a moment before. For man the present is not real but valuable. He can neither repeat the past exactly—every moment is unique—nor leave it behind—at every moment he adds to and thereby modifies all that has previously happened to him."[1]

सामान्य रूप से प्रत्येक आधुनिक युगजीवी की, और विशेष रूप से रचयिता साहित्यकार की यह दृष्टि किसी एक निश्चित बिम्ब या रूप के माध्यम से अपने अस्तित्व को उदाहृत करने की विधि को आज असंभव बना रही है। इसका एक बहुत बड़ा कारण यह है कि आज का बुद्धिजीवी व्यक्ति वर्तमान में नहीं रहता; वह या तो उस अतीत में रहता है जिसमें शारीरिक रूप से मृत भी उसी प्रकार क्रियाशील है जिस प्रकार जीवित व्यक्ति रहता है, या फिर उस भविष्य को लेकर जीवित है जो अपनी सारी अस्पष्टता के बावजूद हमें आकर्षित करता है। इस अतीत या भविष्य को लेकर जीवित रहनेवाले व्यक्ति का भावात्मक अनुभव निरन्तर, भोक्ता के रूप में, वस्तुओं और अवस्थाओं के बीच चुनाव करता रहता है। यही उसकी

१. दि अनेरट हियरो—ऑडेन, टेक्सस क्वार्टर्ली, अंक ४, १९६१

आज का लेखक घटना-वैचित्र्य को लेकर भी कहानी के निर्माण को उद्यत नहीं होता क्योंकि वैसी कहानियों में लक्ष्य और प्रवाह में (Goal and journey) में अभेद रहता है। यहाँ एक घटना से दूसरी घटना का तारतम्य मात्र रहस्य या रोमांच के लिए स्थापित किया जाता है, जीवन-प्रवाह की अनिवार्यता में नहीं। राजकमल चौधरी की कहानी 'सामुद्रिक' के नायक की खोज कभी समाप्त नहीं होगी क्योंकि ऐसी स्त्रियाँ हमेशा रह जायेंगी जिन्हें उनके नायक ने समर्पण का सुख न दिया हो। रोमांच या रोमांस की यह अशेष खोज जीवन में भटककर मात्र एक निरर्थकता बन जाती है, एक जिज्ञासायुक्त भंगिमा ! कहानियों में यह जीवन-शोध 'ट्रैजिक' परिस्थितियाँ भर उत्पन्न कर पाता है।

निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' में जीवन-प्रवाह की एक-दूसरी ही मुद्रा है। लतिका अतीत में लौट नहीं सकती, मगर अतीत उसे प्रिय है क्योंकि इस अतीत के साथ अक्षय स्मृतियाँ हैं, जीवन की सार्थकता है। वह अपने जीवन-लक्ष्य को नहीं पायेगी, क्योंकि वह स्वयं अतीत है, व्यतीत है, मगर फिर भी जिजीविषा उसे प्रेरित करती है। वह अपने चारों ओर फैली विश्व-शक्तियों से अपरिचित नहीं है, मगर इस भयावह परिचय के बावजूद वह अपने व्यतीत की रक्षा के लिए सचेष्ट है। इससे गहरी सचेष्टता हमें मोहन राकेश की कहानी 'मिस पाल' में मिल जाती है। लेखक ने वस्तुतः यहाँ एक सर्वथा नये प्रकार के चरित्र की सृष्टि कर ली है। ऐसे चरित्रों की काल्पनिक सृष्टि करते हुए लेखक को जीवन की निरन्तर विकासशील संवेदनाओं से परिचय रखने की नितान्त आवश्यकता होती है। नयी-नयी परिस्थितियाँ जीवन का सर्वथा नया रूप ही खड़ा कर देती हैं, इन रूपों से आन्तरिक रूप से परिचित होकर भी हम इन्हें स्वीकार करने को तत्पर नहीं होते। किन्तु कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जहाँ इनको स्वीकार करना हमारी इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर नहीं करता, हमारी विवशता बन जाता है। 'मिस पाल' का विरोध (Contradiction) भी इसी विवशता की अभिव्यक्ति है। कहानी की रचना-प्रक्रिया में इसी विरोध का दिग्दर्शन मुख्य विषय है और लेखक को इसमें निश्चित रूप से सफलता मिली है। 'मिस पाल' का परिप्रेक्ष्य (Perspective) इस दृष्टि से नितान्त नवीन है, और इसी परिप्रेक्ष्य के उत्पादन में 'मिस पाल' की संवेदनीयता का मूल्य भी छिपा है, उसके विरोधों का वास्तविक आधार भी।

१. सामयिक कहानी की रचना-प्रक्रिया के इस रूप-विशेष पर बहुत विस्तार से कुछ न लिखकर यहाँ इतना भर स्पष्ट कर देना अभीष्ट है कि कहानी के निर्माण में आज चरित्र की मूल संवेदना को उभारने का प्रयत्न ही मुख्य हो गया है, घटनाओं और परिस्थितियों की नाटकीयता का चित्रण गौण। लेकिन इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि कोई कहानी बिना किसी सिद्ध परिस्थिति के, केवल पात्र का भावनात्मक रूप खड़ाकर अच्छी कहानी बन जा सकती है। इस सम्बन्ध में शास्त्रीय

बोध व्यक्ति के अनुभव-वैविध्य का परिणाम नहीं है और न जीवन की असामान्य परिस्थितियों का ही, फिर भी उसमें 'भावना' का एक सहज-सम्प्रेष्य रूप अन्तर्भुक्त है। ये कहानीकार पात्रों का 'प्रोटोटाइप' नहीं गढ़ते, न अद्‌भुत परिस्थितियों को लेकर ही कहानी खड़ी करने की चेष्टा करते हैं। अनुभव के सत्य के रूप में गृहीत कोई घटना, कोई संबंध, कोई व्यक्ति या कोई भावना कहानी का कथ्य बन सकती है यदि उसे संवेदनशील और कल्पनासमृद्ध रचयिता मिल जाए। कहानी में कथ्य और कथ्य का विधान, दोनों ही महत्त्वपूर्ण है।

रेणुजी ने कुछ बहुत लम्बी कहानियाँ लिखी है, जैसे 'मारे गये गुलफाम'। ऐसी कहानियों में उन्होंने किसी बोध को रोमांस के स्तर तक उछालकर भावनात्मक बनाने की चेष्टा में न केवल उनको विषयातरग्रस्त किया है, बल्कि बहुत हद तक कहानी के 'बोध' को भी उन्होंने आहत हो जाने के लिए असहाय छोड़ दिया है। रचना के प्रवाह में उनका विषय-बोध भावना के कुहासे के स्तरों से दबकर नष्ट हो जाता है। कहानी के निर्माण की प्रक्रिया में यह दोष मार्कण्डेय की रचनाओं में भी पाया जाता है। इसका बहुत बड़ा कारण विचार का स्तर है। इस सम्बन्ध में कहा गया है—"Thinking is a process exceedingly dificult to define, partly because it is subjective, partly because it is intangible and partly because it is not one activity and occurs in a variety of media, from words, mathematical symbols and images, to flashes of intuition and inner certitude"[1] जिस प्रकार विचार की प्रक्रिया जटिल और सावयव होने के कारण सामान्यतः पकड़ में नहीं आती, उसी तरह विचारों के स्तर की ओर से जब कहानीकार सचेष्ट नहीं होता है तो वैसी स्थिति में प्रवाह उसे दूर-दूर भटका देता है। रेणु को अपने कथ्य का सश्लिष्ट अवधान नहीं है, फलतः उनकी कहानियाँ प्रवाह में खो जाती हैं, उनकी रचना-प्रक्रिया 'कथानक' के वेग से नियंत्रित नहीं रह पाती। यह दोष रेणु की ही रचना-प्रक्रिया में नहीं है, शैलेश मटियानी की अधिकांश कहानियों में भी यही दोष है; अन्यथा ये दोनों ही कहानीकार हिन्दी-कहानियों में 'बोध' के दो नये धरातलों को लेकर उभरे हैं।

भैरवप्रसाद गुप्त, कमलेश्वर, रमेश बक्षी इत्यादि कहानीकारों को टूटते हुए व्यक्तियों का चित्रण प्रिय है। वे परिस्थिति की जटिलता का बड़ा ही सघन रूप खड़ा कर अपने पात्रों को उसमें डाल देते हैं। स्वाभाविक रूप से इन जटिल परिस्थितियों में पड़े पात्र टूट जाते हैं, किन्तु उनके टूटने का सहज मर्म इनकी कहानियों को प्राणवान् बना देता है। इन्हें अपने पात्रों को लेकर कोई अतिरिक्त मोह नहीं है। ऐसी कहानियों की रचना-प्रक्रिया में ऐसा सहज सम्भव है कि लेखक

१. रीडर्स डाइजेस्ट, पृ० २६६ (बोस्टन, १९५४)

मिन करता हुआ सहसा उद्भासित हो उठता है। दोनों ही प्रक्रियाएँ अपने सन्दर्भ में सार्थक हैं। 'रोशनी कहाँ है' के बिम्बों को ही लीजिए ; उनके जीवन में आसिर सीमाजन्य अनेक तनाव हैं, उसे उनका पर्याप्त ज्ञान भी है, मगर उसका मर्म खुलता है एक विशेष परिस्थिति में, जब निगम और जमर्दन किशोरी की चादर के दस रुपये हजार जाने की चेष्टा में लगे हैं। दूसरों की मुश्किल आसान करनेवाला बिम्मो अपनी मुश्किलों के लिए कोई राहत ढूंढ नहीं पाता—"दो पाचों में रुपये निकलवा लेने की सारी प्रसन्नता और किशोरी को बचाकर सहायता करने का सारा बड़प्पन जैसे एक ही झटके में उड़ गया ! बिम्मो बाबू एकदम सुन्न हो गया ! अन्ना के प्रति आज का व्यवहार !..." परिस्थितियों के भीतर तनाव का यह सहज मर्म क्या पात्र की भावना के स्तर पर खुलकर भी अनुभव-सामान्य नहीं हुआ ? कहानी में गर्भाक-समूह नहीं है, बस चरम परिणति का एक ही बिन्दु है, अनुभवपूर्ण, आरमपूर्ण। रचनाधर्मी कहानी की इस पूर्णता पर मुझे यहाँ भाई नामवरसिंह की बातें नहीं दुहरानी हैं।

रचना-प्रक्रिया का दूसरा रूप है बोध-प्रधान कहानियों वाला। ऐसी कहानियाँ प्रेमचन्द से ही शुरू होती हैं, किन्तु कालान्तर में उनमें आवश्यक परिवर्तन, परिष्कार हुए हैं। इस प्रक्रिया का महत्त्व अनुभव-सामान्य परिस्थितियों की नियोजना और तद्रूप पात्रों के उत्थान में है। यहाँ एक बार फिर प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया पर कुछ बातें दुहरा दूं। प्रेमचन्द ने अपनी अधिकांश कहानियों में अनुभव-सामान्य और तात्कालिक परिस्थिति-गर्भता का बड़ा ही बृहत् रूप खड़ा करने का प्रयास किया है, किन्तु उनके अनुरूप पात्रों की सृष्टि नहीं कर पाने के कारण, पात्रों को अधिकाधिक 'इन्स्ट्रुमेंटल' बना देने के कारण कहानियाँ कमजोर हो गई हैं। जहाँ उन्होंने अपने को इस दोष से बचा लिया है, वहाँ उनकी कहानियाँ रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से पूर्ण और मार्मिक हो गई हैं। 'बड़े भाईसाहब', 'रामलीला', 'मुक्तिमार्ग', 'कफ़न', 'पूस की रात' इत्यादि उदाहरण के रूप में उपस्थित की जा चुकी हैं। 'जुलूस', 'नशा', 'घासवाली' इत्यादि कहानियाँ इनकी तुलना में इसलिए कमजोर पड़ जाती हैं कि इनमें परिस्थितियाँ बड़ी सगर्भ हैं, किंतु पात्र उनसे बलात् जोड़े गए हैं। शायद उनके टूटने से कहानी का आन्तरिक रूप खुल पाता। सामयिक कहानी-लेखकों में भैरवप्रसाद गुप्त, राजेन्द्र यादव, अमरकान्त, कमलेश्वर, शेखर जोशी, हर्षनाथ, मार्कण्डेय, रेणु, धानी इत्यादि इसी प्रक्रिया को स्वीकार करनेवाले कथाकार हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि कहानी में विकास के स्थल को ये सभी कहानीकार एक ही प्रकार से तोड़ या जोड़कर उभारते हैं, मगर उस विकास के निर्माण में वातावरण या परिस्थितियों का जो स्वरूप ये गढ़ते हैं उसमें आधारभूत साम्य है। इस प्रक्रियात्मक साम्य के कारण इनकी कहानियों में 'बोध' की स्पष्टता रहती है, ये सभी कहानीकार अनुभव-सामान्य बोधों के कहानीकार हैं। इन कथाकारों का

काफी अच्छे स्तर की है, परन्तु मेरी दृष्टि में उनकी सबसे अच्छी कहानी 'बांसी का पटवार' है, जो पार्वत्य प्रदेश के दो साधारण प्राणियों की भावात्मक ट्रेजेडी को लेकर लिखी गई है। इसलिए शेखर का यह सोचना गलत है कि उसकी कहानियों की विशेषता एक विशेष वर्ग या समुदाय के सम्बन्ध में लिखने के कारण है। औद्योगिक जीवन को लेकर ससार में कई एक अच्छी कहानियाँ लिखी गई है, परन्तु इसी जीवन के सम्बन्ध में कितनी ही निर्जीव और यान्त्रिक-सी कहानियाँ भी लिखी गई हैं। जिस वर्ग या क्षेत्र को लेकर कहानी लिखी जाती है, नि सदेह इससे कहानी के मूल्य पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

इसी तरह कहानी की अच्छाई या बुराई का सम्बन्ध इस बात से कदापि नहीं है कि जिन चरित्रों को कहानी में चित्रित किया गया है, वे भले है या बुरे—अपना गरेबान काटकर किसी को दे आते हैं या नहीं। यदि चरित्र की उदात्तता ही कहानी की कसौटी है तो गुंडों, जुआरियों, वेश्याओं और घूसखोर अफसरों को लेकर लिखी गई ससार की सब कहानियाँ रद्दी हैं। चरित्र की श्रेष्ठता ही कहानी की श्रेष्ठता है, तो ससार की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ आज से हजार साल पहले लिखी जा चुकी हैं।

कहानी की बात किसी भी कोण से उठायी जा सकती है। कहानी का शिल्प एक कोण है, भाषा दूसरा, यथार्थ की अभिव्यक्ति तीसरा और सांकेतिकता चौथा। कोण और भी हैं और हर कोण से विचार कई भूमियों पर किया जा सकता है। परन्तु किसी भी एक उपलब्धि से कहानी कहानी नहीं बनती—कहानी की आन्तरिक अन्विति का निर्माण इन सभी उपलब्धियों के सामजस्य से होता है। यदि एक-एक कोण से देखते हुए ही कहानी की अच्छाई या बुराई का निर्णय दिया जाए तो संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ भी किसी-न-किसी दृष्टि से बेकार सिद्ध की जा सकती हैं और बहुत हीन स्तर की कृतियों में भी किसी-न-किसी कोण से, श्रेष्ठता का निदर्शन किया जा सकता है। कहानी की इस या उस विशेषता की चर्चा करते हुए जिन प्रसिद्ध कहानीकारों का हवाला दिया जाता है, उनकी रचनाओं में बस वही एक-एक विशेषता नहीं है जिसके लिए उनका स्मरण किया जाता है। ओ हेनरियन शिल्प और चेखोवियन संवेदनाओं के दायरे में पड़कर परेशान हुए लोग अक्सर यह भूल जाते हैं कि ओ हेनरी और मोपासाँ कोरे शिल्पकार साहित्यिक मदारी ही नहीं थे जिन्होंने जब-तब अपना पिटारा खोलकर कुछ चमत्कारपूर्ण करतब दिखा दिये। 'नेकलेस' तथा 'गिफ्ट आव् द मागी' जैसी कहानियों का एक मानवीय पक्ष भी है, उनमें तात्कालिक जीवन की विडम्बनाओं का सकेत भी है। मोपासाँ की कहानियाँ अपने पुलंदे में उस काल के फ्रास की कई सजीव झाँकियाँ प्रस्तुत करती है। दूसरी ओर चेखव की कहानियाँ शिल्प की दृष्टि से ढीली और मन पर मँडरानेवाली छायाओं के प्रभाव से लिखी गई भटकी हुई कहानियाँ नहीं हैं। चेखव ने अपनी कहानियों को एक निश्चित गठन देने के लिए

कहानी : नये सन्दर्भों की खोज

मोहन राकेश

हिन्दी में कहानी की चर्चा थोड़े दिनों से ही आरम्भ हुई है। दूसरी भाषाओं में भी कहानी की चर्चा बहुत विस्तार से नहीं हुई क्योंकि कविता के ह्रास की बात करते हुए भी प्रायः आलोचक, साहित्य और कविता को, पर्यायवाची-से मानकर चलते हैं। कहानी के विकास की दृष्टि से यह स्थिति सम्भवत. हितकर ही रही, क्योंकि इससे कहानी के मूल्यों का आलोचकीय परिभाषाओं के सहारे विकसित न होकर रचनात्मक प्रयोगों के सहारे ही विकसित हुआ।

हर महीने संसार की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में हजारों नयी कहानियाँ प्रकाशित होती हैं। क्या इनमें सब कहानियाँ 'नयी' होती हैं ? किस अर्थ में एक 'नयी' कहानी 'पुरानी' कहानी से अलग होती है ? क्या कहानी की नवीनता का सम्बन्ध उसके वस्तु-क्षेत्र से है ? और अच्छी कहानी क्या है ? क्या अच्छी कहानी वह है जो अच्छे लोगों के बारे में लिखी जाती है ?

कहानी की नवीनता का सम्बन्ध वस्तु और चरित्र की नवीनता के साथ जोड़ दिया जाए तो ससार में जितनी कहानियाँ लिखी जा रही हैं उनमें एक भी 'नयी' कहानी ढूंढ़ लेना कठिन होगा। ऐसा कोई भी विषय या क्षेत्र नहीं है जिसे लेकर पहले कहानियाँ नहीं लिखी जा चुकीं। इसलिए इस या उस क्षेत्र के जीवन को लेकर कहानियाँ लिखने वाले लोग जब अपनी नयी दृष्टि, नयी चेतना और नयी भाव-भूमि की बात कहते है तो ऐसे लगता है जैसे वे अपने को किसी ऐसी चीज का विश्वास दिलाना चाहते हों जिस पर उनका भी मन विश्वास नहीं करता। नि.सदेह कहानी की सार्थकता इस बात में नहीं है कि वह किस नये अजायबघर से कौन-सा अजूबा लाकर हमारे सामने पेश करती है। नयी तरह के दर्शित या नयी तरह के वातावरण का चित्रण कर देने से एक नयी कहानी की सृष्टि नहीं हो जाती।

कुछ दिन पहले शेखर जोशी के कहानी, संग्रह-'कोसी का घटवार' की भूमिका में यह शिकायत पढ़ी थी कि औद्योगिक जीवन के सम्बन्ध में लिखी गई कहानियों को आलोचकों ने वह मान्यता नहीं दी जो ग्राम-जीवन को लेकर लिखी गई कहानियों को दी है। औद्योगिक जीवन को लेकर लिखी गई शेखर की कहानी 'बदबू'

काफी अच्छे स्तर की है, परन्तु मेरी दृष्टि में उनकी सबसे अच्छी कहानी 'कोसी का घटवार' है, जो पार्वत्य प्रदेश के दो साधारण प्राणियों की भावात्मक ट्रेजेडी को लेकर लिखी गई है। इसलिए शेखर का यह सोचना ग़लत है कि उसकी कहानियों की विशेषता एक विशेष वर्ग या समुदाय के सम्बन्ध में लिखने के कारण है। औद्योगिक जीवन को लेकर संसार में कई एक अच्छी कहानियाँ लिखी गई हैं, परन्तु इसी जीवन के सम्बन्ध में कितनी ही निर्जीव और यान्त्रिक-सी कहानियाँ भी लिखी गई हैं। किस वर्ग या क्षेत्र को लेकर कहानी लिखी जाती है, निःसन्देह इससे कहानी के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इसी तरह कहानी की अच्छाई या बुराई का सम्बन्ध इस बात से कदापि नहीं है कि जिन चरित्रों को कहानी में चित्रित किया गया है, वे भले है या बुरे—अपना मरघट काटकर किसी को दे आते हैं या नहीं। यदि चरित्र की उदात्तता ही कहानी की कसौटी है तो गुंडों, जुआरियों, वेश्याओं और सूदखोर अफसरों को लेकर लिखी गई संसार की सब कहानियाँ रद्दी हैं। चरित्र की श्रेष्ठता ही कहानी की श्रेष्ठता है, तो संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ आज से हज़ार साल पहले लिखी जा चुकी हैं।

कहानी की बात किसी भी कोण से उठायी जा सकती है। कहानी का शिल्प एक कोण है, भाषा दूसरा, यथार्थ की अभिव्यक्ति तीसरा और सांकेतिकता चौथा। कोण और भी हैं और हर कोण से विचार कई भूमियों पर किया जा सकता है। परन्तु किसी भी एक उपलब्धि से कहानी कहानी नहीं बनती—कहानी की आन्तरिक अन्विति का निर्माण इन सभी उपलब्धियों के सामंजस्य से होता है। यदि एक-एक कोण से देखते हुए ही कहानी की अच्छाई या बुराई का निर्णय किया जाए तो संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ भी किसी-न-किसी दृष्टि से बेकार सिद्ध की जा सकती हैं और बहुत हीन स्तर की कृतियों में भी किसी-न-किसी कोण से, श्रेष्ठता का निदर्शन किया जा सकता है। कहानी की इस या उस विशेषता की चर्चा करते हुए जिन प्रसिद्ध कहानीकारों का हवाला दिया जाता है, उनकी रचनाओं में बस वही एक-एक विशेषता नहीं है जिसके लिए उनका स्मरण किया जाता है। ओ हेनरियन शिल्प और चेखोवियन संवेदनाओं के दायरे में पड़कर परेशान हुए लोग अक्सर यह भूल जाते हैं कि ओ हेनरी और मोपासाँ कोरे शिल्पकार साहित्यिक मदारी ही नहीं थे जिन्होंने जत्र-तत्र अपना पिटारा खोलकर कुछ चमत्कारपूर्ण करतब दिखा दिये। 'नेकलेस' तथा 'गिफ्ट आव् द मागी' जैसी कहानियों का एक मानवीय पक्ष भी है, उनमें तात्कालिक जीवन की विडम्बनाओं का संकेत भी है। मोपासाँ की कहानियाँ अपने परिवेश में उस काल के फ्रांस की कई सजीव झाँकियाँ प्रस्तुत करती हैं। दूसरी ओर चेखव की कहानियाँ शिल्प की दृष्टि से ढीली और मन पर मँडरानेवाली छायाओं के प्रभाव से लिखी गई भटकी हुई कहानियाँ नहीं हैं। चेखव ने अपनी कहानियों को एक निश्चित गठन देने के लिए

जितनी मेहनत की है, उतनी शायद ही किसी अन्य कहानीकार ने की हो—यहाँ तक कि मोपासाँ और ओ हेनरी ने भी नहीं।

परन्तु आज की हिन्दी-कहानी के मूल्यों की चर्चा करते हुए विदेशी कहानीकारों के लम्बे-चौड़े हवाले देना सिवाय हीनता की भावना के और कुछ नहीं है। हर देश और भाषा की कहानी अपनी परिस्थितियों और अपने लेखकों की सामर्थ्य के अनुसार भिन्न भिन्न होती है। हिन्दी-कहानी अपने विकास की जिस मंजिल पर है, वहाँ उसकी आन्तरिक उपलब्धियों और अनुपलब्धियों का विश्लेषण न करके जब ओ हेनरी की-सी गठन, मोपासाँ के-से व्यंग और चेखव की-सी अन्तर्दृष्टि का जिक्र किया जाता है, तो बात बहुत कच्ची और सतही प्रतीत होती है। हिन्दी-कहानी भानुमती का पिटारा नहीं है जिसमें संसार के सब लेखकों की सब विशेषताएँ उपलब्ध होनी चाहिए। किसी भी भाषा की कहानी का मूल्यांकन करते समय हमारी दृष्टि दो बातों पर रहनी चाहिए। एक तो यह कि कहानी की आंतरिक उपलब्धियों का विकास उसमें किन स्तरों पर हुआ है; और दूसरे यह कि क्या उस भाषा की कहानी के विकास को एक निश्चित परम्परा के अन्तर्गत रखकर देखा जा सकता है।

जहाँ तक कहानी की आंतरिक उपलब्धियों का सम्बन्ध है, उनमें सांकेतिकता को कहानी की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जा सकता है। यह सांकेतिकता आज की कहानी की या किसी एक भाषा की कहानी की ही उपलब्धि नहीं, कहानी-मात्र की एक अनिवार्य उपलब्धि है। पुरानी कहानी इस अर्थ मे अलग होती है कि उसमें सांकेतिकता का विस्तार पहले से भिन्न स्तरों पर होता है। बात वही होती है और जीवन के उसी कैनवस से उठायी जाती है। मगर उसके सम्बन्ध में लेखक के अनुभव की निजता, जीवन के यथार्थ की उसकी व्यापक पकड़ और भाषा तथा शिल्प के क्षेत्र में उसकी अपनी प्रयोगात्मकता उसकी रचना को भिन्नता और एक और ही सार्थकता प्रदान कर देती है।

पिछले दशक मे लिखी गई हिन्दी-कहानियों की विशिष्ट उपलब्धि सम्भवतः यही है कि उनमे सांकेतिकता के विभिन्न स्तरों का बहुमुख विकास हुआ है। विश्व-कथा-साहित्य के सन्दर्भ में देखते हुए चरित्र या क्षेत्र की ऐसी कोई नवीनता नहीं है जिसकी ओर हिन्दी के नये कहानीकारों का ध्यान पहली बार गया हो। कहा जा चुका है कि किसी क्षेत्र-विशेष के सम्बन्ध में लिखी जाने से ही कोई कहानी अच्छी या बुरी नहीं हो जाती है। 'कफन' इसलिए एक श्रेष्ठ कहानी नहीं है कि वह एक विशेष क्षेत्र से उठायी गई है। 'आदर्शोन्मुखता' की कसौटी से तो वह 'प्रेमचन्द की परम्परा' की कहानी है ही नहीं। उस कहानी की विशेषता उसके अन्तर्निहित संकेत के कारण है। कहानी के चरित्रों मे एक मार्बिडिटी है, परन्तु कहानी का संकेत मार्बिड नहीं है। यही बात 'शतरंज के खिलाड़ी' के सम्बन्ध में

कही जा सकती है। इसलिए प्रेमचन्द की कहानियों की चर्चा करते हुए यह बेहतर होगा कि उनकी आंतरिक उपलब्धियों को सामने रखा जाए, ग्राम-जीवन और आदर्शोन्मुखता की बातें कहकर भ्रांतियाँ खड़ी न की जाएँ।

मैंने पहले कहा है कि आज की हिंदी-कहानी के अन्तर्गत सांकेतिकता का विकास विभिन्न स्तरों पर हुआ है। कुछ लोगों ने कहानी के अन्तर्गत रूपकात्मक प्रयोगों को ही कहानी की सांकेतिकता मान लिया है और उसी आधार पर आज की हिन्दी-कहानी की सांकेतिक उपलब्धियों का ब्यौरा प्रस्तुत कर दिया है। परन्तु रूपकात्मकता बहुत दूर तक ले जायी जाय तो पहले के तुलनात्मक अलंकारों—उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की तरह अखरने भी लगती है। इसके लिए कई बार लेखक कल्पनाश्रित बिम्बों का विधान करता है जो कहानी को यथार्थ भूमि से हटा देते हैं। कविता और कहानी में यह अन्तर तो है ही कि जहाँ कल्पनाश्रित बिम्बों का विधान कविता में एक चमत्कार ला देता है, वहाँ कहानी को वह कमजोर कर देता है। कहानीकार बिम्बों के माध्यम से एक भाव या विचार को सफलतापूर्वक तभी व्यक्त कर सकता है जब वे बिम्ब यथार्थ की रूपाकृतियों से भिन्न न हों—उनके संघटन में जीवन के यथार्थ को पहचाना जा सके। जरा भी 'अनकर्न्विंसिंग' होते ही एक सुन्दर संकेत के रहते हुए भी कहानी असमर्थ हो जाती है। कहानी की वास्तविक सामर्थ्य इसी में है कि बड़ी-से-बड़ी बात कहने के लिए भी लेखक को असाधारण या असामान्य का आश्रय न लेना पड़े—साधारण जीवन के साधारण संघटन से ही विचार की अनुगूँज पैदा कर सके।

इसलिए कहानी की सहज सांकेतिकता रूपकात्मक सांकेतिकता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। कहानी का वास्तविक संकेत कहानी की सहज गठन में स्वतः उभर आता है। आज की हिन्दी-कहानियों में 'चीफ की दावत' और 'दोपहर का भोजन' जैसी कहानियाँ उदाहरण-रूप में रखी जा सकती हैं। 'चीफ की दावत' का संकेत माँ के चरित्र के माध्यम से उभरता है और 'दोपहर का भोजन' में अभावग्रस्त घर की एक साधारण-सी दोपहर के वर्णनमात्र से। इन दिनों की लिखी हुई कितनी ही और ऐसी कहानियाँ मिल जायेंगी जिनमें कई-कई [illegible] से संकेत जो चरित्रों की भाव-भंगिमाओं [illegible] है, या केवल वातावरण के चित्रण से या केवल कहानी [illegible] ही। कहानी के अन्तर्निहित संकेत तक न [illegible] किया जाता है [illegible] सपाट-सी प्रतीत [illegible] ढाँचे को कि [illegible] में कहानी नहीं [illegible] है। कहानी [illegible] है

—सजीव और सशक्त भाषा में यथार्थ के प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत करते हुए उनके माध्यम से एक संदेश देकर।

आज के कुछ-एक कहानीकारों की रचनाओं में कहानी की सांकेतिकता का विकास भिन्न-भिन्न स्तरों पर हुआ है, परन्तु उनमें सामान्यतः इस दृष्टि से है कि हवाई या अमूर्त संकेतों में भटकने की प्रवृत्ति उनमें नहीं है। आज की कहानी, अपने मुख्य प्रवाह में, यथार्थ की सामान्य भूमि पर वर्तमान रहकर ही लिखी जा रही है। इस तरह पहले की परम्परा से उसका सम्बन्ध कटा नहीं है। सांकेतिक उपलब्धियों की दृष्टि से इस पीढ़ी के लेखकों का बहुत कुछ प्रयत्न उनका अपना है। इस कहानी की जड़ें आसपास के यथार्थ की भूमि में हैं, इसलिए इसका एक अपना निश्चित रूप है। इस दृष्टि से वह ठेठ इस समाज और जीवन की कहानी है, हिंदी की अपनी कहानी है। परपरा के साथ सम्बन्ध की सार्थकता इस दृष्टि से है कि प्रेमचन्द के बाद की कहानी में कई ऐसे प्रयोग हुए हैं जिनमें व्यक्तियों और स्थानों के नाम छोड़कर और कुछ भी ऐसा नहीं था जिसका सीधा सम्बन्ध भारतीय जीवन से हो। वे कहानियाँ किसी भी देश की कहानियाँ हो सकती थीं, हमें अपने आसपास की कहानियाँ तो वे कदापि नहीं लगतीं। उन कहानियों में कुछ अमूर्त संकेत हैं जो काल्पनिक बिम्बों पर आश्रित हैं। इस तरह की कहानियों को एक विशेष तरह की कविता से अलग करके देखना कठिन है। फिर कुछ ऐसी कहानियाँ भी लिखी जा रही थीं जिनमें अपने आसपास के यथार्थ को रूमानी लिहाफ में लपेटकर प्रस्तुत करने के प्रयत्न थे। सम्भवतः उस काल में एक ओर फ्रेंच-कहानी और दूसरी ओर उर्दू-कहानी का हिंदी-कहानी पर बहुत प्रभाव रहा। अमूर्त संकेतों और रूमानी यथार्थ की कहानियाँ हिंदी में आज भी लिखी जाती हैं तथा कुछ अन्य भाषाओं के कथा-साहित्य की उपलब्धियों को छू लेने के और प्रयत्न भी दृष्टिगोचर होते हैं। परंतु हिंदी की नयी कहानी जिस रूप में विकसित हुई है, उस रूप में उसका भारतीय जीवन के धरातल से गहरा सम्बन्ध है और इसीलिए यह केवल 'साफिस्टिकेटिड' पाठक की कहानी न होकर साधारण पाठक की कहानी बनी रही है। यह बात कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि अपनी सांकेतिक उपलब्धियों के बावजूद आज की हिंदी-कहानी नयी कविता की तरह सामान्य पाठक से अपना सम्बन्ध तोड़ नहीं बैठी। यह तो असंदिग्ध है ही कि जिस रचना का प्रेरणा-स्रोत जीवन है, उसके प्रति जीवन की भी ममता रहती है। जो रचना जीवन की ओर भृकुटियाँ चढ़ाकर देखती है, जीवन भी उसका तिरस्कार कर देता है। कहानी की वर्तमान दिशा व्यक्ति की आंतरिक कुण्ठाओं की दिशा न होकर एक सामाजिक दिशा है, यह बात उसकी आगे की संभावनाओं को व्यक्त करती है।

परन्तु साहित्य के इतिहास में कई बार ऐसा हुआ है कि जो लोग दूसरों की दी हुई रूढ़ियों से हटकर कुछ नया लेकर सामने आये, वे शीघ्र ही अपनी रची हुई

रूढ़ियों में ग्रस्त होकर रह गए। हिंदी-कहानी के क्षेत्र में भी आज यह आशंका सामने है। पिछले छः-सात वर्षों मे कई-एक अच्छी कहानियाँ लिखी गईं, क्योंकि इस पीढ़ी के कहानीकारो में नये सदर्भों की खोज की व्याकुलता थी। वे संदर्भ कला के भी थे और जीवन के भी—यद्यपि सर्वत्र उस जीवन के नही जो कि अपनी समग्रता में हमारे चारों ओर जिया जा रहा है, जिसके बाहरी रूप मे दिन-प्रति-दिन अधिकसकुलता आ रही है, जो बदल रहा है और जिसकी गति के भाग के रूप मे हम अपने चारो ओर अनास्था और अविश्वास भी देखते हैं, परन्तु फिर भी जिसमे केवल अनास्था और अविश्वास ही नही है क्योंकि आतरिक रूप में आज भी वह अपने धरातल से हटा नही है। हिंदी की नयी कहानी के अधिकाश प्रयोगो में जिस जीवन का चित्रण हुआ है, वह इस उफनती और शोर करती हुई धारा से हटा हुआ जीवन है, उन अकेले किनारो का जीवन जहाँ अभी तक सामंती संस्कारो की छायाएँ मँडराती हैं। उस जीवन की स्थिरता, शाति और उज्ज्वलता को बात करते हुए उस दायरे से बाहर न निकलकर कुछ लोगो ने अपने प्रयोग-क्षेत्र को बहुत सीमित कर लिया है। निःसदेह पिछले कुछ वर्षों में हिंदी के कई एक नये कहानीकारो की निश्चित सामर्थ्य सामने आयी है—उनसे कई-कई समर्थ रचनाओ की आशा की जा सकती है। परन्तु इधर कुछ ऐसा भी प्रतीत होने लगा है कि उन कहानीकारो ने अपने पैटर्न और संदर्भ निश्चित कर लिये हैं, वे अपने अब तक के प्रयोगों को ही अपना आदर्श मानकर चलने लगे हैं।

परन्तु कहानीकार अपनी जगह पर रुका रह सकता है, जीवन अपनी जगह पर नही रुकता। जीवन का वस्तु-क्षेत्र वही है, मनुष्य की मूल प्रकृति वही है, परन्तु जीवन के सदर्भ हर नये दिन के साथ बदल रहे हैं। बात नयी जगह जाकर नयी तरह के ध्वनि की कहानी लिखने की नहीं, उसी जगह रहकर, उसी इन्सान के उन्ही अन्तर्द्वन्द्वों को जीवन के नये सन्दर्भ मे देखने की है। जीवन के मूल्य जब बदलते हैं तो सब जगह एक ही तरह से नहीं बदलते। हर देश और जाति के सस्कार बदलते हुए मूल्यो को अपनी तरह से ग्रहण करते हैं जिससे परिवर्तन का भी हर जगह अपना एक अलग रंग हो जाता है। आज हमारे चारों ओर जीवन तेजी से बदल रहा है, इसका अर्थ यह है कि हम बदल रहे हैं। यदि हम अपने इस बदलते हुए 'सेल्फ' को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते, अपने इस 'सेल्फ' की ही कहानी नही कहते, तो इसका अर्थ यह है कि या तो हम किन्ही अन्तर्मुख ग्रन्थियो मे उलझे हैं, या जीवन की चुनौती को ठीक से स्वीकार करने से कतराते हैं।

बहुत-से लोग जब भारतीय जीवन की बात करते हैं तो प्रायः इस अर्थ मे कि रूढ़ियो के दायरे मे उलझा और अशिक्षा के अँधेरे आवरण में पड़ा जीवन ही भारतीय जीवन है। परोक्ष रूप से भारतीय सस्कृति का सम्बन्ध भी ऐसे ही जीवन के साथ जोड़ दिया जाता है। ऐसी दृष्टि का अर्थ तो यह है कि भारतीय जीवन

और संस्कृति सामन्ती रूढ़ियों का ही नाम है और आज जीवन उत्तरोत्तर भारतीयता और संस्कृति से शून्य होता जा रहा है !

हमारा जीवन आज एक बड़े संक्रान्ति-काल में से गुजर रहा है। जिन्दगी की नब्ज इतनी तेज है कि उसे हर जगह और हर पल महसूस किया जा सकता है। हम आज बड़ी-बड़ी वेधशालाओं में बैठे ऊँचे-ऊँचे सपने देख रहे हैं और स्कूलों, दफ्तरों और कारखानों में अपने अधिकारों के लिए लड़ते हुए शहीद भी हो रहे हैं। आज के जीवन में घुटन भी है और उस घुटन के साथ संघर्ष भी है। जीवन की हर हताशा का अन्त कुएँ या बावली में जाकर ही नहीं होता—सामाजिक स्तर पर उससे लड़ने का प्रयत्न भी किया जाता है। *जीवन का यह विराट् क्या भारतीय नहीं ?*

बात जीवन के इन्हीं सन्दर्भों को कहानी के अन्तर्गत व्यक्त करने की है। इकाई का जीवन एक इकाई का जीवन ही नहीं होता; एक समाज और एक समय के जीवन की प्रतिध्वनि भी उसमें सुनी जा सकती है। एक साधारण घटना साधारण घटना ही नहीं होती; *जीवन के व्यापक क्षितिज में काम करती हुई शक्तियों की एक अभिव्यक्ति* भी होती है। जो कुछ सामने आता है, उससे भी उतने का पता नहीं चलता, ऐसे बहुत-कुछ का भी पता चलता है जिसे हम प्रत्यक्ष रूप में देख नहीं पाते। व्यक्तियों, घटनाओं और परिस्थितियों को उस व्यापक सन्दर्भ में देख और पहचानकर ही उनका सही चित्रण किया जा सकता है। कहानी आखिर जीवन के द्वन्द्वों और अन्तर्द्वन्द्वों *को ही तो चित्रित करती है ! कहानीकार की दृष्टि इन द्वन्द्वों और अन्तर्द्वन्द्वों को* पहचानकर साधारण-से-साधारण घटना के माध्यम से उनका संकेत दे सकती है। वस्तु और संकेत के अन्तर को समझा जा सकता है। वस्तु की साधारणता कहानी की साधारणता नहीं होती, और इसी तरह वस्तु की अस्वस्थता कहानी की अस्वस्थता नहीं होती। कहानी अस्वस्थ तब होगी जब उसका संकेत अस्वस्थ हो—उसमें *कही गई लेखक की बात एक अस्वस्थ दिशा की ओर संकेत करती हो। ऐसी भी कहानियाँ लिखी जाती हैं जिनमें वस्तु, चरित्र, भाषा और शिल्प, सभी कुछ सुन्दर होता है—केवल उनके संकेत में एक अस्वस्थता रहती है। वे व्यक्ति की कुण्ठा को 'कास्मेटिक स्टोर्स' के सभी उपादानों से सजाकर या उन्मुक्त प्राकृतिक सौन्दर्य की पृष्ठभूमि के आगे रखकर इस तरह प्रस्तुत करती हैं कि उसमें वह कुण्ठा ही सुन्दर प्रतीत होती है। इसी तरह भाषा और बिम्बों का रेशमी वितान तानकर कुण्ठाओं में एक आकर्षण और सार्थकता भरने का प्रयत्न किया जाता है। कहानी यदि घुटन और कुण्ठा में सार्थकता देखती है, तो वह अस्वस्थ है। परन्तु यदि अस्वस्थता कहानी की वस्तु में ही है और उसके संकेत से उस अस्वस्थता को लेकर असन्तोष और विद्रोह की भावना जागती है, उस अस्वस्थता को हटाने के लिए कुछ करने की इच्छा होती है, तो कहानी अस्वस्थ नहीं है।*

नये सन्दर्भों को खोजने का यह अर्थ नहीं कि अपने वस्तु-क्षेत्र से बाहर जाया जाए। जीवन के नये सन्दर्भ अपने वातावरण से दूर कहीं नहीं मिलेंगे, उस वातावरण मे ही ढूंढ़े जा सकेंगे। अभावग्रस्त जीवन की विडम्बना केवल खाली पेट और ठिठुरते हुए शरीर के माध्यम से ही व्यक्त नहीं होती। प्यार केवल सम्पन्नता और विपन्नता के अन्तर से ही नहीं हारता। ममता केवल बलिदान करके ही सार्थक नहीं होती। अनाचार का सम्बन्ध रिश्वत और बलात्कार के साथ ही नहीं है, और विश्वास केवल उठी हुई बाँहों के सहारे ही व्यक्त नहीं होता। हर रोज के जीवन मे यह सब-कुछ अनेकानेक सन्दर्भों मे और कई-कई रंगो मे सामने आता है। आज के जीवन ने उन रंगो में और भी विविधता ला दी है। बात उन विविध रंगों को पकड़ने और कहानी की सांकेतिक अन्विति मे अभिव्यक्त करने की है। जीवन के नये सन्दर्भ कलात्मक अभिव्यक्ति के नये सन्दर्भ स्वत: ही प्रस्तुत कर देते हैं। कहानी-शिल्प का विकास लेखक की प्रयोग-बुद्धि पर उतना निर्भर नहीं करता, जितना उसके मैटर की आन्तरिक अपेक्षा पर। पाठक की रुचि के उत्तरोत्तर परिष्कार से भी एक नयी माँग उत्पन्न होती है। लेखक यदि स्वयं अपनी रचना का पाठक बना रहता है तो उसका असन्तोष ही उसे अभिव्यक्ति के नये आयामों को छूने की ओर प्रवृत्त करता है। शिल्प के बदलने मे लेखक के असन्तोष और मैटर की आन्तरिक अपेक्षा, दोनो का ही योग रहेगा। यदि शिल्प का चौखटा तैयार करके उसमे मैटर को फिट करने का प्रयत्न किया जाए तो उससे कुछ भी हासिल नहीं होगा—क्योंकि रचना के नये समर्थ शिल्प का विकास केवल प्रयोग-चेतना से नहीं, नये मैटर के सामने पुराने शिल्प की असमर्थता के कारण होता है।

('कृति' : १९५९ तथा 'एक जिन्दगी और' की भूमिका : १९६१)

आज की कहानी : परिभाषा के नये सूत्र

राजेन्द्र यादव

चूंकि हर युग की कहानी 'नयी' होती है इसलिए पिछले दशक की कहानी को 'नयी कहानी' नाम देना आगे जाकर अध्येताओं के लिए गलतफ़हमी पैदा कर सकता है। मगर कहानी की इस धारा को कोई-न-कोई नाम तो देना ही होगा, क्योंकि चाहे हम 'नयी कहानी' नाम की कोई चीज मानें या न मानें, यह स्वीकार करने के लिए तो विवश हैं ही कि इन दस वर्षों में कहानी का एक ऐसा व्यक्तित्व जरूर सँवरा और निखरा है जो उसकी पिछली परम्परा से एकदम भिन्न है। वस्तु और रूप यानी सब मिलाकर कहानी की परिकल्पना में मौलिक अन्तर जरूर आये हैं—और ये अन्तर काफी सशक्त भी रहे ही होंगे, तभी तो सारी साहित्यिक चेतना आज धीरे-धीरे कविता से हटकर कहानी पर केन्द्रित हो रही है। कहा जाता है कि 'नयी कविता' परम्परा का तिरस्कार है और 'नयी कहानी' परम्परा का विस्तार। मुझे इस बात में भी विशेष दम नहीं दिखायी देता। विस्तार प्रगति जरूर बनाता है, लेकिन कहानी के इस नये रूप ने परम्परा को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया हो—ऐसा नहीं है, हाँ, कुछ सूत्र सामान्य हों तो हों। सच पूछा जाए तो तिरस्कार करने के लिए कविता के सामने एक गलत या सही परम्परा थी। उधर इस दशक की कहानी के सामने ऐसी कोई तात्कालिक परम्परा नहीं दिखायी देती जिसका तिरस्कार या विकास किया जाता। अतः उसे या तो नयी परम्पराओं की नींव डालनी पड़ी या परम्परा और प्रभाव के लिए बहुत दूर देखना पड़ा।

'तात्कालिक परम्परा' में 'तात्कालिक' शब्द को स्पष्ट करना जरूरी है। सन् ५० से ६० तक विकसित हुई आज की कहानी को अगली पीढ़ी किस निगाह से देखेगी, यह तो समय बतायेगा; लेकिन वर्तमान पीढ़ी यह मानने को बाध्य है कि विधा की परम्परा की दृष्टि से सन् ४० से ५० का पिछला दशक आज की कहानी को कुछ नहीं दे पाया—उसने जो कुछ दिया, वह सारे साहित्य को दिया। दोष उस दशक का नहीं है : देशी-विदेशी परिस्थितियों की अस्थिरता में चतुर्दिक् परिवर्तन और व्यापक उद्वेलन की गति इतनी तीव्र और तूफानी थी कि समाज की बनावट का कोई रूप निश्चित नहीं हो पाया था। तत्कालीन कथाकार इस बदल-

चौंध में कहीं भी आँख टिकाने मे अपने को असमर्थ पाता था। छः वर्षों तक चलता युद्ध, बयालीस का विप्लव, बंगाल का अकाल, नाविक-विद्रोह, स्वतन्त्रता, दंगे, शरणार्थियों के काफिले, सरकारी भ्रष्टाचार और राजनीतिक पार्टियों की आपा-धापी—सब कुछ एक के बाद एक इस तरह आता चला गया कि व्यक्ति-मन के धरातल पर उन सबका समाहार कथाकार के लिए असम्भव हो गया। उसकी निगाह तेजी से बदलती सतह पर ही टिकी रही और वह कहानी के नाम पर शब्दचित्र 'स्केच' या 'रिपोर्ताज' से आगे नहीं बढ पाया। मूलत वह युग नारों और भाषणों का था। परिणामत साहित्य की हर विधा में आवेश, उत्साह और आग की लपटों के साथ साथ अन्धाधुन्ध शब्दों का लावा फूटता था। हर वस्तु को देखने का कोण व्यक्ति न होकर भीड़ था, और भीड़ के आशावाद—यानी मौरेल—को बनाये रखने के लिए हर दूसरे वाक्य मे नया सूरज निकाल दिया जाता था।

पुरानी नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक या भौगोलिक सभी भूमियों से विस्था-पित शरणार्थियों के दल के दल जब कहीं भी पाँव टिकाने को दिशाहारा की तरह भटक और बौखला रहे हो, तब अकेले व्यक्ति की कुंठाओं और दर्दों को गाने या सुनने की फुरसत किसे होती? ऐसे दिगन्तव्यापी विघटन और विशृंखलन में व्यक्ति को जीवन और आस्था देता है केवल सामूहिक सद्भाव, सामूहिक आशा-वाद...

इस प्रकार इस दशक की कहानी (जिसे हम आज की कहानी कहेंगे) ने इस समूहगत सामाजिकता के वातावरण में आँखें खोलीं। चाहे तो इसे ही पिछली पीढ़ी की विरासत मान सकते हैं; लेकिन वस्तुतः यह सामाजिकता तो एक ऐसी चेतना थी जो साहित्य की सभी विधाओं को समान रूप से मिली थी। अभी तो इस चेतना का अपना रूप भी स्थिर होना था और यह गौरवपूर्ण कार्य आज की कहानी ने किया—अर्थात् आज की कहानी ने समूहगत सामाजिकता को व्यक्ति-गत सामाजिकता के रूप में देखने-पाने की कोशिश की। विराट् युग-बोध को व्यक्ति या व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों की चेतना, यानी मन के अनेक स्तरों पर आकलन और प्रतिफलन के नाटक को, आज की कहानी ने ही सबसे पहले देखा।

सतही दृष्टि से देखनेवालों ने अक्सर ही इस दशक की कुछ कहानियों पर जैनेन्द्र और अज्ञेय की कुंठा, पराजय और घुटन के पुनर्प्रस्तुतीकरण का आरोप लगाया है। हो सकता है हममें से कुछ ने उन्हीं स्थितियों और चरित्रों को दुहराया हो, लेकिन जरा गहराई से देखने पर साफ़ हो जायगा कि जिस कुंठा, पराजय और घुटन को स्वयंसिद्ध सत्य मानकर जैनेन्द्र और अज्ञेय ने अपनी कहानियों का ताना-बाना बुना था, उसी सबको आज के कहानीकार ने अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में, अधिक तटस्थ और निर्वैयक्तिक दृष्टि के साथ चित्रित किया है। आधारभूत

अन्तर यह है कि विकृति पहली बार 'दृष्टि' में थी—इस बार दृष्टि स्वस्थ है—'दृश्य' चाहे विकृत हो। क्योंकि आज की कहानी में आनेवाला व्यक्ति निश्चित रूप से अधिक स्वस्थ सामाजिक चेतना की उपज है। और यहीं कहानी को उस परम्परा से अपने सम्बन्ध जोड़ने थे जिसके बीज उसे प्रेमचन्द और यशपाल से मिले थे।

पिछली पीढ़ी के कुछ कहानीकारों ने एकाधिक बार झुँझलाकर कहा है—"आज की कहानी ने आखिर ऐसा क्या कर दिखाया है जो पहले नहीं था? ऐसे कथा-प्रयोग तो प्रेमचन्द, यशपाल या समकालीन उर्दू-कथाकारों—मंटो, बेदी, अश्क, कृष्णचन्द्र इत्यादि—में कई मिल जाएँगे।" बात आरोप के रूप में कही जाती है लेकिन अनजाने ही यह भी सिद्ध करती है कि आज के कथाकार ने उन्हीं की टूटी-फूटी, विस्मृत और दूर पड़ी परम्परा को ही तो विकास देने की कोशिश की है। अगर प्रेमचन्द या अन्य कहानीकारों में कहीं ऐसा कुछ मिलता है जो आज की कहानी के बहुत अधिक निकट है तो उसे अनुकरण ही क्यों माना जाए? क्यों न यह माना जाय कि आज की कहानी ने अपना प्रारम्भ वहीं से किया है। अपनी दृष्टि से उस सबको देखा है।

निस्सन्देह उन परिलक्षित समानताओं में भी दृष्टि का अन्तर बहुत स्पष्ट है—और वही दृष्टि है जो पिछली सारी कहानी को आज की कहानी से अलग करती है। उस युग के कहानीकार के पास अपने कुतुबनुमा या प्रेरक-शक्ति के रूप में सिर्फ एक चीज थी और वह थी सहज-मानवीय संवेदनशीलता। उसी से प्रेरित कोई भी 'विचार', 'गल्प' या 'आइडिया' उसके सामने कौंधता था और वह कुछ पात्रों, कुछ स्थितियों, कुछ घटनाओं के सर्वांग संयोजन से उसे घटित या उद्घाटित कर देता था। अर्थात् कहानी की सर्वमान्य परिभाषा के अनुसार किसी भी मूड, घटना, या प्रभाव और विचार को लेकर कहानी लिख दी जाती थी और कहानी के इस केन्द्रीय तत्त्व को उभारकर पाठक पर एक संवेदनात्मक प्रभाव डालना ही तात्कालिक कहानी का उद्देश्य था। चरित्र, देश-काल, कथोपकथन, चरित्र चित्रण इत्यादि कहानी के सारे तत्त्व उस केन्द्रीय आइडिया या 'गल्प' को सिर्फ उद्घाटित या घटित करने के लिए आलम्बन और उद्दीपन के रूप में ही निमित्त बनाकर लाये जाते थे। अतः उनके आधिकारिक या बहुत प्रामाणिक और अधिक वास्तविक होने की लेखक को विशेष चिन्ता नहीं होती थी। केन्द्रीय तत्त्व उस 'गल्प' या 'आइडिया' के आलम्बन-उद्दीपन के लिए देश या विदेश, भूत या वर्तमान किसी भी स्थान, किसी भी वर्ग को आसानी से अपनी विषय-वस्तु या घटनास्थल के रूप में चुन सकता था। इस प्रकार, पात्र और देश-काल सम्बन्धी अनेक प्रकार की स्थितियों का आयात करके—नाटकीय प्रसंग, क्लाइमैक्स और अप्रत्याशित अन्त द्वारा उस प्रभाव का [illegible] अपनी कहानी को काफी रोचक और प्रभावशाली बना देता था।

बहुत अस्वाभाविक नहीं है कि उस युग के कहानीकार और उस मानसिकता मे विकसित पाठक को आज की कहानी में वह सब नहीं मिलता। न उसे साँस-रोक क्लाइमैक्स मिलता है, न एक के बाद दूसरी घटनाओं मे छलांगें भरता कथानक। सब मिलाकर उसे आज की कहानी विषय-वस्तु के लिहाज से उलझी, अस्पष्ट, अपूर्ण लगती है और रूप के लिहाज से ढीली, अनगढ़ और भोंडी; और तब वह श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के शब्दों मे शिकायत करता है कि "कहानी अभी उस ऊँचाई तक नहीं पहुँची, जिस पर चौथे दशक के उत्तरार्ध मे पहुँच गई थी।"

उस 'ऊँचाई' पर पहुँची है या नहीं, यह कहना तो मुश्किल है, लेकिन कहानी की धारणा मे आधारभूत अन्तर जरूर आया है। एक ओर तो आज के कहानीकार का 'सत्य' या 'आइडिया' इतना कटा-छँटा और स्वयं-सम्पूर्ण नहीं है; दूसरे, शेष सभी कुछ आइडिया को घटित करने के लिए निमित्त-भर हो, यह उसे स्वीकार्य नहीं है। कोई भी आइडिया, विचार या सत्य—व्यक्ति या पात्र के जीवन की धारा में रहते हुए ही उसकी उपलब्धि बने, उसका प्रयत्न यह है। उसकी यथार्थ दृष्टि बताती है कि बिना देश-काल अर्थात् परिवेश के व्यक्ति की कल्पना अधूरी और आनुषंगिक है। व्यक्ति के अन्तर्बाह्य निर्माण मे उसके संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, सामाजिक स्थिति, सम्पर्क और पेशा—सभी का हाथ होता है। इस सबकी पृष्ठ-भूमि के साथ ही, अपनी सीमाओं के भीतर ही कोई व्यक्ति सत्य को उपलब्ध या उद्घाटित कर सकता है। बिना इस परिवेश की संगति को आत्मसात् किये, हर किसी 'सत्य' या आइडिया को घटित और उद्घाटित करना—उनका आरोप करना है, प्राप्त करना नहीं।

अतः आज की कहानी अधिक यथार्थ-दृष्टि, प्रामाणिकता और अधिक ईमानदारी से अपने आसपास के परिचित परिवेश मे ही किसी ऐसे सत्य को पाने का प्रयत्न करती है जो टूटा हुआ, कटा-छँटा या आरोपित नहीं—बल्कि व्यापक सामाजिक सत्य का एक अंग है। मेरे कहने का कदापि यह अर्थ न लिया जाए कि आज की कहानी का कोई केन्द्रीय भाव या आइडिया और विचार नहीं होते—नहीं, आज की कहानी का ताना-बाना भी आइडिया, विचार या केन्द्रीय भाव के आस-पास या उसके लिए ही बुना जाता है—लेकिन कहानी उसे उसकी जन्म-भूमि से काटकर अलग नहीं करती। वह तो सिर्फ उसकी स्थिति ज्यों-की-त्यों बनाये रखते हुए सिर्फ उस केन्द्रीय भाव या आइडिया को रेखांकित या फोकस कर देती है। यही नहीं, आज की कहानी अतिरिक्त सावधानी बरतती है कि कहीं वह केन्द्रीय भाव या आइडिया अपनी शेष धारा से कट न जाए। इसके लिए उसे अधिक संवेदनशील दृष्टि और अधिक नाजुक शिल्प का सहारा लेना पड़ता है।

बात को स्पष्ट करने के लिए फिर सूत्र को 'व्यक्तिगत सामाजिकता' से पकड़ना होगा। आज का कहानीकार यह मानता है कि युग के सारे विराट् को,

गतिशील मूल्यों के संस्कारों और संक्रमण को कहानी के माध्यम से हम व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की चेतना-धारा में, कभी-कभी चेतना के अनेक स्तरों पर एकसाथ पकड़ने की कोशिश करते हैं। काल के प्रवाह में, व्यक्ति की सामाजिकता का बोध और स्थिति ही आज की कहानी की विषय-वस्तु है। कथाकार व्यक्ति को उसकी समग्रता में देखने का आग्रह करता है। व्यक्ति को उसके सामाजिक परिवेश, मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों तथा व्यावहारिक जीवन के तकाज़ों तथा अन्य आवश्यकताओं की एक संश्लिष्ट प्रक्रिया के रूप में पाना चाहता है। इसलिए कहानी का कोई भी तत्त्व निमित्त या आलम्बन बनकर नहीं, स्वयं आश्रय या विषय-वस्तु बनकर आता है। परिणामतः इन दस वर्षों की कोई भी अच्छी कहानी उठा लीजिये—उसका प्रभाव या परिणति एक झटके के साथ देखा या पाया हुआ सत्य नहीं होता। न वह हथौड़े की चोट की तरह सारे अस्तित्व को झनझनाती है न चुभे तीर की तरह टीसती है। वह तो कुहासे या अगरगंध की तरह समस्त चेतना पर छा जाती है—स्वयं उसका अंग बन जाती है। इस प्रकार अनजाने ही आत्मा को संस्कार और दृष्टि देती है। यही यह कहना बहुत बड़ी गर्वोक्ति न होगी कि मानव-आत्मा का शिल्पी आज की कहानी में ही पहली बार अपनी भूमिका का सही निर्वाह करने का प्रयत्न करता है।[1]

कहानी की इस एकान्विति और संश्लिष्टता को देखकर ही नामवरसिंह ने सबसे पहले आवाज़ उठायी थी कि रूढ़ शास्त्रीय तत्त्वों के अनुसार कहानी को अलग-अलग खंडों में देखना ग़लत है। कहानी अब अपनी पुरानी हदें तोड़ आयी है और नयी परिभाषा चाहती है।

व्यक्ति को समग्रता में देखने का आग्रह—या व्यक्तिगत सामाजिकता का बोध कथाकार के लिए दुहरा दायित्व देता है। सबसे पहली जिम्मेदारी तो यह कि व्यक्ति अपना व्यक्तित्व न खो दे—उसे अधिक-से-अधिक ईमानदारी, आत्मीयता और संवेदनशीलता के साथ चित्रित किया जाय—दूसरा यह कि इस आत्मीयता और संवेदनशीलता को अधिक-से-अधिक व्यापक, कन्विन्सिंग और कॉम्प्रिहेन्सिव बनाने के लिए व्यक्ति को उसके परिवेश से न तोड़ा जाय। व्यक्ति को उसके सामाजिक, ऐतिहासिक, पारिवारिक परिवेश से अलग न करने की यथार्थ दृष्टि, अर्थात् समग्रता में देखने का आग्रह, तभी सफल हो सकता है जब कथाकार व्यक्ति और परिवेश दोनों से तादात्म्य स्थापित कर सके, या ऐसे परिचित परिवेश से व्यक्ति को उठाये कि तत्काल उसका तादात्म्य प्राप्त कर ले। शायद यही कारण है कि पहले के कथाकार की तरह आज का कथाकार न तो हर किसी व्यक्ति को ले पाता है न हर किसी परिवेश में उसे रखना पसन्द करता है। स्वानुभूति का

स्वाभाविक ही है कि आज की कहानी का व्यक्ति और परिवेश इतने आत्मपरक (सब्जैक्टिव) और वैयक्तिक (पर्सनल) है कि अकसर ही व्यक्ति के रूप में लेखक और परिवेश के रूप में उसके अपने आसपास का भ्रम होने लगता है। स्वानुभूति की सीमाएँ उसे व्यक्ति के रूप में 'मैं' से और परिवेश के रूप में इस 'मैं' के 'अपने ही वातावरण' में बाँधे रखती है। तब हम कहते हैं, अमुक लेखक अपने को दुहरा रहा है। लेकिन जब वह अपनी कहानी के विविध व्यक्तियों को 'मैं' की आत्मीयता और संवेदनशीलता, तथा विविध परिवेशों को 'मेरा अपना वातावरण' जैसी सहजता और यथातथ्यता दे देता है तो यह उसकी कला-दृष्टि की ईमानदारी और सफलता है। व्यक्ति और परिवेश की यह संश्लिष्ट विविधता, पहली कहानी की पात्र-देश-काल-कथानक इत्यादि की विविधता से, एकदम अलग है। मगर यह भी सही है कि 'स्वानुभूति' के आग्रह या यथार्थ-दृष्टि में बँधा आज का लेखक विविधता की दृष्टि से निर्धन ही है। हाँ, अपनी समग्रता में आज की कहानी जितनी विविध है, उतनी शायद ही पिछले किसी युग की रही हो।''

अब विविधता न दे पाने के कारण पर एक और कोण से विचार करें। विविध व्यक्तियों को 'मैं' की सब्जैक्टिव आत्मीयता और संवेदना तथा विविध परिवेशों को 'मेरा अपना वातावरण' जैसी दृष्टि और यथातथ्यता देने का आग्रह लेखक की सारी रचना-प्रक्रिया को बदल देता है। 'मैं' को पूरी तरह जानने और उसमें तादात्म्य स्थापित करने के लिए, साथ ही उसके परिवेश को आत्मसात् करने के लिए—व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्धों और सदर्भों को दूरी और गहराई तक जानने की जरूरत पड़ती है। तब कहानी के कलेवर में एक केन्द्रीय भाव को फोकस करते समय, उसके लिए यह छाँटना बड़ा मुश्किल हो जाता है कि क्या रखे और क्या छोड़े। सभी तत्त्व तो एक-दूसरे से गुँथे हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। निश्चय ही यह धर्म-संकट उसके आवश्यक-अनावश्यक को छाँटने के विवेक की कमी नहीं, संश्लिष्टता का आग्रह है। पिछली पीढ़ीवाले, या कहिये परम्परागवद्ध कथाकार की तरह अपनी निर्वैयक्तिक (ऑब्जैक्टिव) दृष्टि और प्रतिभा के तेज़ चाकू से कसाई-जैसी तटस्थता के साथ एक साफ-सुथरे, कटे-छँटे आइडियावाली कमी-कमायी (ऐवज़ैक्ट) कहानी काट कर निकाल लेना आज के कहानीकार के लिए भी कठिन नहीं है। लेकिन क्या सचमुच कोई भी भाव या भावना ऐसी अलग-अलग, स्वयं-सम्पूर्ण और सीधी-सपाट होती है? मुझे तो हर भाव या भावना के सूत्र और रेशे, व्यक्ति तथा परिवेश के भीतर बहुत दूरी और गहराई में समाये, एक-दूसरे से बहुत अधिक गुँथे और उलझे हुए लगते हैं। और मेरे सामने तो इस बुनावट (टैक्स्चर) की जटिलता का अहसास तथा उसे ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत कर देने का आग्रह 'क्या छोड़ूँ, क्या न छोड़ूँ' का धर्म-संकट बन जाता है। शायद यही कारण

है कि आज की कहानी अपने परम्परागत आकार से ही दुगुनी नहीं हो गई है, वरन् व्यक्ति और परिवेश को दूरी और गहराई के अनेक कोणो और आयामो में देखने के कारण भी उपन्यास के अधिक निकट पड़ती है। आज की अधिकांश कहानियाँ ऐसी है जिन्हे पुराना लेखक उपन्यास के रूप मे लिखना ज्यादा पसन्द करता।

मगर अनजाने ही कहानी उपन्यास की सीमाओ मे अतिक्रमण भले ही करे, कहानी को उपन्यास बनने की छूट न पुराना लेखक देगा, न नया लेखक चाहेगा। चाहे जितनी सश्लिष्ट और समग्र हो—उसे अपनी बात बहुत सक्षेप में और सकेत मे कहनी है। खड में अखंड को देखने की मजबूरी ही है कि वह समाज से एक व्यक्ति को और जीवन से एक केन्द्रीय क्षण को काट कर उससे दूरी और गहराई एक साथ पाने की कोशिश करता है। यह व्यक्ति और क्षण, काल और परिवेश की लम्बाई और चौड़ाई में गवाक्ष बनकर आते हैं। इस प्रकार युग की समग्रता को सकेत में पाने का प्रयत्न—अर्थात् व्यक्ति और परिवेश के बहुमुखी आपसी सम्बन्ध और दूरी-गहराई के व्यापक संदर्भों के संक्रमण, परिवर्तनों की नानास्तरीय सश्लिष्ट प्रक्रिया—और इस सब कुछ को सकेतो तथा जीवन की प्रासगिक—रिलेवेण्ट—रूपाकृतियों—इमेजो द्वारा व्यक्त करने का कौशल, आज के कहानीकार को कविता की ओर मोड़ता है। प्रतीक, रूपक, बिम्ब, लाक्षणिकता या सगीतात्मक ध्वनियों के सहारे वह प्रभाव को चेतना के अनेक स्तरो पर सम्प्रेषित और सवर्धित करने का प्रयत्न करता है, क्योंकि आज का व्यक्ति-मन उतना सीधा और सपाट रह भी नहीं गया है। नये-पुराने मूल्यो के सघर्ष और सक्रामणो ने उसे सकुल और जटिल बना दिया है।

व्यक्तिगत सामाजिकता हो या निर्वैयक्तिक वैयक्तिकता—उपन्यास की व्यापकता हो या कविता की अनेकार्थी सुकुमार सूक्ष्मता, कहानी ने जहाँ उन सबका निर्व्याज-भाव से समाहार किया है वही वह सफल है; और जहाँ पोषित और आरोपित है वहाँ असफल। प्रयोग-काल की सफलता और असफलताओं को छूट तो देनी ही होगी।

आवश्यक आज के कथाकार के लिए यह है कि वह व्यक्ति और उसके परिवेश को सही सदर्भों मे सन्तुलन देता चले। परिवेश को छोड़कर व्यक्ति पर आने को केन्द्रित कर लेने में वह पुनः उन्हीं कथाकारो को दुहरायेगा, जिन्हें कुंठित और रुद्ध घोषित करता रहा है—और व्यक्ति को छोड़कर परिवेश का आग्रह उसे उसी तरह भटका देगा जैसा आज के कुछ प्रतिभाशाली कथाकारो को उसने भटका दिया है। शहरी और ग्रामीण कहानी का आग्रह परिवेश और वातावरण के विज्ञापन के सिवा क्या है? बदलता हुआ परिवेश—तथा उसे बदलने के साथ-साथ स्वयं नित-नित नया होता व्यक्ति अपनी हार-जीत, घुटन और आकांक्षाओं

में क्या कुछ कम नाटकीय है ? विवाद और विमर्श इस थीम को लेकर होना चाहिए—व्यक्ति और परिवेश को अलग-अलग उठाकर नहीं। जहाँ तक कहानी इन दोनों के संश्लिष्ट सम्बन्ध को स्वस्थ और संतुलित दृष्टि से पाठक के मन पर उतार सकती है, उसके सारे व्यक्तित्व एवं भाव-बोध को उदात्त संस्पर्श दे सकती है, वहाँ तक उसकी सफलता असंदिग्ध और सार्थक है।

['किनारे से किनारे तक' की भूमिका-रूप में मा

कथाकार की अपनी बात : आज की कहानी के संदर्भ मे

रमेश बक्षी

पहले अपने पाठकों से मैं निवेदन कर देना चाहता हूँ कि आधुनिक कथा-साहित्य की शैली से सम्बन्धित मेरा यह वक्तव्य निबन्ध या लेख की शक्ल में नहीं है। यह असम्बन्धित लेकिन सापेक्ष ढंग से विषय के आसपास घूमता है। नये कथा-साहित्य के पाठक और लेखक होने का अहसास मुझे हमेशा बना रहा है, शायद इसी कारण अपनी बात कहने के लिए यह अशास्त्रीय शैली उपयुक्त लगी।

'आधुनिक कथा-साहित्य' कहते ही श्रोता जिस आशय को ग्रहण करते हैं वह स्पष्ट ही नयी कहानी, अथवा, नया उपन्यास और एण्टी-नावेल है। नये बोधवाले ये नाम स्वाधीनता के बाद हिन्दी में आये हैं। यह भी कहा जा सकता है कि ये नाम परम्परा के विरोध-स्वरूप प्रचलित हुए और हिन्दी कथा-साहित्य की विकास-दिशा के नये मील-स्तम्भ बने। यों हिन्दी कथा-साहित्य की उम्र बहुत बड़ी नहीं है। जिसे सुविधा के लिए हम लोग पुरानी कहानी कहते हैं वह हिन्दी कथा-साहित्य का बचपन था और बचपन से आगे वय-सन्धि वाली उम्र। प्रेमचन्द, प्रसाद और उनके बाद यशपाल, अज्ञेय, जैनेन्द्र की कहानियाँ आज की नयी कहानी के लिए केनवस-भर थीं। स्वाधीनता से पहले भी अच्छी कहानियाँ लिखी गई हैं लेकिन उनमें से अधिकांश उस वक्त के अनुसार अच्छी थीं या कहानी नाम की कोई 'एस्टेब्लिश्ड' चीज हिन्दी में नहीं थी इसलिए प्रसिद्ध हो गईं। नयी कहानी की बात करते समय पुरानी कहानी को सतर्क नकारना मेरी भूमिका है, क्योंकि उस सारे कथा-साहित्य में न तो देश की रूपरेखा देखता हूँ, न मुझे वे कालसम्यक् लगती हैं...वातावरण और मन-स्थिति तो काफी दूर की बातें है। किसी आलोचक ने विदेशी समीक्षा से उधार लेकर, उन्हें बिना समझे-बूझे, कहानी-उपन्यास के छः शास्त्रीय तत्त्व बना दिये—यह सब उसी तरह का कार्य है जैसे मात्रा और वर्णों की गिनती लगा-लगाकर कोई छन्द-रचना करे। समीक्षा इस तरह होती थी कि जैनेन्द्र की कहानियाँ चरित्रप्रधान हैं, यशपाल की वस्तुप्रधान या हायर सेकंडरी लेवल पर यों कहें कि प्रेमचन्द की कहानियाँ गाय-प्रधान, गुलेरी की त्याग-प्रधान और कौशिक की ताई-प्रधान... ...आप किसी की मृत्यु पर थोड़ा-सा रोइये, किसी के अचानक हृदय-परिवर्तन पर

चौंकिये, किसी की नुस्खेदार उदासी पर सामने रखी चाय को ठंडा कीजिये, किसी के बेमतलब नंगे होने में रुचि दिखाइये और 'भारत महान् देश है'—जैसा कोई उद्बोधन सुनकर अपनी अक्ल पर ही तरस खाइये...बस, इतना कीजिये और आप हिन्दी के प्राचीन कथा-साहित्य की यात्रा पूरी कर चुके होंगे...मुझे यह बिलकुल समझ में नहीं आता कि हम लोग साहित्य के मामले में ऐसे दिवालिया क्यों थे—क्यों उस गुलामी को पूरी तेज़ी के साथ में हमने महसूस नहीं किया ? जब राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक रूप से हम त्रस्त थे, जब हमारी गर्दन किसी के जूतों तले दबी हुई थी, तब क्यों नहीं हममें फ्रस्ट्रेशन आया ? क्यों नहीं हममें कुण्ठाएँ पैदा हुईं ? क्यों नहीं विद्रोह और विरोध के बवण्डर हममें उठे...? जहाँ मेरा यह प्रश्न समाप्त होता है, वहीं मैं नयी पीढ़ी की तथाकथित बुराइयों की वकालत करने लगता हूँ। आज के कथा-साहित्य का शिल्प क्या है ? मेरा तत्काल उत्तर है इन्द्रिय-संवेदना। अब मुझे आप इसी शिल्प-शैली के विश्लेषण की आज्ञा दें तो मैं कहूँगा कि नयी कहानी एक ओर यदि सही-सही अनुभूति को सही-सही ढंग से ग्रहण करना है तो दूसरी ओर सार्थक अभिव्यक्ति को कलात्मक मोड़ देना भी है। नयी कहानी ने सबसे पहले जैनेन्द्र-यशपाल-छाप साँचों को अस्वीकारा है इसलिए उसका स्वरूप परम्परा का विकास नहीं, परंपरा का विरोध है। विकास उस परम्परा का किया जाता है जिसमें प्रजनन की शक्ति हो। उस परंपरा का विकास नहीं किया जाता जो अपने ही हाथों बधिया गई हो। स्वाधीनता के ठीक बाद की कहानियाँ आप देखें तो ऐसा लगेगा कि शिल्प के हज़ार मोड़ उनमें हैं—बारीकी है, बखिया है, कसीदा है, फुलकारी है। यहाँ तक सन्देह होने लगा था कि कथ्य के बजाय इनमें शिल्प ही शिल्प है—राजेन्द्र यादव की 'एक कमज़ोर लड़की' हो या कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' या निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' या मोहन राकेश की 'मिस पाल' या रेणु की 'मारे गए गुलफाम' अर्थात् 'तीसरी कसम', शिल्प के प्रति एक छटपटाहट आप देखेंगे—इन नये लेखकों का प्रयास यह रहा है कि इन्हें अपने को ठीक-ठीक अभिव्यक्त करने के बजाय मोड़ देने की चिन्ता ज़्यादा रहती थी—ऐसे किस्से भी हुए हैं कि प्याज सिर पर चढ़ जाने से अनुभूति उधार देनेवाला डिग्री ले आया हो—नयी कहानी फैंटेसी या सपाटता के प्रति विरोध भी रही है इसलिए शिल्प-शैली के पर्व उसमें अधिक दिखायी देते हैं। राजेन्द्र यादव और स्वयं मैंने विषय को ठीक-ठीक सम्प्रेषित करने के लिए ज़रूरत से ज़्यादा प्रयोग किये हैं। मैं तो यह कह सकता हूँ कि मैं स्वभाव से प्रयोगधर्मा रहा हूँ। कथा, चरित्र, वातावरण, पुरुष, देश-काल और उद्देश्य तक में प्रयोग। प्रयोग की हमेशा दो दिशाएँ रहा करती थीं, एक दिशा वह जो उसे प्राचीन से अलग करती है और दूसरी दिशा वह जो उसे नयी ज़मीन तोड़ने को कहती है। मैं सोचता हूँ अब अंचल और नगर को लेकर विभाजन नहीं किया जा सकता। रेणु ठेठ आंचलिक होकर भी नये हैं और जैनेन्द्रजी देहातीपन कहानियाँ

लिखकर भी पुराने। नयापन दृष्टि का है। इस दृष्टि को पकड़ा और ग्रहण किया जा सकता है यदि कुछ नये कथा-संग्रहों का पाठ ईमानदारी के साथ किया जाये। फणीश्वरनाथ रेणु का 'ठुमरी', मोहन राकेश का 'एक और जिन्दगी', राजेन्द्र यादव का 'किनारे से किनारे तक', कमलेश्वर का 'खोयी हुई दिशाएँ', उषा प्रियंवदा का 'जिन्दगी और गुलाब के फूल', मन्नू भण्डारी का 'तीन निगाहों की तसवीर', कृष्ण बलदेव वैद का 'बीच का दरवाज़ा', नरेश मेहता का 'तथापि', रामकुमार का 'एक चेहरा', निर्मल वर्मा का 'परिन्दे', हरिशंकर परसाई का 'जैसे उनके दिन फिरे', शानी का 'छोटे घेरे का विद्रोह', प्रयाग शुक्ल का 'अकेली आकृतियाँ' और मेरा संग्रह 'मेज पर टिकी हुई कुहनियाँ'— ऐसे संग्रह हैं जो अलग-अलग स्तरों पर नये हैं। किसी में संवेदन की तीव्रता, किसी में युग-बोध का संस्पर्श, किसी में तीक्ष्ण व्यंग, किसी में चित्रकला का सूक्ष्म शिल्प और किसी में जीवन से काटे गए किसी एक समय के दर्शन किये जा सकते हैं। कहानी कभी समानान्तर होकर उभरती है, कभी विरोध-रूप होकर फैलती है। रूपक और प्रतीक कथा के माध्यम से सम्प्रेषित ही नहीं होते, ध्वनित और प्रतिध्वनित भी होते हैं। इस सारे शिल्प-सौष्ठव के बीच एक बात स्पष्ट दिखायी देती है कि कथाकार युग के साथ संपृक्त और रागात्मकता के प्रति असंपृक्त एक साथ है। आज के कहानीकार की संवेदना सान पर चढ़ी हुई है, वह दिन-ब-दिन पैनी और गहरी होती जा रही है लेकिन इसके साथ ही वह भावुक और टची नहीं रह गया है, इस मामले में वह थुड और रफ की कोटि तक पहुँच गया है। वह स्वभाव से किसी भी गलत लिबास को ओढ़ नहीं सकता। मैं यह कह सकता हूँ कि समाज के वस्त्र जो नैतिकता के किसी टेलर ने सीये हैं, वे ऊटपटाँग ढंग से काटे गये हैं और उनकी सिलाई आउट-ऑफ़-डेट है—मैं कहानी लिखने से पहले समाज का आउट-फिटर होना चाहता हूँ। देखता हूँ कि वस्त्रों पर परंपरा की गर्द जमी है, अतः मैं पहले ड्राईक्लीनर होना चाहता हूँ। यहाँ तक कि बीसवीं सदी के राजपथ पर मैं सत्रहवीं शताब्दी के दकियानूस हिंदुस्तानी को चहलकदमी करते देखता हूँ तो उस पर ढेला फेंकने को मैं अपने जन्म का पहला कर्तव्य समझने लगता हूँ। नयी पीढ़ी का कथाकार किसी-न किसी स्तर पर किसी-न-किसी बात का 'एंग्री' अवश्य है। यह सब आधुनिकता की देन है और नयी कहानी के शिल्प का इससे निकट-संबंध है।

अब एण्टी-कहानी या अकथा की बात सामने आती है। जो अकथा विदेश में है उससे हिन्दी की अकथा का शिल्प थोड़ा भिन्न होगा, भिन्न इसलिए कि जिन सीढ़ियों को पश्चिमी कहानी उस शिल्प या ईवॉल्व स्वरूप को प्राप्त कर चुकी है, वहाँ तक पहुँचने के लिए हिन्दी की कहानी को अभी कुछ सीढ़ियाँ और पार करनी हैं। यह सर्वथा व्यक्तिगत दृष्टिकोण है कि हिन्दी की कहानी पहले एण्टी-[illegible], पहले एण्टी-[illegible], पहले एण्टी-रोमांटिक, पहले एण्टी-[illegible]

होगी, फिर बाद को एण्टी-स्टोरी।

इसी बीच लघु उपन्यास दर्जनों से सैकड़ों की संख्या में पहुँच रहे हैं, उनमें से अधिकांश साधारण तथा घटिया हैं। बड़े उपन्यास लिखे तो बहुत गये लेकिन कोई भी उनका ठीक-ठीक निर्वाह नहीं कर सका है। 'उखड़े हुए लोग', 'अँधेरे बन्द कमरे' 'बीज', 'भूले-बिसरे चित्र', 'झूठा सच', 'जयवर्धन', 'धूमकेतु एक श्रुति' सभी कहीं-न-कहीं कोई न कोई कमी लिये हुए है। जब उपन्यास ही नहीं लिखे गए तो एण्टी-नावेल की बात करना निरर्थक है। लेकिन यह सही है कि अच्छे उपन्यास लिखे जायेंगे क्योंकि उनकी जरूरत स्वयं लेखक महसूस कर रहे हैं—साथ ही यह भी सही है कि अच्छे उपन्यासों का रूप 'गोदान' या 'मैला आँचल' से नहीं लिया जायेगा। उपन्यास, कहानी के विराट् कैनवस का ही नाम नहीं है, सृजन की सम्पूर्णता का भी नाम है, सारे के-सारे समाज-बोध और काल-बोध को दे देने की उसमें क्षमता होनी चाहिए, साथ ही उसे शास्त्रीय तत्वों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए।

अब तक प्रकाशित सारे आधुनिक कथा-साहित्य का सर्वेक्षण किया जाये तो यह लगेगा कि सारा साहित्य अनिवार्य रूप से यथार्थवादी है, इस सारे साहित्य में व्यक्त व्यक्ति-व्यक्ति के घेरे, कुंठाएँ, उदासीनता, टूटन और ऊब प्रकृति से ऊर्ध्वमुखी हैं—ऐसा कहीं नहीं लगता कि आदमी सौ-पचास साल की उम्र लेकर ही आया है और आमाशय-गर्भाशय तक ही उसकी जरूरतें परिमित हैं। एक जमाने में जो किस्से-कहानी लड़के-लड़कियों को भ्रष्ट करनेवाले समझे जाते थे आज उनका ही नया रूप आधुनिक बोध सिखानेवाला माना जाता है। मेरा एक और अध्ययन यह भी है कि अपनी सदी के देश-काल की जितनी बेहतर तसवीर नयी कहानी से बनती है, साहित्य की अन्य किसी विधा से नहीं बनती। नयी कहानी का शिल्प मन्नू और अमरकान्त की कहानियों-सा कभी सीधा-सादा हो जाता है, कभी सर्वेश्वर और रघुवीरसहाय की कहानियों-सा चित्रभाषायुक्त, कभी निर्मल वर्मा की कहानियों-सा सर्वथा विदेशी, कभी रेणु की कहानियों-सा सर्वथा देशी, कभी श्रीकान्त वर्मा की कहानियों-सा शैलीहीन, तो कभी राजकमल की कहानियों-सा शैलीग्रस्त।—इसके बाद भी नयी कहानी एक रास्ता है, एक दिशा है—मंजिल या ध्रुवतारा नहीं।

[रूपाम्बरा, ६५]

हिन्दी-कहानी की दिशा

नित्यानन्द तिवारी

आज की हिन्दी-कहानी की चर्चा करते समय साधारणतः दो प्रकार की बातें की जाती हैं; यह कि हिन्दी-कहानी अज्ञेय-जैनेन्द्र से आगे नहीं बढ़ी है (दृष्टि की गहराई के रूप में), यह कि हिन्दी-कहानी पहले जो कुछ लिखा गया है उसका पुनः प्रस्तुतीकरण है, डिस्टार्टेड है, विदेशी लेखकों का अनुसरण है, शिल्प-चमत्कार है; या फिर यह कि हिन्दी-कहानी 'नयी कविता' की भाँति हो नयी नहीं है। वरन् 'कविता में अभी वैसी स्थिति नहीं आयी है।' इन दो अतियों से बचकर भी बातें हुई हैं, किन्तु एक पारंपरिक शृंखला में रखकर इन्हें सोचने-समझने और *मूल्यांकन करने की तटस्थ द्रष्टा के रूप में कम हुई है, और यदि हुई भी है तो उस* ऐतिहासिक नवीनता का कंक्रीट-रूप क्या है?

कहानी में वह किस रूप में *प्रतिफलित हुई है? इन बातों पर स्पष्ट विचार* नहीं हुआ है। रुचि संस्कार-सापेक्ष होती है और संस्कार की जड़ें परम्परा में बड़ी गहरी होती हैं। लेखकों की अपनी रुचि (निस्सन्देह परिष्कृत) ही विभिन्न अनुभूतियों में विविधता और पृथक्ता लाती है। और यह विविधता ही बाद में एक व्यापक इकाई में प्रवृत्ति का रूप धारण करती है, जो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सपृक्त नवीनता की वाहक होती है। वस्तुतः ऐतिहासिक शृंखला में अच्छे-बुरे, श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ का प्रश्न प्रायः नहीं उठा करता, वह अपनी अविच्छिन्नता में विकसित होती रहती है। उस शृंखला में साहित्य का जितना भाग जीवित रहता है, वह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके द्वारा चित्रित वर्तमान कितने रूप में भविष्य में जी सकता है। अतएव वर्तमान यथार्थ की भीड़ में उस 'अविच्छिन्न जीवंतता' को ढूंढ़ निकालना साहित्यकार के लिए सबसे बड़ी बात है। यह 'अविच्छिन्न जीवंतता' *परिवर्तित संदर्भों में विकसित होती चलती है।*

प्रेमचंद से लेकर आज के नवीनतम कहानीकारों तक इस दृष्टि से विचार करने पर कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। प्रेमचन्द की व्यापक सहानुभूति समाज के हर व्यक्ति के लिए थी। यदि जमींदार द्वारा पीड़ित उस किसान को वे अपनी सहानुभूति दे रहे हैं, तो वहीं उस जमींदार की भी पीड़ा समझ रहे हैं, उसकी भी विवशता

से उनकी सहानुभूति है। इन सबके प्रति एक अभिभूत करुणा उपजाना ही प्रेमचन्द का उद्देश्य था। या यदि इससे आगे भी बढ़ते हैं तो एक शार्टकट रास्ते से सुधार की बात करते हैं। कारण यह है कि प्रेमचन्द या उस समय के अन्य साहित्यकारों की दृष्टि मे परिवर्तन नहीं हुआ था। वे समाज के असामंजस्य को अनुभव कर, अपनी सहानुभूति देकर चित्रित कर देते थे। उनकी दृष्टि का संस्कार पुराना ही था, भले ही उनमे बाह्य परिवर्तन हुए हों। किन्तु उस अभिभूत करुणा मे धीरे-धीरे एक दृष्टि विकसित हो रही थी। इसे भी ऐतिहासिक प्रेक्ष्य मे ही समझा जा सकता है। बाद मे उसका स्पष्ट रूप उभरकर सामने आया। साधारणतया जब इस दृष्टि की बात की जाती है तो इस बात पर ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है कि दृष्टि एक ऐतिहासिक मार्क है, जो काल-सापेक्ष है, और वह मार्क ऐतिहासिक प्रक्रिया (Historical Process) मे विकसित होता चलता है। किन्तु होता ऐसा है कि वह ऐतिहासिक प्रक्रिया जारी रहती है, लेकिन कभी-कभी इधर-उधर भटकाव भी आ जाता है। यह इसलिए कि आदमी के पास जब नये ठोस आधार नहीं रहते, तो वह ऊब जाता है और कहीं रास्ता न पाकर स्थिति-विशेष पर टिक जाता है, अथवा किसी तात्कालिक मतवाद-विशेष का आग्रह लेकर उस स्थिति मे अपने सबंध व्यवस्थित करना चाहता है। प्रेमचद के बाद के लेखकों को शायद कुछ ऐसी ही स्थिति का सामना करना पड़ा। यह ठीक है कि जैनेन्द्र, यशपाल और अश्क, प्रेमचन्द से आगे बढ़कर सूक्ष्म और गहनतर भावों की ओर गये, लेकिन इन सबके पास अपने-अपने चौखटे थे; शायद इसलिए कि यदि वे इसका सहारा न लेते तो अपने को दिशा-विहीन पाते। यह उनके आत्मविश्वास की कमी थी, दृष्टि का धुंधलापन था और लगता है, प्रत्यक्ष जीवन पर उनकी आस्था कम थी। फलतः किसी ने तथाकथित वैचारिकता से अपनी गंभीरता स्थापित की और किन्हीं ने दर्शन-विशेष से अपने को जोड़कर वास्तविक जीवन की अनुभूतियों के साथ धोखा किया, किसी ने मनोविज्ञान का आश्रय लेकर आत्मव्याख्या की सूक्ष्म और जटिल इमारत खड़ी की। लेकिन मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि इनमें अनुभूति की सच्चाई थी ही नहीं। थी, लेकिन अपनी सम्पूर्णता मे सही दिशा मे बढ़ने के बजाय ये कहीं-न-कहीं अपने को चिपकाये रहे। 'अज्ञेय' ने अपने को किसी मतवाद-विशेष मे संयुक्त न कर, जो जैसा लगा, वैसे सीधे जीवन की अनुभूति प्राप्त की। उनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति मे बहुत सच्चाई है। यहाँ 'रोज़' कहानी की चर्चा की जा सकती है। 'रोज़' मे अभिभूत कर देनेवाली गहरी उदासी है, जो निस्सन्देह जीवन की गहरी यथार्थता है और उसका वर्णन बहुत ही फोटोग्राफिक है। किन्तु वह एक स्थिति-विशेष का स्वीकार मात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं। यथार्थ स्थिति को पकड़ लेना और उसका स्वीकार बड़ी चीज़ है, लेकिन साहित्यकार के लिए उससे भी बड़ी चीज़ है—उस वर्तमान यथार्थ का पीड़ित मर्म, जो अविच्छिन्न जीवनता से उसे जोड़ता है और प्रायः यही उसका

साध्य कथ्य भी हुआ करता है, जिसके अभाव में पच्चीकारी और नये शिल्पप्रयोगों की प्रधानता स्वाभाविक है।

इसके बाद का कुछ काल दिशा-निर्धारण की तैयारी का है। इसलिए कि इस बीच जो कहानियाँ लिखी गईं—सस्ती, सामाजिक और रोमांटिक—वे किस रुचि को सन्तुष्ट कर रही थीं, और उसकी प्रतिक्रिया आवश्यक थी। उस प्रतिक्रिया की वह भूमिका थी। फिर आज एक अर्से बाद कहानी में नयी संभावनाएँ और नयी संवेदनाएँ जीवन के नाना स्तर और नये संदर्भ नयी कलात्मकता के साथ व्यक्त हुए उनमें एक ताजगी और एक जीवंतता का आभास हुआ। बात यह हुई कि पहली बार यहाँ आदमी अपनी बदली दृष्टि और संदर्भ के प्रति सचेत हुआ। पहले के लेखक भी असामंजस्य का अनुभव करते थे, किन्तु न तो वे दृष्टि के ही प्रति सचेत थे और न संदर्भ के ही प्रति। 'रोज़' के बारे में कहा गया है कि वह एक स्थिति-विशेष का स्वीकार-मात्र थी। पहली बार असंगति और असामंजस्यपूर्ण जीवन की एक विशेष घटना की अनुभूति इस ढंग से चित्रित की गई। यहाँ एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि जीवन की समग्र छवियों, दृश्यों और कार्यों को देखने, समझने और व्याख्या करने का हमारा दृष्टिकोण सामान्य से विशेष की ओर आने की अपेक्षा, विशेष से सामान्य की ओर हो गया था। इसके मूल में सीधा वैज्ञानिक प्रभाव है। विज्ञान एक-एक चीज़ का निरीक्षण करता है, वर्गीकरण करता है और उनकी विशेषताएँ बतलाकर एक सामान्य नियम पर पहुँचता है। ठीक इसी प्रकार आज का कहानीकार, छोटी-से-छोटी मानवीय क्रियाओं को पूरी शक्ति से अपनी रचनात्मक प्रक्रिया में अनुभव करता है और उस छोटी-से-छोटी छवि या दृश्य में वह सामान्य अविच्छिन्न जीवंतता का मर्म पकड़कर अभिव्यक्ति देता है, जो वर्तमान को भूत और भविष्य की इकाई में जोड़ता है। वही सामान्य मर्म यदि कहानीकार से छूट जाय, तो वर्तमान का खंडित चित्र होकर रह जायगा। इसी संदर्भ में श्री लक्ष्मीकांत वर्मा द्वारा न ('राष्ट्रवाणी' में) उठाये गये कुछ प्रश्न विचारणीय हैं। उनका कहना है कि "अनुभूति की नवीनता के होते हुए भी वे कौन से तत्त्व हैं, जो नयी कहानी के सम्भाव्य रूप को पूर्णतः विकसित होने के मार्ग में बाधक सिद्ध होते हैं, और जिनके कारण आज का कथा-साहित्य समग्र संभावनाओं के बावजूद उसे ग्रहण करने में असफल सिद्ध हो रहा है।" उनके और भी प्रश्न हैं जो मूलतः इसी प्रश्न से संबद्ध हैं। आज की सब कहानियों को देखते हुए इसमें औचित्य है। इसलिए कि बहुत-सी कहानियाँ केवल स्थिति-विशेष के प्रति एक गहरी उदासी और करुणा उत्पन्न करके रह जाती हैं। उसमें क्रियात्मकता नहीं रहती। मनुष्य इतना बेबस तो नहीं है कि वह विवश ही बना रहेगा। इस गहरी उदासी और करुणा के चित्रण में निश्चय ही अनुभूतियाँ नया और विविध हैं, उनका शिल्प भी बहुत नया और आकर्षक है; किन्तु यदि वह अविच्छिन्न जीवंतता का

लगता है। उसे यह भी लगता है कि हम जीवित ही क्यों हैं ! यह सृजनशीलता प्रत्येक मनुष्य में रहती है। वह उसी के लिए जीता है। उसी में उसके अस्तित्व को सार्थकता मिलती है। उस सृजनशील प्रवृत्ति द्वारा वह बाह्य वातावरण में विभिन्न व्यक्तियों, दृश्यों और वस्तुओं से अपना सम्बन्ध जोड़ता है, क्योंकि सम्बन्ध की बात अकेले से हटकर समुदाय की उपस्थिति में ही की जा सकती है, और सृजनशीलता स्वयं सामाजिक प्रक्रिया है। व्यक्ति-व्यक्ति एवं व्यक्ति तथा समुदाय के संबंध में एक संतुलित स्थिति प्राप्त करने के लिए निरंतर संघर्षरत हैं। और इस संघर्ष को आज की कहानियों ने बखूबी पकड़ा है।

जीवन की छोटी-छोटी अनुभूतियों में विराट् संवेदनाओं की ओर साहित्य की हर दिशा बढ़ रही है। कहानी में भी संवेदनाएं अभिव्यक्त हैं। अनुभूतियों और संवेदनाओं का क्षेत्र बहुत गहरा और व्यापक हुआ है, लेखकों ने बहुत से अपरिचित स्तरों को उभारा है, इससे कौन इन्कार कर सकता है ? दुनिया की संस्कृतियां समीपतर आती जा रही हैं और उनका प्रभाव संस्कार के रूप में हमारे मन पर पड़ता जा रहा है। हमारी स्वयं की समस्याएं भी कुछ दूसरों से बहुत पृथक् रहने का दावा कर सकती हैं, कम संभव है। फिर जातीय साहित्य की बात उठाना बहुत ठीक नहीं लगता। सविता और अनीता चटर्जी (?) को बेपर्द करना किसी को बुरा लगता है, तो हमें देखना यह है कि उस बुरे लगने का आधार क्या है। यदि लेखक इन पात्रों को अपनी और पाठकों की पूरी सहानुभूति नहीं दिला पाता है, तो निश्चय ही वह उन्हें बेपर्द कर रहा है, अपनी हवस पूरी कर रहा है। लेकिन यदि उसे सबकी सहानुभूति मिल रही है तो फिर वह इस पीड़ा, उस मर्म को व्यक्त कर रहा है, जो उसमें अंतर्निहित है। और वह पीड़ा और वह मर्म, उसकी उस कुंठित सृजनशीलता से संबद्ध है, जिससे वे इन अव्यवस्थित संबंधों के बीच अपना सामंजस्य स्थापित कर सकेंगे। फिर क्या वह जातीय सम्मान बनाये रखने का पुराना मोह नहीं है, जिससे हमारी रुचि अब तक चिपकी हुई है।

(आज की कहानियों में यह जो नवीनता दीख पड़ती है, वह आज की दृष्टि और संदर्भ की नवीनता है। आज की समस्याओं और उनसे उलझने तथा सहने की नवीनता है। इस प्रकार जीवन की समस्याओं और दृष्टि की वास्तविक नवीनता ने अभिव्यक्ति के नये आयाम भी उभारे हैं। चित्रण के नये शिल्प ने अधिक समर्थता और अधिक बोधगम्यता दी है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म संकेत द्वारा बड़ी बात 'सजेस्ट' करना आज की संवेदनीयता के नये क्षितिज खोलकर उसे विस्तार देना है। जैसे स्विच कहीं दबाया जाता है और प्रकाश कहीं हो जाता है और बीच की पूरी प्रक्रिया दिखायी नहीं पड़ती; उसी प्रकार एक बात कही कहीं जाती है और वह आघात कहीं जाकर करती है। बीच की स्थिति टूटी लगती है; लेकिन स्थिति ऐसी नहीं है, वह और भी ज्यादा संवेदनीय बन जाती है। इसीलिए कभी-कभी कथावस्तु में पाठकों को

लगता है कि बात तो कुछ कही नही गई लेकिन उनके पास उस प्रकाशित सवेदना को पकड़ पाने का सस्कार ही नही है। लेखकों और सामान्य पाठको के बीच की यह खाई चिन्त्य है, यह प्रश्न भी प्रायः उठाया गया है कि आज के पाठको द्वारा कहानी पूरी पढ ली जायगी, इसमे खतरा है।' लेकिन यह स्थिति अब सरलतर होती जा रही है। पाठकवर्ग प्रबुद्ध होने लगा है। आधुनिक नये शिल्प की बारीकी, जिसमे आज का वास्तविक जीवन अपने सही रूप मे सवेदित है, उसे पाठक केवल समझने ही नही लगा है बल्कि उसकी व्याख्या-सराहना भी करने लगा है।

(आज की कहानियो मे अनुभूतियों का विस्तार तो हुआ ही है, साथ ही वह दृष्टि की नवीनता मे ऐतिहासिक प्रेक्ष्य मे गहरी भी हुई है। 'रोज' की सवेदना एक स्थिति का स्वीकार थी; आगे चलकर उस स्थिति के प्रति सचेतनता (Consciousness) बढी और साथ ही सक्रियता भी। कोई स्थिति वास्तव मे तब उतनी उत्कट नही लगती, जब तक वह स्थिति-मात्र रहती है; लेकिन जब मनुष्य उसके प्रति सचेत और सक्रिय हो जाता है तब उत्कट मनोवैज्ञानिक समस्या आ जाती है। आज की कहानियो में उससे उबरने की सक्रियता और अकुलाहट तो है ही, साथ ही बदली परिस्थितियों मे नयी सभावनाएँ भी विकासमान और मूर्त हो रही हैं। अतएव सचेतनता, सक्रियता और सभावना के रूप मे कहानी की नयी दिशा ने अपना क्षितिज अवश्य बढ़ाया है, जिसे सपूर्ण मानव-प्रगति के साथ सयुक्त कर तटस्थ दृष्टि से पहचाना जा सकता है।)

('लहर' : जुलाई, १९६१)

नयी कहानी : कुछ विचार

नेमिचन्द्र जैन

पिछले दिनों दिल्ली में कई गोष्ठियां हुई जिनमें कहानी अथवा 'नयी' कहानी के विषय में कई स्तरों पर चर्चा की गयी। इन चर्चाओं में स्वयं नये-पुराने कहानीकार, आलोचक तथा सम्पादक और मात्र पाठक, सभी ने भाग लिया। स्वाभाविक था कि हर गोष्ठी में चर्चा घूम-फिरकर अन्त में इन्हीं प्रश्नों पर केंद्रित होती रही कि : 'नयी' कहानी क्या है? उसमें 'नया' क्या है? पुरानी कहानी से वह कैसे भिन्न है? यह देखकर कुछ आश्चर्य हुआ कि सामान्यतया इन गोष्ठियों में तरुणों ने अपेक्षाकृत अधिक संयम बरता और चर्चा के स्तर को गम्भीर और सैद्धांतिक बनाये रखने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहानी के क्षेत्र में नवीनतम प्रवृत्तियों के स्वरूप और उनके उद्गम की चर्चा की; अलग-अलग कहानीकारों ने अधुनातन साहित्यिक रुझानों की मूल प्रेरणा को अथवा कम-से-कम कहानी-संबंधी अपने निजी दृष्टिकोण को स्पष्ट करना चाहा; जबकि कुछेक वयोवृद्ध साहित्यकारों ने नयी प्रवृत्तियों से अपने असंतोष और मतभेद को बड़े तीखे रूप में व्यक्त किया।

इस स्थिति के कारण जो भी हों, इन चर्चाओं से अंततः यह सत्य ही और भी उभरकर सामने आया कि हिन्दी में साहित्य की मान्यताओं और मानदंडों को लेकर, रचना-प्रक्रिया और उसके उद्देश्य तथा प्रभाव के संबंधों में, लेखक और उसके पाठकों को संबंध के विषय में, पुराने और नये दृष्टिकोणों के बीच बड़े तीव्र मतभेद हैं, एक प्रकार की संघर्ष की-सी, दो अथवा दो से अधिक पीढ़ियों, दृष्टिकोणों और सिद्धान्तों के बीच टकराहट की-सी स्थिति है।

स्वीकृत-प्रतिष्ठित तथा नवीन उन्मेषशील मान्यताओं का यह संघर्ष युद्धोत्तर काल में सबसे पहले हिन्दी-कविता को लेकर प्रगट हुआ था और कुछ वर्ष हिन्दी की समस्त रचनात्मक और मूल्यांकन-सम्बन्धी चेतना कविता के नये प्रयोगों, रूपों, और उसकी मान्यताओं से उलझती रही। अब पिछले कुछेक वर्षों से लगभग उसी प्रकार का संकेन्द्रन कहानी अथवा 'नयी' कहानी को लेकर है। कहानी अधिक लोकप्रिय और पाठक-सापेक्ष साहित्यिक विधा होने के कारण दृष्टिकोणों, मान्यताओं और

मूल्यांकन का यह संघर्ष अधिक तीव्र जान पड़ता है। कविता को तो कवियों और इने-गिने पाठकों की समस्या कहकर टाला जा सकता है, पर कहानी की तो बेशुमार बड़ी पूंजी से चलनेवाली पत्रिकाएँ हैं, और दिनोदिन बढ़ती ही जाती हैं। 'नये' कवियों और उनके समर्थकों को अपनी बात कहने के लिए स्वयं ही पत्रिकाएँ, सकलन अथवा घोषणापत्र निकालने पड़ते थे, गोष्ठियाँ सगठित करनी पड़ती थी। कहानी के लिए तो बड़े-बड़े प्रकाशक पत्रिकाएँ भी निकालते हैं और गोष्ठियाँ भी करते हैं। कविता से भिन्न कहानी उसके लेखकों के लिए निश्चित अनवहेलनीय आय का भी साधन है ; इसलिए कहानी के 'फैशन' बदलने से पुराने 'फैशन' वालों को आर्थिक सकट की भी आशका हो सकती है, कहानी-पत्रिकाओं के उच्च वेतनयुक्त सम्पादक-पदों के मिलने-न मिलने के प्रश्न सामने आते हैं। ये सब परिस्थितियाँ भी कहानी के क्षेत्र में नये और पुराने की टकराहट को तीव्रतर कर देती हैं। और साहित्य के मूल्यांकन और सृजन-प्रक्रिया के प्रवाह मे इन परिस्थितियों का कोई आत्यन्तिक महत्त्व और स्थान चाहे कितना ही कम क्यों न हो अथवा नहीं ही हो, फिर भी भावधाराओं, विचारों और मूल्यों की टकराहट की पार्श्वभूमि के रूप में, इस टकराहट के परिप्रेक्ष्य का निर्माण करनेवाले एक तत्त्व के रूप मे इन 'अ'-साहित्यिक पक्षों के विषय में सर्वथा उदासीन होना हितकर नहीं।

सामान्य दृष्टि से प्रत्येक महत्त्वपूर्ण नवीन साहित्यिक धारा अथवा मान्यता का अनिवार्यतः ऐसा उग्र और तीव्र विरोध उत्पन्न करना कोई नयी बात नहीं कि प्रतिष्ठित-स्वीकृत साहित्यकार नये लेखकों को परम्पराभ्रष्ट, विकृत विदेशी प्रभावों से ग्रस्त, आत्मप्रचारक और उच्छृङ्खल तथा दायित्वहीन कहें। छायावाद और छायावादी काव्य के विषय मे, जो आज इतना सम्भ्रान्त और स्वीकृत है कि विश्वविद्यालयों के कट्टर-से-कट्टर साहित्याचार्य भी उसे साहित्य का शाश्वत आदर्श मानते नहीं हिचकिचाते, क्या एक दिन ऐसी ही तीव्र विरोधी प्रतिक्रिया नहीं हुई थी? जिन लोगों को उस समय की साहित्यिक चर्चाओं से अथवा पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं से कुछ भी व्यक्तिगत परिचय प्राप्त है, वे सहज ही याद कर सकते हैं कि निराला, पंत, प्रसाद, महादेवी आदि पर होनेवाले बहुत-से प्रहार और आरोप न केवल बेहद अशोभन और कुरुचिपूर्ण होते थे, बल्कि उनमे बहुत-सी आलोचना बहुत-कुछ वैसी ही तथा वैसी ही शब्दावली मे की जाती थी जैसी आज नयी कविता या कहानी के विषय मे होती है, या पिछले दस-पन्द्रह वर्षों से प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी साहित्यिक धाराओं को लेकर हुई है। उस समय भी 'छायावाद' शब्द की उतनी ही हँसी उड़ायी जाती थी, उसकी तरह-तरह की भौंडी, मनमानी और अनर्गल व्याख्याएँ उसके प्रवर्त्तकों को अपमानित करने तथा उनकी रचनाओं को लोकप्रिय होने से रोकने के लिए होती थीं। कथा-साहित्य मे ही जैनेन्द्र और अज्ञेय आज चाहे जितने स्वीकृत हों, एक समय उन्हें अन्तहीन आरोप,

आक्षेप, कुत्सा तथा आलोचना का सामना ठीक उन्हीं बातों के लिए करना पड़ा था जिनके लिए आज नये कहानीकारों की आलोचना होती है। किन्तु मानव-स्वभाव का एक विचित्र और आकर्षक विरोधाभास है कि अवसर आने पर कोई भी पीढ़ी उतनी ही असहिष्णुता और कट्टरता दिखाने में पीछे नहीं रहती। वास्तव में नये कहानीकारों का बहुत-सा विरोध हमारी इसी मूल परिवर्तन-विरोधी, नवीनता-विरोधी, भिन्नता-विरोधी वृत्ति का सूचक है। समाज में और साहित्य में यह विरोध अनिवार्य रूप से दो पीढ़ियों के अनवरत संघर्ष का रूप ले लेता है, जिसमें सदा से ही बीतती हुई पीढ़ी विफल और पराजित होती रही है। यद्यपि इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि अपने ऐसे उग्र, तीखे विरोध से पुरानी पीढ़ी नये रचनाकारों को आत्म-सजग, अधिक जागरूक और दायित्वशील बनाने में तो सहायक होती ही है।

किन्तु नयी कहानी को लेकर होनेवाली चर्चा के इस पक्ष के बावजूद, उसकी मान्यताओं और मूल स्वरूप को समझने का काम परम आवश्यक ही है और 'नयी कहानी में नया क्या है?' यह प्रश्न चाहे जितने रोष और पूर्वाग्रह से क्यों न पूछा जाता हो, आज के साहित्यकार को और कुछ नहीं तो स्वयं अपने बोध और आत्म-विश्लेषण के लिए ही उसका उत्तर खोजना और गंभीर मनन द्वारा यथासंभव स्पष्ट करना चाहिए।

आरंभ में जिन गोष्ठियों का उल्लेख किया गया उनमें तथा अन्य चर्चाओं में नयी कहानी की आलोचना के रूप में जो बातें साधारणतः कही जाती हैं वे कुछ इस प्रकार की हैं : इन कहानियों में बहुत-से विदेशी 'अमूर्त' प्रभाव हैं, कथा इतनी नहीं, जितना विश्लेषण है; चौंकाने की प्रवृत्ति अधिक है; भावों, विचारों और आदर्शों का अभाव नहीं तो उनकी अराजकता है; सामाजिक दायित्व से भागकर घोर व्यक्तिवादिता की प्रतिष्ठा है; नवीनता के लिए नवीनता है; स्वाधीनता के नाम पर उग्र रूप में 'सेक्स' के अश्लील, कुत्सित, कुण्ठाग्रस्त चित्रण की भरमार है; परंपरा की अवहेलना ही नहीं उसे बलपूर्वक विघटित करने की प्रवृत्ति है; शिल्प की दृष्टि से अराजकता, बिखराव, नीरसता और शुष्कता तथा दुरूहता की प्रधानता है; कहानी के साधारण पाठक के प्रति उपेक्षा ही नहीं, घृणा है।

(दूसरी ओर आज की कहानी में 'नयेपन' की व्याख्या करते हुए कहा जाता है कि जहाँ पहले की कहानियों में संपूर्ण व्यक्ति अथवा संपूर्ण आदर्शों की अभिव्यक्ति होती थी, वहाँ नयी कहानियों में खण्डित व्यक्ति की अथवा व्यक्तित्व के अलग-अलग अंशों की और खंडित आदर्शों की अभिव्यक्ति पर अधिक बल है। पहले की कहानी व्यक्ति को अथवा समाज को अपने-आप में देखती थी, आज उसे उसके परिवेश में देखने की प्रवृत्ति है, अथवा स्वयं परिवेश ही, किसी केन्द्रीय व्यक्तित्व के बिना भी, कहानी का विषय हो सकता है। पिछली कहानी की तुलना में आज का)

कहानीकार अधिक जटिल यथार्थ को अभिव्यक्त करता है, नयी कहानी अधिक जटिल, संश्लिष्ट और उलझी हुई है। उसमें वर्णन पर, रचे हुए कथानक पर नहीं, बल्कि विश्लेषण पर, किसी विशिष्ट भावदशा के चित्रण पर अधिक आग्रह है। बल्कि नये कहानीकार ने क्रमशः कथानक, चरित्र-चित्रण, 'क्लाइमैक्स' आदि पुरानी रूढ़ियों को छोड़ दिया है, उनके स्थान पर वह जीवन की किसी भी अनुभूति को अथवा उसके एक बिन्दु, एक विशुद्ध मन स्थिति, घटना अथवा भावदशा अथवा विचार को लेकर कहानी लिख सकता है और लिखता है।

वास्तव मे देखा जाय तो ये सब व्याख्याएँ-स्थापनाएँ आज की कहानी के अलग-अलग अंश-सत्यो को प्रगट करती हैं और उनमे से किसी एक पर ही आग्रह करना नयी कहानी की उपलब्धि और रूप को, उसकी नवीनता और आधुनिकता को सीमित करना है। सभवतः उन सबको एक साथ रखने और कहने से न केवल नयी कहानी बल्कि समस्त समकालीन साहित्यिक अभिव्यक्ति की मूलभूत विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। किन्तु इनमें कोई भी विशेषता ऐसी नहीं है जो सर्वथा अभूतपूर्व और मशीन से उतरी हुई नवीन हो, जो कम-से-कम बीजरूप मे पूर्ववर्ती कथा-साहित्य मे वर्तमान न रही हो। आज का कथा-साहित्य स्वाभाविक रूप मे विचार और भाव, चिन्तन और अनुभूति, व्यक्ति और समाज की उन सभी अन-धाराओं की परिणति और प्रतिफलन है जो प्रेमचद के बाद से हमारे कथा-साहित्य मे प्रगट हुईं। और पिछली पीढ़ी के कथाकारो से नये कहानीकार का इतना तीव्र सघर्ष, अपने स्वस्थतम रूप में, एक हद तक निश्चय ही, इसी कारण है कि नया कहानीकार उस दाय को अस्वीकार करता है अथवा करता जान पड़ता है। आज का कथाकार उसी भूमि पर खड़ा है जो जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल आदि ने अपने ढग से प्राचीनतापरक तत्त्वों से संघर्ष करके तैयार की थी। नयी कहानी उतनी परम्परा-विच्छिन्न नहीं है जितने कुछ नये कहानीकार अपने जोश में सिद्ध करना चाहते हैं; और परंपरा के इस दान को स्वीकार किये बिना उन आयामों की सही रूपरेखा नहीं स्थापित हो सकती जो नये कहानीकार ने आधुनिक सदर्भ में, आज की परिस्थितियों में परिचित प्रवृत्तियो को गहनतर, सघनतर और सूक्ष्मतर अथवा व्यापकतर बनाकर प्रस्तुत किये हैं।

संपूर्ण व्यक्ति अथवा सपूर्ण आदर्श की अभिव्यक्ति की बात को ही ले लीजिये। क्या सचमुच जैनेन्द्र और यशपाल की कहानी में सपूर्ण व्यक्ति और संपूर्ण आदर्शों की अभिव्यक्ति है ? या जैसा उस दिन मन्मथनाथ गुप्त ने कहा, "क्या शरत् के देवदास का चरित्र सपूर्ण या आदर्श व्यक्तित्व का रूपायन है ? व्यक्ति को काले और सफ़ेद के बजाय एक साथ दोनो रंगों में, दोनो आयामों मे देखने और चित्रित करने की प्रवृत्ति के साथ ही साहित्य में व्यक्तित्व का एक नया रूप उभरना शुरू हो जाता है। हम सभी एक साथ ही कई व्यक्ति हैं। कहानी

लेखक उन सबको एक साथ अथवा अलग-अलग, अनगिनती मिश्रणों, स्थितियों और अनुपातों में दिखा सकता है। पुराने कहानीकारों में भी ऐसे विभिन्न मिश्रण हैं जो मानव-अस्तित्व को अधिक-से-अधिक और कम-से-कम दोनों छोरों पर चित्रित करते हैं। शायद हर कहानीकार के ये मिश्रण अलग हैं, सम्भवतः अस्तित्व का एक और भी आयाम वह प्रस्तुत करता है जो पहले छूट जाता रहा हो, अथवा उन रूपों को छोड़ देता हो जो पहले अनिवार्य रूप से कहानी में सिमट आते थे। यह इसलिए भी होता है कि आज का इंसान पिछली पीढ़ी की अपेक्षा अन्य प्रकार के अतिरिक्त दबावों से विभक्त, त्रस्त और शासित तो है ही, उनके बारे में आत्म-सजग भी कहीं ज्यादा है। ऐसे व्यक्ति की अनुभूति अपनी ठोस मूर्तिमत्ता में भिन्न तो होगी; पर पहले व्यक्ति की अनुभूति किसी सम्पूर्णता की थी, यह नहीं लगता। नया कहानीकार किसी नयी मानवता को नहीं चित्रित करता—मानवता तो पीढ़ी-दो पीढ़ी में बदला भी नहीं करती, बल्कि वह पुराने बुनियादी दबावों और तनावों के साथ-साथ कुछ नये अतिरिक्त तनावों को प्रस्तुत करने लगती है।

(आदर्शों की अभिव्यक्ति की समस्या भी इससे भिन्न नहीं। यह कहना निरा दम्भ है *कि नया कहानीकार आदर्शों को चुनौती देता है जबकि पिछली पीढ़ी का लेखक* सम्पूर्ण आदर्शों की अभिव्यक्ति करता था। अपने समय में स्वीकृत जितने सामाजिक वैयक्तिक, राजनीतिक, धार्मिक आदर्शों को चुनौती जैनेन्द्र या यशपाल या अज्ञेय ने दी, उनकी संख्या बहुत बड़ी है—चाहे वे स्त्री-पुरुष के संबंधों को लेकर हों, चाहे व्यक्ति की स्वाधीनता को लेकर हों, चाहे समाज में प्रतिष्ठित वंचना, पाखंड और ढोंग को लेकर हों। असल में हर पीढ़ी का समर्थ साहित्यकार अपने युग में स्वीकृत चली आती किन्तु जराग्रस्त मान्यताओं को चुनौती देता है और सीधे-सीधे अथवा निहित रूप में अन्य मूल्यों की स्थापना करता है। किन्तु परवर्ती पीढ़ियाँ फिर इन नये स्थापित मूल्यों का भी, कम-से-कम उनके कुछेक पक्षों को, चुनौती देने लगती हैं। दोनों पीढ़ियों में भिन्नता इस बात में नहीं कि एक मान पर चलती है और दूसरी चुनौती के साथ; वह इस बात में है कि वे भिन्न-भिन्न मान्यताओं को चुनौती देती हैं, बल्कि शायद परवर्ती पीढ़ी उन्हीं मूल्यों को ललकारने लगती है जो पूर्ववर्तियों ने अपने पूर्ववर्तियों से संघर्ष करके स्थापित किये थे। दो पीढ़ियों के तीव्र मतभेद का एक मूलभूत स्रोत इसी बिन्दु पर है जो सम्भवतः कभी मिट नहीं सकता। यह स्वाभाविक ही है कि पुराने कहानी-लेखक चाहे जितने समयानुकूल हों, फिर भी अंततः वे बहुत-से उन्हीं मूल्यों की स्थापना अपने साहित्य में किये जाते हैं जिन्हें नया पीढ़ी चुनौती दे रही है। *प्रेम, काम, राजनीति, सामाजिक* परिवर्तन सभी क्षेत्रों में आज बड़े मौलिक प्रश्न और संशय मन को ग्रस्त किये हुए हैं जिनके उत्तर चाहे जो हों पर पुरानी मान्यताओं से नहीं मिलेंगे। आज के मनुष्य की चेतना जिन *अतिरिक्त दबावों से गढ़ी जाती है उनमें से* कुछेक तो नये हैं ही,

कुछेक का रूप नया है, फिर चाहे वह नवीनता अच्छे के लिए हो या बुरे के लिए। इस यथार्थ से आँख मूँदकर आज के साहित्य का समुचित मूल्यांकन तो दूर, उसके प्रेरणा के स्रोतों और रूपों का सही आकलन तक नहीं हो सकता। किन्तु ठीक उसी प्रकार इस सत्य से आँख मूँदकर भी नहीं कि आज के नये-से-नये दबाव भी एक लम्बी प्रक्रिया की नवीन परिणति है, किसी शून्य में से हठात् उद्भूत नहीं।

आज की हिन्दी-कहानी की जटिलता का विशेष स्वरूप और रहस्य इसी सूत्र में है। यह कहना बहुत अनुपयुक्त न होगा कि इस जटिलता का एक रूप जैनेन्द्र में भी देखा जा सकता है। उनकी कई कहानियाँ बेहद उलझी हुई, बल्कि दुरूह भी हैं। दूसरी ओर आज की जटिलता या दुरूहता का रूप कुछ दूसरा है, उसके कारण भिन्न हैं, और फलस्वरूप प्रभाव भी शायद भिन्न हैं। अब नयी कहानी को अत्यधिक विश्लेषणात्मक कहा जाता है। पर क्या जैनेन्द्र की 'एक रात' और अज्ञेय की 'पगोडा वृक्ष' वर्णन-प्रधान कहानियाँ हैं ? इलाचन्द्र जोशी की कहानियों में क्या मनोविश्लेषण की कमी है ? पर आज की कहानी उन सबसे भिन्न है इस विश्लेषण के प्रयोग में, और उस प्रयोग की निर्ममता में, उस प्रयोग के अवलम्बन की अर्थात् उस व्यक्ति की भिन्नता में जो पहले की अपेक्षा कहीं अधिक उखड़ा हुआ है, अपने-आप से और अपनी परिस्थितियों से कहीं अधिक बेज़ार है, और साथ ही यह सब स्वयं ही महसूस करके और भी अधिक त्रस्त है।

पिछली कहानी के साथ नयी कहानी के इस दोहरे सम्बन्ध की चेतना उस प्रश्न को भी स्पष्ट करती है कि 'नयी' कहानी क्या केवल समय में ही 'नयी' है ? क्या केवल इसीलिए नयी है कि उसके लेखक नये हैं ? सन् १९६३ में लिखकर भी पुराने लेखक जिन भावभूमियों पर, जिन मान्यताओं पर स्थित हैं वे नयी नहीं हैं, नये कहानीकार उन्हीं मान्यताओं को चुनौती दे रहे हैं जिन्हें पुराने लेखकों ने किसी समय निहित अथवा प्रत्यक्ष रूप में स्थापित किया था; अथवा यों कहें कि वे पुराने लेखकों की मान्यताओं को, चुनौतियों को उस सीमा तक ले जाने के लिए, उन्हें इतना व्यापक कर देने के लिए, कटिबद्ध हैं कि वे उनके मूल प्रणेताओं को ही भिन्न लग उठती हैं। नये कहानीकार पुरानी क्रान्ति को नये क्षेत्रों तक ले जाने के कारण पुराने से जुड़कर भी नये हैं। पुराने कहानीकार आज के क्षण में लिखकर भी, अपनी ही वर्जनाओं की सीमा के कारण पुराने हैं।

कहानी में पुरानी मान्यताओं का यह विघटन अथवा विस्तार कहानी के शिल्प के विषय में भी उतना ही सत्य है। जैसा पहले कहा गया, कथानक, चरित्र-चित्रण, वातावरण, अन्वितियाँ, नाटकीय अन्त, आदि लगभग सभी शास्त्रसम्मत मान्यताएँ, जिनका प्रेमचन्द के बाद शिथिल होना प्रारम्भ हुआ, अब एकदम ही टूट गयी हैं। प्रत्येक अनुभूति अथवा कथ्य अपना रूप स्वयं निर्धारित करता है और इसलिए उसमें विविधता का कोई अन्त ही नहीं, बल्कि ये रूपगत विविधताएँ अनिवार्य हैं।

बहुत-से पुराने लेखकों को, और पाठकों को भी, इसीलिए बहुत-सी नयी
समझ में नहीं आतीं। पर यहाँ यह स्मरण कराने में कोई बुराई नह
कठिनाई किसी समय जैनेन्द्र और अज्ञेय की कहानियों को लेकर होती
लोग इस बात को भूल गये हों, यह दूसरी बात है।

इस प्रकार यदि पूर्वाग्रह न हो तो यह स्पष्ट है कि नयी कहानी ने कई
हिन्दी-कथा के क्षेत्र को विस्तार दिया है। जैसे आंचलिक और कस्बाती
ऐसे चित्र उपस्थित किये हैं जो हिन्दी-कहानी में बहुत कम थे। या कुछेक
में व्यक्ति की मनोदशा के सूत्र उसके परिवेश में खोजे अथवा उसी के चित्र
व्यंजित अथवा व्यक्त किये गए हैं। (इन कहानियों में चित्रित व्यक्ति
अनुभूति अधिक विशिष्टीकृत है—सामान्यीकरण अथवा व्यापकीकरण की
समस्त साहित्य में कम होती जा रही है। साहित्य में सार्वभौमता का पहले
सर्वोपरि अपरिहार्य मूल्य अब नहीं रहा। आज का कहानीकार राजनीतिक
से भी अपेक्षाकृत अधिक असंपृक्त और तटस्थ होता जा रहा है। राज
आदर्शलोक (यूटोपिया) अंततः हमारी संवेदनाओं को शिथिल और निर्जी
देते हैं, वे उनकी धार कम कर देते हैं। आज के लेखक को यह किसी भी क़ीम
इष्ट नहीं।

आज की हिन्दी-कहानी के विषय में यह विवेचन नयी प्रवृत्तियों के मूल
को लेकर है, उनकी उपलब्धियों को लेकर नहीं। साहित्य अथवा किसी
सृजनात्मक कार्य का नया युग अपनी गति की मौलिक आवश्यकताओं से
होता है और इस दृष्टि से अनिवार्य होता है। उपलब्धियाँ बहुत बार बहुत हद
व्यक्तिगत प्रश्न होती हैं। शेक्सपियर, टॉल्स्टाय, रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र, प्रेमच
एक युग को अभिव्यक्त करने पर भी, किसी युग-विशेष की सर्वथा अनिवार्य उ
नहीं। ऐसी प्रतिभाएँ सम्पूर्णतः युग-सापेक्ष नहीं होतीं। किन्तु यह बहुत ही सम
है कि कोई साहित्यिक युग उपलब्धि का कोई उच्च शिखर छुए बिना भी क
अधिक अनिवार्य हो। किसी साहित्यिक विधा का अथवा सम्पूर्ण साहित्यिक ग
विधि का वास्तविक स्वरूप और उसकी अनिवार्यता और सार्थकता समझने सम
उपलब्धियों की तुलना में उलझ जाना अनावश्यक ही नहीं, भ्रामक और घात
भी हो सकता है।

['सारिका' : ११६

आज की कहानी

परमानन्द श्रीवास्तव

हमारी समझ से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय को, प्रेमचन्दोत्तर आधुनिक कहानी और इस आधुनिक कहानी की ही परिणति आज की नयी कहानी के बीच की, विभाजक रेखा मानना चाहिए। इसके निश्चित कारण हैं कि स्वतन्त्रता से पहले की कहानी में व्यक्त कहानीकार की निजी समस्या मानव-समस्या नहीं बन पाती। कहानीकार का आत्मविभाजन मानव के समग्र विश्वास को अपनी रचना-प्रक्रिया में आत्मसात् नहीं कर पाता और वह सचमुच घटित होती हुई जीवन-परिस्थितियों के प्रति जब-तब उदासीन भी दिखाई पड़ता है। आज आलोचकों ने इसी दृष्टि से कलात्मक साधना की क्रिया को स्वतन्त्र मानते हुए भी वास्तविक जीवन के बृहत्तर सन्दर्भों के संवेदनात्मक ज्ञान पर बल देना चाहा है।[1] कहा जा सकता है कि उसके अभाव में ही, स्वतन्त्रता से पहले के कुछ कहानीकार सामाजिक समस्याओं की प्रतिक्रिया को अपनी रचनात्मक चेतना का स्वाभाविक अंग नहीं बना सके हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के ठीक बाद तो शिथिल मध्यवर्ग में अवसरवादी चेतना ही दिखायी पड़ती है, फिर १९५० तक आते-आते हम अनेक कठिनाइयों और समस्याओं के होते हुए भी एक स्वाभाविक आस्था का उन्मेष देखते हैं। विश्व-राष्ट्रों के बीच भारत के बढ़ते हुए विश्वासयुक्त सम्बन्धों के कारण आज के कहानीकार (व्यापक अर्थ में रचनाकार) में रचनात्मक चेतना की विकास-प्रक्रिया में त्रिमुखी संघर्ष का बोध प्रत्यक्षतः दिखायी पड़ता है। इस प्रक्रिया में पहला संघर्ष अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष है। दूसरा निजी चेतना को अधिकाधिक मानवीय संवेदना से सम्बद्ध करने के लिए आत्मसंघर्ष है। तीसरा संघर्ष मानव-समस्याओं की अनुभूति प्राप्त करते हुए अपने जीवनानुभव को व्यापक और

१. "वास्तविक जीवन साधना के बिना कलात्मक साधना असम्भव है। यद्यपि कलात्मक साधना को, सापेक्षिक रूप से, अपनी स्वतन्त्र क्रिया और गति हुआ करती है, किन्तु उसकी मूल प्रेरणा, उसके तत्व उस मानव-सम्पदा के अंग होते हैं जो समस्त अपने-अपने वास्तविक जीवन में संवेदनात्मक रूप से अर्जित की जाती है और एक जीवन-संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था के रूप में परिणत की जाती है।"

—आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि : गजानन माधव मुक्तिबोध : रचना २४

सीजगर बनाने के लिए है। यथार्थ के इन विविध स्तरों की सम्मिलित चेतन
कहानीकार में जितनी ही अधिक है वह स्वभावतः ही उतना ही अधिक (
गहनता के क्षेत्र में) गहन है।

आज की कहानी में द्वन्द्वात्मकता और सन्देह, आत्मनिरति और अ
विभाजन से मुक्त जिस 'मनुष्यता' की अनुभूति दिखायी देती है, वह स्वातन्त्र्
अनुभूति है। देश की परिवर्तित अवस्था, चेतना और सबके फलस्वरूप वि
आस्था के साथ इस अनुभूति का सहज कारण-कार्य-सम्बन्ध है। जो लोग साहि
और कलात्मक विकास की चेतना को देश और जाति के जीवन की उत्थान
और समाज के विकास की चेतना से सम्बद्ध करके देखते हैं, वे आज की क
(जिसकी कालावधि सीमित है—इतनी सीमित, कि उस पर विचार प्रेमचन्दो
कहानी की परिधि में ही किया जाता है और तर्कसंगत कारणों से ऐसा ही करने
आवश्यकता भी पड़ती है) की नयी उपलब्धियों को अलग से समझने की आवश्य
को स्वीकार करेंगे।

सन् १९४७ में हमने जो राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त की, उसके फलस्वरूप क
और साहित्य-सृजन के क्षेत्र में सांस्कृतिक विकास के प्रति सजग एक स्व
जातीय और उदार चेतना का उदय हुआ। राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति
पश्चात् विकसित होनेवाली इस चेतना के साथ नये कहानीकार में जिस 'आत
सजगता' का विकास हुआ है, वह सामाजिकता के विरोधी तत्त्व के रूप में नहीं
और इस कारण उस पर नये आधार पर विचार करने की आवश्यकता है।

आज की कहानी के रचनाकार के अनुभव सीमित परिवेश में ही निःशेष नहीं
हो जाते, बल्कि बिम्ब-रचना के धरातल पर समूची ऐतिहासिक परम्परा औ
दृष्टि-क्षेत्र के अंग होते हैं। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-कहानी की सीमित व्यक्ति-चेतना
को आज की कहानी बृहत्तर और सामाजिक बना रही है, अतः उसकी उपलब्धि
की नयी सार्थकता को समझने और उसे ऐतिहासिक भूमिका में रखकर उसकी
नवीनता की दिशाओं को पहचानने की आवश्यकता निरन्तर बनी हुई है। हमारी
दृष्टि में मानवीय सम्बन्धों से प्रतिबद्धता आज के कहानीकार के रचनात्मक मानस
की सबसे महत्त्वपूर्ण चेतना है, और उसे नवीन जनतान्त्रिक संस्कृति के विकास से
बड़ा बल मिला है। हम अनुभव करते हैं कि आज की कहानी की उपलब्धियों और
सीमाओं का मूल्यांकन इसी धरातल पर करना उचित है।

आज की कहानी का वैशिष्ट्य

आज की कहानी में सामाजिक अनुभवों के सूक्ष्म सार्थक उपयोग पर बल दिया
जा रहा है, यह स्थिति आकस्मिक नहीं है। संक्रान्ति-युग की कहानी की सीमाओं
की प्रतिक्रिया का सहज परिणाम है : आज की कहानी, जिसमें 'मनुष्य' और 'मनुष्य'

नामक यन्त्र का अन्तर स्पष्ट है। आज का कहानीकार यथार्थ को विभाजित करके नहीं देखता, अपितु सम्पूर्णता में देखता है। अनुभूति के प्रति उसकी अतिशय मजगता अनुभूति-क्षण को समय के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने की शक्ति प्रदान करती है। आज की कहानी में कथानक, चरित्र, वातावरण और प्रयोजन की सार्थक सांकेतिक अभिव्यक्ति केवल कलात्मक विशेषता या निपुणता के कारण नहीं है, बल्कि एक नयी संवेदनशीलता एवं नये यथार्थबोध से व्युत्पन्न है।

आज की कहानी में अनेक अनुभवों का, बल्कि जीवन के समस्त सन्दर्भों का सामंजस्य एक ही बिन्दु पर दिखायी देता है। यही कारण है कि आज कहानी की विषयवस्तु को उसके केन्द्रीय विचार से अलग समझने की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है। आज की कहानी में व्यक्ति रागात्मक अनुभव भी बौद्धिक अनुभव की ही निष्पत्ति है। आज का कहानी-लेखक जिस प्रक्रिया से अपने अनुभव की संश्लिष्टता की व्याप्ति को मानवीय सत्य की सीमा तक पहुँचा देता है, उसका अध्ययन कहानी की भावात्मक एवं रचनात्मक विशेषताओं को समझने में दूर तक सहायक हो सकता है। आज की कहानी में व्यक्त यथार्थ की पीड़ा का समाधान मानसिक जगत् या अवचेतन में निवास नहीं करता, बल्कि अधिक सचेत स्तर पर प्राप्त किये गये उसके अनुभव में निवास करता है जो निरन्तर तीव्रतर होता जाता है। आज के कहानीकार के विषय-स्रोत विविध हैं, पर इस समस्त विविधता में लेखक का व्यक्तित्व अनिवार्यतः बना रहता है।

जब हम आज की कहानी को इस दृष्टिक्रम में देखते हैं तो कहानी के रचनात्मक क्षेत्र में होनेवाले नये प्रयोगों का वास्तविक महत्त्व समझ में आता है और कहानी के 'नवीन' होने की आवश्यकता समझ में आती है। आज के कहानी-लेखक के सामने प्रेमचन्द की उस स्वस्थ्य सामाजिक दृष्टि (विजन) को नवीन सन्दर्भ प्रदान करने का प्रश्न था जो बीच के समय में नष्ट हो चली थी। दूसरी ओर, आज के कहानी-लेखक के सामने कहानी को हल्के एकरंग रूमान से मुक्त करने का प्रश्न था और कहानी को उस गहन मनोविश्लेषण से पृथक् करने की आवश्यकता थी, जिसके फलस्वरूप कहानी स्नायविक रोगों का विश्लेषण बनकर रह गयी थी। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कहानी को अपनी कलात्मक रचनाविधि में नयी विशेषताओं को स्थान देना पड़ा। आकस्मिक नहीं है कि आज की कहानी ने 'वस्तु' को अथवा 'कथ्य' को अधिक-से-अधिक यथार्थग्राही बनाने के लिए कहीं कविता की वातावरण-निर्माण-क्षमता ग्रहण की है, तथा कहीं चित्र-कला की बिम्बवादी

१. "[illegible] से [illegible] का और [illegible] है ये [illegible] सम्भव है सन्दर्भ से बिन्दु की ओर—[illegible] बिन्दु का और, जो विभिन्न विविध जीवन-अनुभव होते हुए भी अपनी अर्थवत्ता के द्वार [illegible] के प्रत्येक अन्तर्देश को छू जाते।"

—[illegible] : 'नयी कहानियाँ' : [illegible], १९६१ : पृ० १०२

पद्धति ग्रहण की है और कहीं-कहीं दोनों ढंग की विशेषताओं का एक साथ उपयोग किया है।' आज की कहानी में भूमिका अलग से नहीं, कहानी में ही पायी जा सकती है।

आज की कहानी की कोई प्रत्यक्ष सीमा है तो बौद्धिकता का अतिरेक—जिसके कारण कहानी में दुरूहता आती है और कहानी का मूल गुण बाधित होता है, जिसे हम सहज सप्रेषणीयता कहते हैं। निस्सन्देह यथार्थ के प्रति आज के लेखक की दृष्टि भावनात्मक न होकर बौद्धिक है। परन्तु कहानी में जहाँ-तहाँ लक्षित होने-वाली दुरूहता और अस्पष्टता के लिए यह पर्याप्त या सम्पूर्ण कारण नहीं है। दुरूहता के लिए सबसे अधिक आशंका वहाँ होती है जहाँ कहानी-लेखक मौलिक होने की आकांक्षा से अनुभूति का सहज पथ छोड़कर रहस्यपूर्ण चमत्कार और कौशल का उपयोग करने लगते हैं। राजेन्द्र यादव की एकाधिक कहानियों में यह आशंका सच होती हुई जान पड़ती है। कहानी-लेखक को ऐसे प्रयोगों से बचना चाहिए जो उसके अनिवार्य प्रयोजन की सिद्धि में ही बाधक होते हैं। सांकेतिक, अर्थ-गर्भित भाषा, बिम्ब-विधान, प्रतीक-योजना आदि सभी विशेषताओं का उपयोग अन्ततः कहानी में जीवन-यथार्थ के किसी अनुभूति-खण्ड के चित्रण की दिशा में ही होना चाहिए जिसमें पाठक को प्रभावित करने की स्वाभाविक क्षमता हो। आज की कहानी की श्रेष्ठता का निर्णय इसी दृष्टिकोण से किया जा सकता है कि क्या जिन संवेदनाओं तक पहले कहानीकार (उसके कथानक और चरित्र आदि) नहीं पहुँच पाता था, उनकी अभिव्यक्ति आज की कहानी में प्राप्त की जा सकती है।

आज की कहानी का अध्ययन करते हुए हम असंदिग्ध रूप से अनुभव करते हैं कि आशय और अभिव्यक्ति—दोनों ही दिशाओं में आज प्रयोग किये जा रहे हैं पर इस प्रश्न की उपयोगिता सतत रहेगी कि अन्ततः इन प्रयोगों की उपलब्धि कहानी या किसी भी साहित्य-रूप के लिए क्या है? यदि आज की जटिल वास्त-विकता की संवेदना को रूपायित करने के लिए ये प्रयोग कहानी में किये जा रहे हैं तो उनकी उपयोगिता स्वतः प्रमाणित है। निर्मल वर्मा की अत्यन्त प्रभावपूर्ण कहानी 'कुत्ते की मौत' इस दृष्टि से उल्लेख-योग्य कहानी है जिसमें रिंबो और मलार्मे जैसी सूक्ष्म प्रतीक-पद्धति का प्रयोग आशय और अभिव्यक्ति दोनों क्षेत्रों में किया गया है। कहानी के आरम्भिक वातावरण[1] में ही यह विशेष अर्थवत्ता[2] देखी

१. "बाहर दिसम्बर की मुलायम धूप है। जब कभी दरवाज़ा खुलता है, धूप का एक साँवला-सा धब्बा खरगोश की तरह भागता हुआ घुस आता है, और जब तक दरवाज़ा दुबारा बन्द नहीं होता, वह पियानो के नीचे दुबका-सा बैठा रहता है।"

—निर्मल वर्मा : कहानी : मई, १९५९

२. 'फिर यह भी एक रात है। घर के हर प्राणी के कान ऊपर लगे हैं। एक दूसरी मरमराती सी चीख सुनाई देती है। सन्नाटा सिहर आता है, केवल पलभर के लिए। फिर सब पहले-सा शान्त हो जाता है।'

—'सारिका' : नवम्बर ६१ : पृ ११

जा सकती है जो आज की कहानी की रचना-प्रक्रिया को आधुनिक कविता की रचना-प्रक्रिया के निकट लाती है। यह कहानी वातावरण के समस्त तनाव की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया को चित्रित करती है, इसकी प्रयोगशीलता की यही दिशा है। यही कारण है कि कहानी बीच में ही किसी विशेष बिन्दु पर समाप्त जान पड़ती है।[१] पर यदि प्रयोग प्रयोग के लिए किये जा रहे हों, तो कहा जा सकता है कि कहानी उसके लिए उपयुक्त माध्यम नहीं है। जैसे 'सरलता' साहित्यिक श्रेष्ठता के लिए कारण नहीं हो सकती, उसी तरह दुरूह होने मात्र से कोई साहित्यिक कृति अश्रेष्ठ नहीं हो जाती। प्रेमचन्द-युग एवं उत्तर प्रेमचन्द-युग की कहानी के तुलनात्मक अध्ययन से हम इसी परिणाम पर पहुँचते है कि सरलता एक निरपेक्ष लक्षण है—वैसे ही, जैसे दुरूहता।[२] पर दुरूह अस्पष्टता 'रचना' में क्षम्य तभी है जब वह किन्हीं आन्तरिक विवशताओं से उत्पन्न हो और 'रचनात्मक सार्थकता' की दृष्टि से उसका उपयोग किया गया हो।

यथार्थ की प्रतिष्ठा

यथार्थ के गहरे बोध ने कहानी की विषयवस्तु और उसके रूपात्मक विधान को कितना अधिक बदल दिया है, यह आधुनिक हिन्दी-कहानी के अध्ययन से प्रत्यक्ष है। कहा जा सकता है कि यथार्थ के समीप आकर ही कहानी 'नवीन' या 'आधुनिक' होती है या हो सकी है। पर, ध्यान देने की बात यह है कि कहानी में व्यक्त होने-वाला यह यथार्थबोध विज्ञान का सत्यान्वेषण नहीं है। यह यथार्थ-बोध अनुभूति-परक है जो हमें कहानी में व्यक्त मानवीय परिस्थिति के ठीक सामने रख देता है। यह यथार्थ-बोध वह अनुभव है जो विशेष मानवीय परिस्थिति में लक्षित होनेवाले सम्बन्धों को ठीक-ठीक समझने की दृष्टि देता है। कहानी के क्रमिक-विकास के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप हम यह समझने में समर्थ हो पाते हैं कि जीवन के यथार्थ की व्यापक पकड़ 'कहानी' के अभीष्ट प्रभाव को कितना अधिक अर्थ-पूर्ण बना देती है। अधिक संवेदनशील कहानीकार के लिए यथार्थ का कहानी में रूपान्तरण एक सविशेष प्रक्रिया है। यथार्थ की दृष्टि कहानी की गहरी अनुभूति

---

१. '...एक छोटा सा दायरा है आलोक का, जो सड़क के लैम्पपोस्ट से कटकर यहाँ आ पड़ा है। मुन्नी की निगाह थिर है इस दायरे पर, जैसे उसका लूमी की पीड़ा में कोई अज्ञात सम्बन्ध रहा हो और कोई चुपके से सबकी आँख बचाकर उसे यहाँ छोड़ गया हो और अब वह किसी का नहीं है—एक खोयी हुई रोशनी का ढेर या महज एक अन्तराल, जिसे लूमी की चलते किनारे पर फेंककर पीछे मुड़ गयी है और वह वहाँ पड़ा रहेगा, जब तक मुन्नी चलकर फिर उचक-कर उसे आँखों में नहीं डुबो लेती...' —'सारिका' : नवम्बर ६२, पृ० १२

२. '...लिटरेरी एक्सेलेन्स कैन नट बी डिजाइन्ड इन टर्म्स ऑफ मदर दैट मार इन देअर डेलि न्यूट्रल सिम्प्लीसिटी इज ऑल्सो ए फैक्टर इन आर्ट ऐज इन वर्क्स।'

—सम्पादकीय, 'द टाइम्स लिटरेरी सप्लिमेंट', ८ जून, १९६२

और उसकी रागात्मक संवेदनाओं को निरन्तर परिष्कृत करती रहती है और समसामयिक जीवन-सन्दर्भों को एक विस्तृत ऐतिहासिक परिदृश्य के बीच देख सकने के लिए अपेक्षित चेतना प्रदान करती है। समय और सभ्यता के विकास के साथ यथार्थ की यह अनुभूति, संवेदना और चेतना, कला और साहित्य-सृजन की प्रक्रिया को कितनी दूर तक प्रभावित कर सकती है, आधुनिक हिन्दी-कहानी (प्राचीन कहानी की तुलना में) इसका उदाहरण है। 'आधुनिक कहानीकार के लिए कहानी अभिव्यक्ति होती है, मात्र घटना नहीं।'[1] हम अनुभव करते हैं कि यथार्थ की भीतरी अनुभूति जिन कहानियों में अधिक गहरी होती है, उनके चरित्रों को एक ही साथ अनुभव के विविध स्तरों पर जीना पड़ता है। ऐसी कहानियों में ऊपर से देखने पर एक उलझाव (काम्प्लिकेशन) तो लक्षित हो सकता है, परन्तु भीतर से देखने पर कथानक में नयी अर्थवत्ता एवं नये परिपार्श्वों का उद्घाटन होता है।

कुछ आलोचकों की यह धारणा, कि यथार्थ की भूमि जीवन के लम्बे संघर्षों में ही सीमित है, अत्यन्त भ्रामक है और साहित्य-सृजन एवं उसके मूल्यांकन की अनेक समस्याओं को भ्रामक दिशा देनेवाली है। 'कहानी' के विकास-स्तरों से परिचित पाठक के लिए इस सत्य की अनुभूति प्राप्त करना कठिन नहीं है कि यथार्थ जीवन के संघर्ष-क्षणों में ही नहीं सीमित है—वह समस्त जीवन में निवास करता है। अतः एक युग का भी यथार्थ हो सकता है और एक क्षण का भी तथा, वे क्षण प्रेम के भी हो सकते हैं और प्रेमजनित दुःख के भी; सुख के भी हो सकते हैं और ईर्ष्या के भी। यहाँ क्षण को निरपेक्ष मानना आवश्यक नहीं है। सार्त्र की लम्बी कहानी 'ए सरटेन स्माइल' की नायिका अपने प्रेम-सम्बन्धों के बीच एक दिन अचानक ही इस प्रसन्न कल्पना से सपृक्त हो उठती है कि एक दिन वह जीवित नहीं होगी...उसके हाथ 'त्रमियम रिम' को छू नहीं सकेंगे और न ही उसकी आँखों में सूरज की चमक होगी।' इस स्थल को उदाहरण मानकर कहा जा सकता है कि इस कहानी की नायिका के जीवन का यह विशेष यथार्थ-बोध अधिक भावात्मक आवेग का परिचायक है, पर इसे अ-यथार्थ मानने का कोई कारण कहानी में उपलब्ध नहीं है और यह नहीं माना जा सकता कि यह अनुभूति निरपेक्ष क्षण की है क्योंकि अन्ततः क्षण समय के प्रवाह की निरन्तरता का ही अंश है। लेखक के लिए यथार्थ की चेतना, अनिवार्य रूप से शुद्ध वर्तमान की चेतना नहीं है। कोई भी परिस्थिति, समय के व्यापक परिदृश्य में, लेखक द्वारा चुनी जा सकती है और उसकी अनुभूति-यथार्थता का अंग बन सकती है। जिन कहानियों में वर्तमान की

1. 'कहानी अभिव्यक्ति होती है, घटना मात्र नहीं। आज की कहानी, [illegible]
[illegible]
[illegible]

—[illegible] (निवेदन) : राजेन्द्र यादव। [illegible]

निष्प्रयोजनता व्यंजित की जाती है, उनमें भी वर्तमान की सम्पूर्ण चेतना सजीव हो सकती है और जिन कहानियों में वर्तमान के सभी ब्यौरे सकलित कर दिये गये हों उनमें यथार्थ की प्रतिमा (इमेज) का निर्माण तक दुर्लभ हो सकता है—इसके अनेक प्रमाण हिन्दी-कहानी मे उपलब्ध हैं। नरेश मेहता की कहानी 'तथापि' पहले प्रकार की कहानी है जिसमें पात्रा ने 'वर्तमान' को प्रयोजनहीन कहा है।[1] इस कहानी मे जो स्थिति वर्तमान से पलायन की है, वही उसकी यथार्थता को अधिक सूक्ष्म और अर्थपूर्ण बना देती है, यह इस कहानी के अध्ययन से प्रत्यक्ष है।

आधुनिक कहानी यथार्थबोध की जटिलतम समस्याओं से निरन्तर अनुप्राणित है, और उसके अनुसार, कहानी के कलात्मक विधान मे पर्याप्त गतिशीलता भी दिखायी देती है पर कहानी को यथार्थ के अति बौद्धिकीकरण से बचना चाहिए क्योंकि यह रसग्राहिता मे बाधक हो सकता है। यह स्थिति शुभ है कि कहानीकार भी इस समस्या से अनभिज्ञ या अपरिचित नहीं है।[2]

व्यक्ति और परिवेश का सघर्ष चेतन तथा उपचेतन मानसिक स्तरों को जिस सीमा तक प्रभावित करता है, उसका प्रभाव आज की कहानी में प्रत्यक्ष है। इन सभी मानसिक स्तरों को यथार्थ सवेद्य बनाने का प्रयत्न आज की कहानी की रचनात्मक सभावनाओं को नि.सदिग्ध रूप से आगे बढ़ाता है। इस यथार्थ सवेद्यता के अनुरूप भाषा-सस्कार का अभाव कुछ कहानीकारों की रचनात्मक कृतियों मे खटकता है पर उसे देखते हुए निराश होने का कोई कारण नहीं दिखायी देता।[3] निजी जीवन की अस्थिरता के कारण कुछ कहानीकारों की यथार्थ संवेद्यता में असंगति का बोध भी होता है। व्यक्तित्व में गठन का अभाव और सामाजिक-मनोवैज्ञानिक रूढ़ि कुछ कहानीकारों की यथार्थ संवेद्यता को सम्पूर्ण अभिव्यक्त नहीं होने देती। पर आज की कहानी की रचनात्मक विकास-प्रक्रिया को देखते हुए इन सीमाओं से चिन्तित होने का कोई कारण नहीं है। आज की श्रेष्ठ कहानियों की रचना-प्रक्रिया को आकलन करने से ज्ञात होता कि उनकी यथार्थसवेद्यता आत्मचेतना या आत्मानुभूति से प्रत्युत्पन्न है। भीष्म साहनी की कहानी 'बात की बात'[1] के बसाखासिंह, शिवप्रसाद

१. (क) "चाहा था, सम्पूर्ण स्वत्व से चाहा था, विपिन! गज में वह चौधरी की दूकान के पास, बाद में भाभी ने मजाक भी किया था किन्तु विपिनबाबू! हम अनागत बनकर ही रह सकते हैं, विगत कदापि नहीं! कदापि नहीं! कदापि नहीं! और वर्तमान तो असंगति की खोखल है, निष्प्रयोजनहीन!!" —'तथापि' में नरेश मेहता : पृ० ११८

(ख) "हम न तो आज के पूर्व कभी थे ही, न हैं ही, कारण कि हमें तो होना है। यह होना ही हमारी संगति है, शृंखला है।" वही, पृ० ११८।

२. "मैं बार-बार सोचता हूँ कि हमारा साहित्य, हमारा सम्पूर्ण कला-कृतित्व यथार्थ के इस बौद्धिकीकरण से आक्रान्त है। यथार्थ को यथार्थवत् ग्रहण कर सकने की क्षमता को वह कुंठित कर रहा है।" —'आत्मनेपद' : अज्ञेय, पृ० १३८

३. 'नयी कहानियाँ' : फरवरी, १९६१, पृ० ३३।

सिंह की कहानी 'आगे'[1] की गुनाबो, निर्मल वर्मा की कहानी 'तीसरा गवाह'[2] की नीरजा आदि चरित्रों का निर्माण यथार्थ-गवेषणा के विभिन्न स्तरों का उद्घाटन करता है—पर इन कहानियों में भी निर्मल वर्मा की कहानी की यथार्थ-गवेषणा अधिक गहन और तीव्र है क्योंकि यह आत्मचेतना पर ही आधारित है। प्रेम और सहानुभूति के होने हुए भी कोर्ट-रूम में बिताये गये दस मिनट नीरजा के निर्णय को एकदम बदल देते हैं[3]। यह निर्णय-परिवर्तन की प्रक्रिया यथार्थ की जितनी गहरी गवेषणा का उद्घाटन करती है उस पर विचार करने से कहानी का रचनात्मक अर्थ हमारे लिए और भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

आज के कहानीकार का यथार्थबोध सम्वेदना के खोखलेपन को समूचे प्रभाव के साथ व्यक्त कर देता है और मानवीय सम्बन्धों को झुठलानेवाली सम्वेदना पर गहरा व्यंग करता है। शेखर जोशी की कहानी 'दाज्यू'[4] इस धरातल की महत्वपूर्ण कहानी है जिसमें 'बिम्ब' 'विचार' में और 'विचार' 'व्यंग' में बदल जाता है। 'दाज्यू' सम्बोधन इस कहानी में एक प्रतीक है जिसके द्वारा पहाड़ी बाय 'अपने छूटे हुए गाँव के अतीत, ऊँची पहाड़ियों, नदियों, ईजा (माँ)...बाबा...दीदी...भुलि (छोटी बहन)...दाज्यू (बड़ा भाई)'[5]—सबको पा लेना चाहता है पर नागरिक संस्कृति उसे इस काल्पनिक प्राप्ति से भी वंचित रखती है। व्यंग की यह निर्मम सत्यता आज की कहानी की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

सांकेतिकता

प्राचीन और नवीन कहानी के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम मान सकते हैं कि प्राचीन कहानी से आधुनिक कहानी की विशिष्टता बहुत-कुछ इस पर निर्भर करती है कि किस सीमा तक उसमें सांकेतिकता का विस्तार पहले से भिन्न स्तरों पर हो पाता है। इस अर्थपूर्ण सांकेतिकता का सही उपयोग वे ही कहानीकार कर पाते हैं जिन्हें कहानी में व्यक्त कथानक, चरित्र, संवेदना और वातावरण के भीतरी सम्बन्धों की सही पहचान होती है।

---

१. 'नयी कहानियाँ' : फरवरी, १९६१ : पृ० ३३

२. कल्पना : मार्च १९५८ : पृ० २५

३. किन्तु उसी क्षण मुझे लगा मानो नीरजा के भीतर उन चन्द मिनटों में एक अजीब-सा परिवर्तन आ गया था, और मुझे एक बहुत पुरानी याद हो आयी—कोई भूला-भटका सा क्षण आता है जब मन फैसला कर लेता है। हर छोटा-सा फैसला एक लम्बी राह तक घिसटता रहता है और जिन्दगी खत्म हो जाती है।"

—तीसरा गवाह : निर्मल वर्मा। 'कल्पना' : मार्च १९५८, पृ० ३७

४. दाज्यू : कोसी का घटवार—शेखर जोशी, पृ० ११

५. वही, पृ० १३

सांकेतिकता के विभिन्न स्तरों का विकास आज की हिन्दी-कहानी की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। पर, यह सोचना किसी सीमा तक भ्रमपूर्ण है कि इस सांकेतिकता का उदय पिछले दशक के कहानीकारों के कृतित्व के प्रकाश में आने से हुआ। प्रसाद और प्रेमचन्द ने बहुत पहले कहानी के लिए सांकेतिकता की सार्थकता पर बल दिया था। प्रेमचन्द के वक्तव्यों और उनकी विकासकालीन कहानियों में तथा प्रसाद की विकासकालीन कहानियों में इसके प्रमाण उपस्थित हैं। 'पूस की रात' और 'कफन', 'पुरस्कार' और 'आकाशदीप' तथा 'उसने कहा था'—सांकेतिक अर्थवत्ता का श्रेष्ठ उपयोग प्रस्तुत करनेवाली कहानियाँ है। इसी दृष्टि से वे आधुनिक कहानियाँ हैं—अज्ञेय और यशपाल की कहानियों की तुलना में भी।

निश्चय ही आज की कहानी में सांकेतिकता का अधिक सूक्ष्म उपयोग किया जा रहा है और यह कथन युक्तिपूर्ण है कि आज की कहानी संकेत करती नहीं, बल्कि संकेत है।[1] पर ऐसी कहानियाँ जो संकेत करती न हों, संकेत हों, बहुत कम हैं। अधिकतर कहानियाँ रचनात्मक से अधिक चमत्कारपूर्ण सम्बन्धों की सृष्टि में ही अपने प्रयत्न की सीमा समझती जान पड़ती हैं।

'कहानी' में व्यक्त सांकेतिकता का मूल्यांकन करते हुए इस प्रश्न पर भी विचार करना उचित है कि सांकेतिक होने के प्रयत्न में कोई कहानी अतिशय दुर्बोध तो नहीं हो गयी। 'कविता' में व्यक्त दुरूह सांकेतिकता के पक्षधरों का कहना है कि आज की कविता विशेष भावक-वर्ग के लिए है। पर 'कहानी' में सांकेतिकता के सूक्ष्म उपयोग के पक्षधर भी संभवत मानने होंगे कि 'कहानी' न तो विशेष भावक-वर्ग के लिए थी, न उसका होना आवश्यक और उचित है। संकेत कहानी में हो, तो ऐसे हो जो 'कहानी' के मर्म को एक अपूर्व साधारणिकता की युक्ति से व्यंजित कर दें।

सांकेतिक अर्थवत्ता से युक्त होने पर ही, आज की कहानी सीधी चेतना तथा अनुभूति के गहरे स्तरों को छूने में समर्थ हो सकी है। आज के कहानीकार के व्यक्ति-मन और परिवेश में जो विरोध भी है उसे संकेतों द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। आज की कहानी सौन्दर्यानुभूति के उस स्तर की कहानी है जिसमें रचनाकार 'बन्द कमरे की खिड़की से आते हुए आलोक को देखकर अपनी संवेदना के सहारे ही' मूर्त कर लेता है। राजेन्द्र यादव की कहानी 'प्रतीक्षा' में हम पाते हैं कि लेखक नन्दा को बीच में लाकर स्वयं ओट हो जाता है और गीता के मन में निहित यौन कुंठाओं के सारे स्तर नन्दा के प्रति उसकी मानसिक आसक्ति और व्याकुलता के संकेतों द्वारा उद्घाटित कर देता है। यह विशेषता आज की सभी श्रेष्ठ कहानियों में देखी जा सकती है कि रचनाकार शब्दों को अर्थबद्ध तर्क-सरणि में सीमित करने के स्थान पर उनकी गति को विशेष 'संकेत' की दिशा में मोड़कर स्वयं तटस्थ हो जाय। 'प्रतीक्षा' कहानी में यह देखकर कि नन्दा और

---

१. 'नयी कहानी : नये प्रश्न' नामवरसिंह—'कहानी', जनवरी १९५९

हर्ष के उन्मुक्त प्रेम-व्यवहार और तन्मय विसर्जन
नही, गहरी तृप्ति का अनुभव होता है, गीता के मन
परिचय प्राप्त होता है। गीता, नन्दा के प्रति अप
इसके दो कारणो का सकेत कहानी मे ही छिपा हुआ है
उसकी सम्पूर्णता में प्यार करती है (उसकी व्यावहारि
सकेत निहित है); दूसरे, ईर्ष्या व्यक्त करके वह नन्दा
कहानी की साकेतिकता का सबसे बड़ा आधार तो य
गीता के चरित्र की कुंठाओ के चित्रण के लिए साधन है, म
लगा कि यह उसकी छाती पर सिर रखे नन्दा नही, स्व
बोल रहा है।' इस एक वाक्य मे कहानी का साकेतिक प्रयो

प्रश्न यह है कि नन्दा को ही रचनाकार ने गीता की यौ
व्यक्ति का साधन क्यो चुना ? नन्दा और गीता के परस्पर
प्रतिक्रियाओं में ही इसका मनोवैज्ञानिक सकेत है। मनोवैज्ञानि
उन्माद मे इस कहानी के समलिगी प्रेम की कहानी मान लिये ज
है, पर कहानी के मनोवैज्ञानिक सकेत पर ध्यान देने से यह आ
दूर हो जाती है।

साकेतिकता आज की कहानी की सूक्ष्म रचना-प्रक्रिया के
'पर्युत्सुक' बनाती है—यही उसका वैशिष्ट्य है। आज की
कहानियो मे एक वस्तुभेदी दृष्टि दिखायी देती है जो 'वस्तु' को ही
प्रतिक्रियाओं को भी मूल स्रोत तक जाकर देखने की तीव्र प्रेर
आधुनिक रचनाकार के भीतर एक प्रकार के मानसिक प्रत्यावर्तन
बराबर बनी रहती है। साकेतिक अर्थवत्ता के द्वारा ही वह अपनी
प्रक्रिया मे इस समस्या का समाधान प्राप्त करती है।

प्रतीक-योजना एवं बिम्ब विधान

व्यंजना के नये माध्यम की खोज मे आज का कहानीकार नये और
प्रतीको का अन्वेषण करता है। 'रचना' मे प्रवहमान अन्तर्धाराओं को वह
पद्धति द्वारा ही व्यक्त करना चाहता है। प्रतीक की विशिष्टता उसके लिए
प्रक्रिया की नहीं, समान रचनात्मक अनुभवो का रूप देने के लिए
जो विपदन अपेक्षित होता है वह 'प्रतीक' को मामुग कर देने से ही सम्भव
ता है।

आवश्यक और उचित होता है 'प्रतीको' को माध्यम मान लिया जाय;
के लिए, यथार्थ के सूक्ष्म स्तरों के उद्घाटन के लिए
लिए अज्ञेय ने लिखा है, "

उससे मिलनेवाली अनुभूति की गुणात्मकता में होता है।"[1] आज के कहानीकार में प्रतीक-विधान के उपयोग की सही दिशा का बोध है। मार्कण्डेय की कहानी 'तारों का गुच्छा' में अपूर्ण इच्छाओं के प्रतीक-रूप में ही गदराये हुए आसमान में से तारों के एक गुच्छे के तोड़ लिये जाने की कल्पना की गयी है—"जाने क्यों उसे लगता है, जैसे खिड़की के पास से गदराया आसमान झुक आया है और वह खिड़की बन्द किये बैठी है। क्यों न वह तारों का एक गुच्छा तोड़ ले ? कहीं उसने माँग ही लिया तो क्या होगा और वह चारपाई से नीचे उतरकर खिड़की खोल देती है। सचमुच, रेल की ऊँची पटरियों पर तारों का घोल पुत गया है और दूर आसमान के सीमान्त में उसकी नुकीली धार धँसती चली गयी है।"

राजेन्द्र यादव की कहानी 'प्रश्नवाचक पेड़' में प्रश्नवाचक पेड़ जीवन और प्रकृति के गहरे असन्तुलन या असंगति का प्रतीक है यद्यपि कहानी के चमत्कारपूर्ण घुमावों के बीच प्रतीक का प्रभाव इस प्रकार खो गया है कि वह अन्त में[2] पाठक को आघात की भाँति लगता है। प्रतीक का यही इष्ट हो सकता है। तब भी कहानी की सम्पूर्ण रचना में कुशल अभिव्यक्ति-संयम का उपयोग आवश्यक था।

आज का कहानीकार युग की मनोवैज्ञानिक स्थितियों की जटिलता को व्यक्त करने के लिए बिम्बों के अर्थपूर्ण उपयोग पर अधिक बल देता है। भावबोध के विशेष स्तर के अनुरूप टूटे असम्बद्ध बिम्बों को भी सम्पूर्ण सार्थकता में ज्यों-का-त्यों पाने का प्रयास आज की कहानी की रचना-प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण अंग है। बिम्ब-रचना की प्रक्रिया पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि यह प्रयास एक कठिन रचनात्मक संकल्प है। रचना प्रत्यक्ष संवेदना की अभिव्यक्ति से आगे आकर विशेष अनुभवों की अभिव्यक्ति हो, इसके लिए यह आवश्यक होता है कि रचनाकार अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं को समकालीन यथार्थ के प्रकाश में देखे। तात्कालिक मानसिक प्रतिक्रियाओं को अधिक गहरे स्तर पर व्यक्त करने के लिए असम्बद्ध और टूटे हुए बिम्बों को सम्पूर्ण सार्थकता में उपलब्ध करने का प्रयत्न आज के कुछ आत्मचेता कहानीकारों में है, इसमें सन्देह नहीं।

---

१. 'आत्मनेपद' : अज्ञेय, पृ० २५६

२. 'डाक्टर चरन ने खुद् से टेबल-लैम्प बुझा दिया। बाहर चाँदनी में वह बबूल का प्रश्नवाचक पेड़ सिर झुकाये खड़ा कुछ सोचता खुली खिड़की से साफ़ दिखाई दे रहा था। जी फिर एक बार धक् से रह गया। इसे तो किसी तरह कटवाना ही पड़ेगा। माथुर की बात याद आयी तो चन्द्रा का चेहरा भी सामने आ गया। एक अजीब-सा ख़याल दिमाग़ में उठा, चाँदनी में बबूल का ठूँठ पेड़ कैसा लगता है जो.. "

—'प्रश्नवाचक पेड़' (छोटे-छोटे ताजमहल और अन्य कहानियाँ)
—राजेन्द्र यादव, पृ० १५५

समसामयिक यथार्थ की जटिलता और परिवर्तनशीलता की पृष्ठभूमि में बिम्ब-रचना की अर्थपूर्ण प्रक्रिया को समझने और अपनाने की पर्यत्सुकता आज के कहानीकारों की महत्त्वपूर्ण *विशेषता है। आधुनिक परिस्थितियों की जटिलता में* मानवीय अस्तित्व के मूलभूत प्रश्नों का समाधान पाने की इच्छा से प्रेरित आज का कहानीकार कल्पना को प्रतिबन्धित प्रतिक्षेप (कंडीशंड रिफ्लेक्स) तक ही सीमित नहीं रखता, बल्कि अनेक बिम्बों के परिनिर्माण में उसका सतत उपयोग करता है। निर्मल वर्मा की कहानी 'लवर्स' के एक अंश पर विचार करें :

"उस शाम हम पैवेलियन के पीछे टैरेस पर बैठे थे। मेरे रूमाल में उसकी चप्पलें बँधी थीं और उसके पाँव नंगे थे। घास पर चलने से वे गीले हो गये थे और उन पर बजरी के दो-चार लाल दाने चिपके रह गये थे। अब वह शाम बहुत दूर लगती है। उस शाम एक धुँधली-सी आकांक्षा आयी थी और मैं डर गया था। लगता है, आज वह डर हम दोनों का है, गेंद की तरह कभी उसके पास जाता है, कभी मेरे पास।"

'बजरी के दो-चार लाल दाने', 'धुँधली-सी आकांक्षा', 'गेंद की तरह का डर' ये बिम्ब एक ही मानसिक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति के लिए हैं; पर एक में रूप की *प्रत्यक्षता, दूसरे में रंग की सूक्ष्मता, तीसरे में सूक्ष्म पर विलक्षण सम्बन्ध-भावना* दिखायी देती है। यह अपने-आप में प्रमाण है कि बिम्बों के बहुविध उपयोग की सम्भावना का बोध आज के कहानीकार को है।

बिम्बों की कहानियों में अर्थपूर्ण उपयोग करनेवाले नये लेखकों में, निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, मार्कण्डेय, रामकुमार, कमलेश्वर, शिवप्रसाद सिंह, अमरकान्त तथा कृष्णा सोबती आदि प्रमुख हैं, जिन्होंने बिम्बों का उपयोग कहानी की कथावस्तु और रूप के परिनिर्माण की दिशा में किया है। आधुनिक कहानी के अन्तर्गत उपलब्ध बिम्ब-बहुल पारदर्शी भाषा के अर्थपूर्ण उपयोग को देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म इन्द्रियबोधों की अभिव्यक्ति के लिए जैसी अर्थपूर्ण क्षमता आज की कहानी में उपलब्ध है, पहले इस रूप में कभी नहीं थी। *बिम्ब-विधान का सार्थक उपयोग करने वाले आज के कहानीकार* वस्तुओं के पीछे छिपे हुए गहरे यथार्थ की नयी खोज के प्रति, पहले के कहानीकारों की तुलना में कहीं अधिक व्याकुल एवं चेष्टावान दिखायी देते हैं।

[हिन्दी-कहानी की रचना-प्रक्रिया : १९६५]

[२]

विकास और विश्लेषण

आज की हिन्दी-कहानी : प्रगति और परिमिति

शिवप्रसादसिंह

हिन्दी-कहानी को भाग्यवश उन परिस्थितियों से नहीं गुजरना पड़ा, जो यूरोपीय कहानी के सामने चेखव और अन्य जागरूक कथाकारों के आगमन के पहले खड़ी हो गयी थी। व्यक्तिवाद के अत्यन्त घृणित और उच्छृङ्खलित रूप की सर्वत्र प्रधानता थी, जो एक ओर रुग्ण मन के खंडित व्यक्तित्वों के चित्रण को प्रेरणा दे रहा था, तो दूसरी ओर क्राइम, सेक्स, एडवेंचर और साहसिक रोमांस के नाम पर बढ़ावा दे रहा था। हिन्दी में प्रेमचन्द के उदय के कारण इस प्रकार की प्रवृत्तियों को प्रश्रय नहीं मिला। प्रेमचन्द ने अपनी सुधारवादी दृष्टि और यथार्थवादी चेतना के बल पर हिन्दी-कहानी को जीवन के निकट खड़ा किया। गणित और प्रारम्भिक विज्ञान के विकास की पृष्ठभूमि में रेने देकार्त-जैसे दार्शनिकों ने प्राचीन संस्कारों और मिथ्या मान्यताओं के आवरण को फाड़कर 'मनुष्य की बुद्धि' की प्रधानता घोषित की। विज्ञान और धर्म के युद्ध में विज्ञान जीत गया। धर्म की मान्यताएँ या तो अनावश्यक होकर टूटने लगीं या अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए अपने को विज्ञान-सम्मत प्रमाणित करने का प्रयत्न करती रहीं। सुधारवाद इसी दर्शन की देन थी। विज्ञान के क्षेत्र में नयी शक्तियों का उदय हुआ, जीवन उलझा और इसी बीच डार्विन का विकासवाद, फ्रायड का मनोविज्ञान, प्रकृतिवाद अस्तित्ववाद और साम्यवाद-जैसी विचारधाराएँ नाना रूपाकारों में प्रगटित हुईं। इन दर्शनों के पीछे मानव-मन का परिवर्तन स्पष्ट था। कथा-साहित्य में इस उलझन और उद्वेलन का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। प्रेमचन्द के बाद इस परिवर्तित समाज-मन के चित्रण का भार जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, अश्क आदि कथाकारों के जिम्मे आया। प्रेमचन्द की व्यापकता इनको न मिली, गहराई में ये अवश्य उतरे। इनकी कहानियों में व्यक्तिवादी स्वर की प्रधानता थी। टूटे हुए असफल क्रान्तिकारी नायकों की प्रधानता इस बात का सबूत है। ये कथाकार अपनी शुरू की रचनाओं में बाह्य जीवन से बिलगाव के बावजूद विकासशील जीवन के कुछ अंशों का चित्रण करने में सफल हुए। किन्तु जीवन से विच्छिन्न रहने के कारण धीरे-धीरे इनकी कहानियों में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं। जैनेन्द्र में यह विचारशीलता के तनाव के रूप

में आयी। अज्ञेय ने प्रयोगों की नवीनता और शैली के बल पर, यशपाल ने दरारग्रस्त रूढ़ियों और दकोसलों पर व्यंग करके तथा अश्क ने कुछ रोमेंटिक खंड-चित्रों के आधार पर अपना आकर्षण कायम रखा। कहानियों का लेखन पूर्ववत् जारी रहा, पत्र-पत्रिकाओं के कलेवर कच्चे-पक्के माल से भरे रहे। पर आश्चर्यजनक रूप से ४०-५० के बीच कभी भी कहानी पर कोई चर्चा, विचार-विमर्श, लेखा-जोखा, तल्खी-गर्मी नहीं उपजी। जीवनी-शक्ति के क्षय-काल में नाना प्रकार के पेशेवर कथाकार उभरकर सामने आये और ऐसा लगा कि हिन्दी-कहानी भी थ्रिल, क्राइम और अधोमुखी रोमांस का ग्रास बन जायगी। हिन्दी के कोई भी दो आलोचक शायद ही किसी बात पर एकमत होते हों, वाजपेयी, शर्मा और चौहान-जैसे आलोचकों में किसी बात पर मतैक्य होना आश्चर्य की बात है, पर हिन्दी कथा-साहित्य के उस क्षय-काल के विषय में तीनों ही एकमत हैं। 'जन-जीवन की बहुलता, संपर्क-जन्य वास्तविक सम्वेदन इस प्रकार की कहानियों में नहीं है' (आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २००) इस 'साड़ी-जम्फर साहित्य' की परम्परा बढ़ती-फूलती रही। अब यह परम्परा अपने ह्रास की सीमा तक पहुँच गई है, और ज्यादा दिन तक हिन्दी पाठकों को बहलाया न जा सकेगा', (प्र० सा० की समस्याएँ, पृ० १२६) 'यह कहानी की परम्परा-भ्रष्ट प्रवृत्ति थी' (हि० सा० के अस्सी वर्ष, पृ० १६२)।

उपर्युक्त प्रवृत्ति के साथ ही प्रवृत्तिमूलक कथा-साहित्य की एक और श्रेणी भी दिखायी पड़ती है। इस समूह में उपर्युक्त कथाकारों की तरह बड़े नाम तो नहीं हैं, पर इस समूह का भी हिन्दी-कथा को नष्ट करने में कम हाथ नहीं रहा है। यह श्रेणी है राजनीतिक विचारधारा के प्रचारक लेखकों की। समाजवाद के नाम पर लिखी हुई, नीरस, जुगुप्सित, निश्चित साँचे में ढली हुई इन कहानियों का एक शीर्षक हो सकता है, 'लाल झंडा और मशाल'।

(आज की हिन्दी-कहानी को इसी पृष्ठभूमि से देखना होगा। आज के कथाकार के सामने एक प्रश्न था, कहानी को एक ओर पथभ्रष्ट होने से बचाना, जो सस्ते रोमांस और मन के गुहा-गह्वर में लुप्त होती जा रही थी, और उसे नारेबाजी से बचाना था, जहाँ कहानियाँ मशीनों के 'लार्ज-स्केल प्रोडक्शन' के स्तर पर बाजारों में भर रही थीं, जिन पर कलाकार के हाथों के स्पर्श का नितान्त अभाव था। मैं यह तो मैं नहीं कह सकता कि आज की हिन्दी-कहानी में ये दो प्रवृत्तियाँ सर्वथा समाप्त हो गई हैं, पर इतना मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि आज ये प्रमुख और मूल प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। हिन्दी-कहानी पहले से कहीं ज्यादा संवेदनापूर्ण और नाना स्तर की जीवन-अनुभूतियों से भरी हुई है, उसमें दुखी व्यक्ति के लिए मात्र नारेबाजी नहीं, सहानुभूति और दर्द भी है। मनोविश्लेषण के नाम पर रेखागणित की तरह लक्षण और उदाहरणों की विवृत्ति नहीं दिखायी पड़ती।)

यद्यपि आज हिन्दी-कहानी जीवन के कहीं ज्यादा निकट है, पर अब भी बहुत-

सी ऐसी प्रवृत्तियाँ प्रबल दिखायी पड़ती हैं, जो नाना प्रकार की कलाबाज़ियों की आड़ में हमारी ज़िन्दगी की ग़लत तस्वीर प्रस्तुत करने का काम भी कर रही हैं। आज हिन्दी का शायद ही कोई ऐसा कहानीकार हो, जो यह दावा न पेश करता हो कि उसकी कहानियों में जीवन के नये स्पन्दन, नयी भाव-भूमियों, नये स्वर की अभिव्यक्ति की गई है। किन्तु मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि इन दावों की आड़ में या तो अपनी कमज़ोरी को छिपाने का प्रयत्न किया गया है या कि हम अपने को इतना सही समझते हैं कि ग़लती को ग़लती मानना हमें स्वीकार नहीं है। कहानी में जीवन की अभिव्यक्ति को परखना और उसे स्पष्ट कर सकना आसान नहीं है, फिर भी हम सुविधा के लिए दो-चार मूल प्रश्नों को सामने रखकर इस समस्या पर कुछ हद तक विचार कर सकते हैं।

इस दिशा में पहला प्रश्न यह है कि क्या हमारी कहानियाँ जातीय साहित्य की कोटि में रखी जा सकती हैं? जातीय साहित्य का अर्थ है, किसी देश का वह साहित्य, जो असली अर्थों में वहाँ का साहित्य कहा जा सके, जिसमें उस देश की जनता के दुःख, संघर्ष, इच्छाओं, आकांक्षाओं को अंकित करने का प्रयत्न किया गया हो, वहाँ की सांस्कृतिक विरासत को समझते हुए समाज और जीवन में संघर्षरत स्वस्थ और विकासशील तत्त्वों को प्रेरित किया जाता हो, मनुष्य के बाहरी और भीतरी जीवन में पड़नेवाले नाना प्रकार के प्रभावों का सही विश्लेषण किया गया हो। ऐसे साहित्य को हम उस देश का जातीय साहित्य कहते हैं। इसी प्रकार का साहित्य किसी देश की जनता का सही प्रतिनिधि होता है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि हिन्दी में शहरी कथा के नाम पर लिखे जानेवाले साहित्य का एक हिस्सा जातीय साहित्य के अन्तर्गत शामिल नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह हमारी जातीयता का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता। उसे हम भारतीय साहित्य नहीं कह सकते। 'शहरी कथा' शब्द के इस्तेमाल के लिए पाठक मुझे क्षमा करेंगे! ग्राम-कथा और शहर-कथा शब्द बेमानी हैं। कहानी की आलोचना में इनको कोई अलग श्रेणी मानकर चलना ग़लत है, कहीं का भी साहित्य हो, यदि वह जीवन को ईमानदारी से प्रस्तुत करता है, तो वह श्रेष्ठ है। किन्तु 'शहरी कथा' के प्रयोग की लाचारी इसलिए है कि यह शब्द शहर के कथाकारों ने उस 'अछूत साहित्य' से अपने को भिन्न करने के लिए प्रयुक्त करना शुरू किया है, जिसे ग्राम-कथा कहा जाता है। तमाशा यह है कि 'ग्राम-कथा' का नाम भी उन्होंने ही प्रदान किया और आज वे ही शोर भी कर रहे हैं कि ग्राम-कथा का और शहर-कथा का विभाजन ग़लत है, मैं कहता हूँ कि यह विभाजन ग़लत है, यदि इसका मतलब श्रेणी है। इस या उस नाम का होने से कोई कहानी अच्छी या बुरी कही जाती हो, तो यह अनुचित है, यह विभाजन ग़लत है। पर यह विभाजन सही इसलिए है कि उन्होंने 'ग्राम-कथा' को अप्रतिष्ठित करने के प्रयत्न में इस शब्द को बहुत प्रचलित कर दिया है। ग्राम-

कथा में मलनी-पूर, जाते की बातें भर हैं, इसलिए इसे तरजीह देना अनुचित है। ग्राम-कथा वही लिखते हैं, जो जीवन की उलझनों को नहीं समझते, यह कम-बुद्धि के लोगों का प्रयत्न है...आदि-आदि फैलाने देने के बाद नगर के तथाकथित कथा-कारों ने अब दूसरा नारा बनाया है कि शहर-कथा और ग्राम-कथा का विभाजन गलत है, क्योंकि पहलेवाले नारों से ग्राम-कथा का कुछ नहीं बिगड़ा। इसलिए मैं कहता हूँ कि विचार करने के लिए शहर और ग्राम-कथा का नाम ले आना अब मजबूरी है, क्योंकि ग्राम-कथा 'सबल थीम' का आन्दोलन है, और हमेशा 'स्ट्राग करेंट' के आने पर इसी प्रकार की दुहरे पैंतरेबाज़ी का तमाशा खड़ा होता है। शुरू में उसे साहियान कहा जाता है, पर बाद में जब यह बँटवारा अपने ही खिलाफ जाने लगता है, तब यह कहा जाता है कि ऐसा बँटवारा नहीं होना चाहिए। ग्राम-कथा की त्रुटियों का जिक्र बाद में होगा, यहाँ तो प्रश्न है नगर-कथा और जातीय साहित्य।

आज हमारे नगरों के जीवन में सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष जितना तीव्र है, उतना अभी गाँवों में नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर नये-पुराने, दोनों युग के सैंकडों संस्कार परस्पर युद्धरत हैं। जीवन अधिक व्यस्त और मशीनी होता जा रहा है, बाहर और मन में सैंकड़ों तरह के प्रभाव एक-दूसरे से टकरा रहे हैं। इस संघर्ष की स्थिति मे वही कथाकार जीवन का द्रष्टा कहा जा सकता है, जो इन परस्पर-विरोधी तत्त्वों में सही, स्वस्थ और कल्याणकारी तत्त्वों को पहचानकर उन्हें विकसित करता है। यदि नगर के जीवन का अर्थ आफिसों या कालेजों की लड़कियों के पीछे चील-कौओं जैसे मँडराना-मात्र है, या आधुनिक सभ्यता के नाम पर हर प्राचीन चीज को तोड़ने के लिए चिल्लाना-भर है, तो साफ है कि यह नगर का जीवन नहीं, उस कहानीकार का अपना जीवन है। अपने जीवन की भी यह सही व्याख्या नहीं है, क्योंकि इन तमाम 'डॉन क्विजोटिक' प्रयत्नों के बाद वह कभी भले आदमी की तरह बैठकर सोचता-विचारता होगा, तो उसे अपने मन से कुछ उत्तर तो जरूर मिलता होगा, उसे अपनी इस कृत्रिम प्रेम की दुनिया के अलावा कुछ और भी तो सूझता होगा ! ज्यादा विस्तार में न जाकर मैं नगर-जीवन की एक बहुत ही स्थूल समस्या की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। हालाँकि यह खाली नगर की समस्या ही नहीं है, वैसे इसकी गम्भीरता नगर के जीवन में ज्यादा उभरकर आयी है। आधुनिक समाज में नारी का स्थान। हमारे देश में इस जीव के साथ जो अत्याचार हुए हैं और प्राचीन साहित्यकारों ने उसके विरोध में जो-कुछ किया है, वह हमारे साहित्य में दिखायी पड़ता है। नारी परिस्थितियों के विषम चक्र में न प्रेमिका हो पाती है, न पत्नी। सामाजिक बन्धन उसे किसी की पत्नी बना देते हैं, जबकि मन की स्वाभाविक भावनाएँ उसे किसी और से प्रेम करने के लिए बाध्य करती हैं। यह स्थिति केवल

इस देश की नारी के साथ ही नहीं है। जहाँ नारी सबल है, शक्तिशाली है, जहाँ वह आँचल झटककर किसी एक का पत्नीत्व या प्रेम स्वीकार कर लेती है, वहाँ भी तलाक की लम्बी कतारें उसके मन को सन्तोष नहीं दे पा रही हैं। लेकिन एक भारतीय लेखक आधुनिकता के जोश मे कहता है कि कमज़ोर वह इसलिए है कि प्रेमिका और पत्नी दोनो की ही भूमिकाएँ एक ही साथ ईमानदारी से निबाहने का ढोंग करती है। 'ट्रेजेडी यह नही कि वह दोनो के प्रति सच्ची क्यो नहीं है, ट्रेजेडी यह है कि वह दोनो में से किसी को झटककर निकाल नहीं पाती।' यहाँ ज़ोर अमल मे 'झटके' पर है, पर क्या झटककर निकल जाने से ही मनुष्य और नारी के जीवन की यह समस्या सुलझ जायेगी। भारतीय नारी इन दोनो मे से किसी को झटके बिना ही अपनी राह बना लेती रही है, मर्यादा और सम्मान के साथ। यह उसकी कमज़ोरी नही है, असल मे कमज़ोरी यह है कि हम प्रेम को केवल शारीरिक बुभुक्षा का पर्याय मानने लगे हैं। अगर नारी के भारतीय रूप को देखना हो तो उपेन्द्रनाथ अश्क की 'ठहराव' कहानी पढ़िये। पर अश्क तो पुराने हो गए हैं, नये कथाकारों का आधुनिकता-भरा जोश उनमें नहीं है। असल मे नारी के प्रति यह प्रेम किसी और ही उद्देश्य से प्रेरित है। 'दादावादी' कहानीकार उस प्रत्येक नारी को कमज़ोर लड़की कहते हैं, जो पारिवारिक घेरे को तोड़कर क्लब और रेस्तराँ मे उनके साथ प्रेम का तकाजा नही निभा पाती। ऐसे लोगो के हाथ मे भारतीय नारी की क्या अवस्था होती है, इसे 'अनिता चटर्जी' मे देखिये। अन्धी माँ तथा बी० ए० मे पढते भाई को घर पर छोड़कर एक पढ़ी-लिखी भारतीय लड़की नौकरी करने के लिए घर से नौ सौ मील दूर एक चर्च मे आती है और बिना वजह, दबाव, बिना लाचारी के वह पादरी को समर्पित हो जाती है। क्यों ? केवल थो रोज़ी के लिए ! यदि पढ़ी-लिखी परिवारवाली लड़की बिना ग्लानि, बिना विरोध के शरीर अर्पित कर सकती है, तो उस देश की पृथ्वी पर बने रहने की कोई ज़रूरत नहीं; और उसे यदि यही करना था, तो नौ सौ मील दूर आने की क्या ज़रूरत थी ? शरीर बेचना ही था तो फिर नौकरी का ढोंग क्यो ? असल मे यह कहानीकार की हवस है जो एक हिन्दुस्तानी औरत को बेपर्द करती है, बिना मतलब एक पादरी के सामने समर्पित होने के लिए विवश करती है। यही हिन्दुस्तानी नारी का रूप है यही संस्कृति है, यही यथार्थ है ? पता नहीं, जानवर कौन है ? हिन्दुस्तानी कुत्ते को गोली मार दी गयी कि उसने कनाडियन कुतिया को 'लव' किया; पर समझ मे नहीं आता कि 'अनिता चटर्जी' के इस पतन के लिए गोली किसे मारी जाय ? एक अपढ़, गँवार, कमज़ोर, निर्धन लड़की भी इतनी आसानी से शायद ही कहीं ऐसा करती हो। ऐसी कहानियाँ हमारे जातीय साहित्य की कलंक हैं, ये बिल्कुल ही अभारतीय है, काम-बुभुक्षा से पीड़ित मन के दिवास्वप्न की तरह हैं। इनमें गरीबी और बेबसी की समस्या नही है, देशी-विदेशी प्रेम का सवाल है !

संसार में गन्दगी कहाँ नहीं है, रुचि-सम्पन्न व्यक्ति के लिए पग-पग पर धक्का देनेवाली चीज़ें दिखायी पड़ जाती हैं। सेक्स, ग़रीबी, विवशता, नैतिक मानों के बिखराव, शारीरिक रूप के चाकचिक्य, खोखलेपन, मशीनी प्रेम, आत्मा के हाहाकार और असन्तोष में पड़े हुए चरित्रों को उभारकर सामने ले आना बड़ी क्षमता और शक्ति की दरकार रखता है। ज़ोला के रास्ते का अनुकरण करना बहुत कठिन नहीं है, पर उसकी सूक्ष्म दृष्टि और मानवीयता से वंचित कथाकारों ने उसी थीम को पकड़कर कैसे दीवार से सिर टकराया है, यह बहुत-सी देशी-विदेशी कहानियों में देखा जा सकता है। 'नाना' तो वेश्या होकर भी अपने बच्चे की शुभ चिन्ता में घुलती रही, पाप-कर्म से अर्जित रुपये के लिए पादरियों को हाथ फैलाते देख अजीब ग्लानि और पीड़ा से वह झुक जाती, पर आज हमारी कहानी में ऐसी बहुत-सी बेशर्म लड़कियाँ मिलेंगी, जो अपने खोखले रूप, गावदीपन, सस्तेपन के कारण हमारी घृणा ही पाती हैं। यही क्या मानवीयता है ? बेबस मनुष्य सतही कलाकारों के हाथ में फँसकर हमेशा घृणा का पात्र बनता है। समर्थ कलाकार उसकी बेबसी और त्रुटियों के बीच भी उसे पाठकों की सहानुभूति का पात्र बना देता है। ऐसे कथाकारों से यदि कोई प्रबुद्ध पाठक यह कहता है, 'मिस पाल पर लेखक का हँसना मुझे बहुत घृणित लगा किसी पात्र से हँसी करना, खेलवाड़ करना अच्छे लेखकों का काम नहीं है, ('कहानी,' फरवरी ५६, पृ० ७५) तो मुझे यह कहना है कि मित्रवर, जितना वे देते हैं, उससे अधिक की आशा उनसे आप क्यों करते हैं ? वे केवल चेखव की माला जपते हैं, वे चेखव की तरह करुणा से भरा हुआ हृदय वे कहाँ से लायें ? वे चेखव की तरह कभी नहीं कह सकते कि, 'लाइफ़ इज लांग, देयर बी गुड, एंड बैड एंड एवरी थिंग् एट मदर रशा इज वाइड।' वे कभी भी भारत की धरती के प्रति विश्वास नहीं व्यक्त कर सकते, क्योंकि धरती उनके लिए अपना महत्त्व खो चुकी है। उनका जीवन तारकोल की सड़कों, होटलों, रेस्तराँओं और काफ़ी के प्यालों में बँध गया है, ये लड़कियों को समाज से कटी पतंग समझते हैं और कल्पना के आकाश में कनकौए लड़ा रहे हैं। रिश्ते इनके लिए बेकार हैं; इन्हें माँ, बहिन, दादी, बुआ के नाम से धक्का लगता है। सम्भव है कि आगे चलकर बच्चा माँ के गर्भ से नहीं, 'टेस्ट ट्यूब' से पैदा होने लगे, ये इसी आशा में इस प्रकार की आनेवाली पीढ़ी के लिए कहानियाँ तैयार कर रहे हैं। आज लोग इन्हें न समझ पायें, इनकी बला से !

एक मित्र कहानीकार ने अपने एक निबन्ध में यह पूछा है, 'क्या शहरों के मध्यवर्गीय जीवन में कुछ भी स्वस्थ और सुन्दर नहीं है ? क्या वहाँ घुन खाये इन्सान ही हैं, जिनके अन्दर कहीं भी मानव-सुलभ कोमलता नज़र नहीं आती या मानव की दृढ़ता का परिचय नहीं मिलता ?' मेरा उत्तर है कि नगर का मध्यवर्गीय जीवन बहुत-सी सम्भावनाओं से भरा है, उसमें कोमलता, दृढ़ता, सौन्दर्य सब-कुछ

है, पर उसे देखने के लिए आँख चाहिए। और ऐसा भी नहीं कि इसे किसी ने देखा नहीं है। नगर के जीवन पर लिखी गई बहुत-सी नयी कहानियों में ये विशेषताएँ उभरकर सामने आयी हैं। कौन कहता है कि अमृतराय, हरिशंकर परसाई ने शहरी जीवन के खोखलेपन पर करारा व्यंग नहीं किया? कौन कहता है कि कृष्णा सोबती, निर्मल वर्मा की कहानियों में कोमलता और सौन्दर्य उभरकर नहीं आ रहा है? कौन कहता है कि यशपाल, अश्क, अज्ञेय की कहानियों की अच्छाइयाँ नादैद हो गई हैं? 'कठघरे', 'धरती अब भी घूम रही है', 'राग-विराग', 'गुलकी बन्नो', 'मलवे का मालिक', 'बादलों के घेरे', 'जिन्दगी और जोंक', 'ददवू', 'देवा की माँ' आदि कहानियों को कौन व्यक्ति जातीय साहित्य की निधियाँ मानने को तैयार न होगा? इसलिए सवाल नगर और ग्राम-कथा के श्रेणीबद्ध बँटवारे का नहीं है, सवाल जिन्दगी को सही देखने और उसे व्यक्त करने का है। इसीलिए तथाकथित नगर-कथाकारों को, जो गले में ढोल बाँधकर हल्ला मचा रहे हैं कि ग्राम-कथा के प्रति किये गए पक्षपात के कारण नगर-कथा खतरे में है, मैं आश्वस्त करते हुए कहना चाहता हूँ कि उन्हें खतरा ग्राम-कथा से क़तई नहीं है, खतरा उन्हें दूसरी ओर से है और दुहरा है। यदि उनकी चीज़ें वर्णन की तमाम बारीकियों (इम्प्लिसिट) के बावजूद कथ्य में भोंडी, अभारतीय, सेक्सी तथा सस्ताट (इक्सप्लिसिट) होती रहीं, तो उन्हें खतरा फिल्मी कहानियों और रेलवे बुकस्टाल की अर्धनग्न नारी-कवर वाली पत्रिकाओं की थोक कहानियों से है और दूसरी ओर निर्मल वर्मा और सोबती-जैसे लेखकों से है, जो प्रेम-औदास्य वाली उनकी थीम को ज्यादा स्वस्थ और कलात्मक रूप देने की मूक साधना कर रहे हैं।

ग्राम-कथा कोई आकस्मिक वस्तु नहीं है, और न तो यह अस्थायी कथा-प्रवृत्ति का परिणाम है। गाँवों की दशा बदल रही है और निरन्तर शिक्षा का प्रसार बढ़ रहा है, इसलिए यह आशा करना निराधार नहीं है कि भविष्य में इस प्रकार का साहित्य लिखनेवालों की संख्या निरन्तर बढ़ती जायेगी। 'ग्राम-कथा' और 'आंचलिक' दोनों ही शब्द इस तरह की कहानियों के लिए प्रयुक्त किये जा रहे हैं, किन्तु मेरी दृष्टि से यह ठीक नहीं है। ग्राम-कथा ज्यादा व्यापक और उपयुक्त शब्द है। आंचलिकता एक प्रवृत्ति मात्र है, ग्राम-कथाएँ सभी आंचलिक नहीं होंगी। आंचलिकता का प्रभाव हिन्दी-कहानी में पिछले पाँच वर्षों की देन है। १९५०-५१ के आसपास से ग्राम-कथा के आधुनिक रूप का आरम्भ हुआ। नागार्जुन के 'बलचनमा', भैरवप्रसाद के 'गंगामैया' और १९५१ के १९५१ के 'प्रतीक' में प्रकाशित मेरी कहानियों में इस प्रकार की प्रवृत्ति की शुरुआत हुई। इन रचनाओं को देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि इनमें आंचलिकता का प्रभाव कम-से-कम था। 'बलचनमा' तक में लोक-तत्त्वों (फोक एलीमेंट) के प्रयोग की अधिकता नहीं दिखायी पड़ती। आंचलिक वे ही कहानियाँ कही जा सकती हैं जो किसी जनपद के

जीवन, रहन-सहन, भाषा-मुहावरे, रूढ़ियों-अन्धविश्वासों, पर्व-उत्सव, लोक-जीवन, गीत-नृत्य आदि को चित्रित करना ही अपना मुख्य उद्देश्य मानें। आंचलिक तत्त्व ही उनके साध्य होते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी-कहानी में आंचलिक प्रवृत्तियाँ बाद की रचनाओं में दिखायी पड़ने लगीं। खास तौर से रेणु के 'मैला आंचल' के बाद इनका प्रभाव बढ़ा। इसीलिए पूरी ग्राम-कथा को आंचलिक कहना उचित नहीं है, कम-से-कम मैं अपनी कहानियों को आंचलिक कहानी कहना पसन्द नहीं करता। उसमें आंचलिक तत्त्व अथवा लोकल कलर केवल साधन है, साध्य नहीं। आंचलिक शब्द का आज इतना हल्ला है कि कोई भी लेखक गाँव के किसी खण्ड-चित्र को उपस्थित करके तथा गँवई बोली से वार्तालाप को भर कर अपने को आंचलिक कथाकार घोषित कर देता है। यह आंचलिकता एक स्वस्थ प्रवृत्ति है, *इसमें शक नहीं, किन्तु ऊपरी चाकचिक्य और सतह के आकर्षक वर्णनों में मानवीय* संवेदना के तत्त्व प्रायः खो जाते हैं। जीवन एक ऊपरी स्तर का खण्ड-चित्र बनकर रह जाता है। इस तरह की स्केची और जीवनशून्य कहानियाँ ग्राम-कथा की सबसे बड़ी कमज़ोरी है। ऐसे ग्राम-कथाकार प्रायः आंचलिकता की चादर में अपनी दुर्बलता छिपाने की कोशिश करते हैं। ग्राम-कथा में जीवन की प्रधानता होनी *चाहिए, हमारी कहानियों में यदि गाँवों के जीवन की गहराई, यथार्थ और मानवता* उभरकर आती है, तो ये कहानियाँ चाहे आंचलिक हों, अथवा न हों, वे किसी भी उत्तम कहानी से तुलनीय हो सकती हैं। यह याद रखना चाहिए कि संसार में कोई भी कथा-कृति इसलिए श्रेष्ठ कभी नहीं मानी गई कि उसमें आंचलिकता का गुण था। इसलिए आंचलिकता की पुकार कहीं हमारी कमज़ोरियों का आवरण तो नहीं बन रही है, इसके प्रति भी सावधान रहने की ज़रूरत है। *आज की ग्राम-कथा की इसी ऊपरी मनोवृत्ति में उलझकर अमृतराय ने गुस्से में पूरी ग्राम-कथा को 'फैशन', नास्टैलजिया' जैसे विशेषणों से अलंकृत कर दिया है। ज़रूर अमृत को किसी बात से ठेस लगी है, अन्यथा ४७-४८ में प्रकाशित निगुण की आदर्शवादी, प्राचीन ग्राम-शैली की 'गँवई-गाँव की कहानियाँ' की प्रशंसा करनेवाले अमृत आज ग्राम-कथा मात्र से नाराज़ क्यों होते ?*

(आंचलिकता के अतिरेक के अलावा ग्राम-कथा के दो-एक खतरे और भी हमारी पर रहे हैं। यदि ग्राम-कथा के लेखक के संस्कार परिष्कृत न हुए, यदि उसकी दृष्टि ऊपरी ढाँचे को तोड़कर जीवन-मर्म को छूनेवाली न हुई, तो वह [illegible] अतीतोन्मुखी प्रभाव ले आने के लिए कुछ अन्धविश्वासों की शरण भी ले सकता है, अथवा ऐसे चरित्रों को प्रकट करता है, जो ग्राम के ग्रामीण जीवन से ही दिलचस्पी पड़ने) अन्धविश्वास ऊपर से देखने में बड़े आकर्षक और मोहक होते , इसलिए इनके प्रति लेखक स्वाभाविक हो जाता है। मेरी कहानी 'बरगद का [illegible]' और 'मँगरू' में यह दोष दिखायी पड़ता है, हालांकि वहाँ लेखक अन्धविश्वास

की नही होती, पर दोष तो है ही। यह दोष मार्कण्डेय की कई कहानियों मे आ गया है। ओंकारनाथ की 'नागपूजा' मे भी यह दोष है। दूसरी कमजोरी ग्राम-कथा की कई कहानियों मे दिखायी पडती है। 'शव-साधना' करनेवाले बाबाजी या 'ब्रह्म-शक्ति' लगानेवाले मिथ्या तान्त्रिक ग्राम-जीवन मे यदि आ रहे हो, तो इसे हम लेखकों की सामाजिक चेतना या जागरूकता तो नही मान सकते ! ग्राम-कथा की तीसरी त्रुटि उन कहानियों में दिखायी पडती है जिनमे केवल राजनीतिक चश्मे से जीवन को देखा गया है और राजनीतिक नारे उसी तरह सुनायी पडते है, जैसे एलेक्शन के दिनो मे सात-आठ साल के गँवई लडके सभी नारे रटकर अपने को राजनीति के नेता मान लेते हैं। हर्षनाथ की सभी कहानियो और मार्कण्डेय की एकाध कहानियों में यह त्रुटि उभरकर सामने आती है। किन्तु ग्राम-कथा यही तक सीमित नही है। उसने हिन्दी-कहानी की पूरी आत्मा बदल दी है। उसने कुछ ऐसा दिया है जो पहले की हिन्दी-कहानी मे नही था। उसने सच्चे, समर्थ, शक्तिशाली, निर्बल और दुःखी, पर आत्मावान् चरित्रों की एक ऐसी पंक्ति खडी की है जिनकी मानवता के सम्मुख, गुहा-गह्वर के खण्डित नागरिक व्यक्तित्व के 'कोउ मुखहीन विपुल मुख काऊ' वाले हजारो चरित्र फीके और प्रभावहीन दिखायी पडने हैं। 'दादी माँ', 'देऊ दादा', 'गुलरा के बाबा', 'लँगड़े चाचा', 'काल सुन्दरी', 'घुरहुआ', 'बोधन तिवारी', 'हसा', 'कोसी का घटवार' की 'लछमा', 'गदल' और 'फूल' जैसे चरित्र हमारे जातीय साहित्य के गौरव हैं। इन चरित्रों के विषय मे एक शका प्राय उठायी जाती है। बुआ, दादा, दादी, बाबा, चाचा के चरित्र क्लाइमेक्स पर पहुँचकर कुछ ऐसा टर्न लेते हैं कि सामान्य पाठक को झटका लगता है। झटका असल मे उन्हे लगता है जो इस प्रकार के पारस्परिक जीवन को नही जानते। गाँव के चरित्र अपने बाहरी रूप-आकार मे जितने दृढ हैं, मन से उतने ही कोमल भी। इसलिए जीवन मे विभिन्न परिस्थितियो में उनके द्वारा ऐसे कार्य प्राय. होते रहते हैं, जिन्हें हम शहरो मे बैठकर असम्भव कह देते हैं। हाँ, यह सत्य है कि कभी-कभी 'थ्रिल' का मोह ऐसे चरित्रों को एक अस्वाभाविक परिणति की ओर ले जाता है। 'गदल' और 'फूल' जैसी अच्छी कहानियो मे भी यह दोष आ गया है।

(ग्राम-कथा की एक बहुत विशिष्ट देन कबीले या उपेक्षित जन-समूह के जीवन का चित्रण भी है। कजड़, नट, मुसहर, मिरासी, हिजड़े, रमन्नू ननंक, भील, कलावे आदि यायावरीय और पिछड़ी हुई उपेक्षित जातियो के जीवन का अध्ययन आदिम और आधुनिक सस्कारो तथा परिवर्तनों को समझने में बहुत सहायक होता है। इस दिशा मे हिन्दी कहानी मे अभी उस प्रकार का उत्साह नहीं है जैसा होना चाहिए। 'आर-पार की माला', 'सँपेरा', 'पापजीवी', 'बिन्दा महराज' में मैंने ऐसा प्रयत्न किया है। जयसिंह की भी कुछ कहानियाँ नट्टिनों और कलावों के जीवन पर आधारित हैं। विदापत नाचनेवाले नर्तकों के जीवन पर रेणु ने अपनी प्रसिद्ध

कहानी 'रस-प्रिया' लिखी थी। बँगला, मराठी तथा अन्य भाषाओं में इस प्रकार की कहानियों का काफ़ी विकास हो रहा है। समरेश बसु (नदी-गुफा) तथा माडगूलकर (बनगरवाडी) आदि लेखकों में यही विशेषता पायी जाती है। इस प्रकार के अछूते और उपेक्षित जीवन पर अब उपन्यास भी लिखे जाने लगे हैं; परन्तु यह बड़ा व्यापक और उर्वर क्षेत्र है और इस तरफ़ ग्राम-कथाकारों का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए।

ग्राम-कथा ने हमारी कहानी को धरती से इतना समन्वित कर दिया है कि हम उसमें हर क्षण उन्मुक्त प्रकृति और सहज जीवन का स्पन्दन सुन सकते हैं। इस छोटे-से समय में मुट्ठी-भर कहानी-लेखकों ने पर्वत-प्रदेश से मिथिला की अमराइयों तक की धरती को जो नया रूप और जीवन प्रदान किया है, वह किसी भी कथा-साहित्य के लिए गर्व की वस्तु हो सकती है। किसानों के सुख-दुःख में यह धरती हँसती और रोती है। पशु-पक्षी के प्रति ग्रामीण जन का स्नेह और ममता का अद्भुत सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध में पारिवारिक स्निग्धता और स्वस्थता होती है। 'सँवरइयाँ', 'भैंस का कट्टया', 'चितकबरी' आदि कहानियों में यही जीवन उभरकर सामने आता है। प्रकृति का यह रूप-वर्णन कभी रोमांटिक हो जाता हो, कभी फ़ैशन बन जाये, कभी निरर्थक सजावट का ही काम दे, प्रकृति का सजीव चित्रण अपने में खुद एक बड़ी उपलब्धि है। रोमांटिक चित्रण भी बुरे नहीं होते। प्रेम और रोमांस का सहज किन्तु संवेदनीय रूप क्या 'सूने अँगन रस बरसै', 'महुए के फूल', 'कोयला भई न राख' जैसी कहानियों में नहीं झलकता?

मैं यह मानता हूँ कि ग्राम-कथा को अभी कई मंज़िलें पार करनी हैं। उसमें गाँव के जीवन के बुरे-भले सभी पक्ष उभरकर नहीं आये हैं, जीवन की गहराई अपने पूरे आयाम के साथ चित्रित नहीं हो सकी है। बहुत-से कथाकार उसके ऊपरी रूप में ही उलझकर रह गए हैं; कई ऐसे हैं, जो ग्राम-जीवन में अनावश्यक और 'आउटमोडेड थीम' पर लिख रहे हैं; कुछ ऐसी भी कहानियाँ हैं जो बचकानी हैं। पर एक बात सत्य है कि ये भारतीय कहानियाँ हैं, भारतीय साहित्य में इनका महत्त्व है, इनमें धरती का अपनापन है, इनका रास्ता निश्चित और दिशा सही है, तो एक दिन गहराई भी आयेगी, शक्ति और क्षमता भी दिखायी पड़ेगी।

कहानी के शैली-शिल्प को लेकर आज जितनी चर्चा हो रही है, और उसके लपेट में जिस प्रकार अन्वेषण, प्रयोग, नयी संवेदना, सांकेतिकता, सम्प्रेषणीयता, जटिलता, दुरूहता, बिम्ब, प्रतीक वग़ैरा की बात कही जा रही है, यह निःसन्देह कहानी-लेखकों की शिल्प-जागरूकता ही का प्रभाव है। परन्तु शिल्प की ये सारी चर्चाएँ इतने उलझे रूप में प्रस्तुत करने की बहुत ज़िम्मेदारी आलोचकों की भी कही जा सकती है। एकाध लेखकों को छोड़कर शायद ही कोई हिन्दी-कहानीकार अपने शिल्प-कौशल का नारा लगाता हो। और जो नारा लगानेवाले हैं, उनमें भी

नकलची टेक्नीशियन ही ज्यादा हैं। शिल्प-कौशल की ओर ध्यान आकृष्ट करना गुनाह नहीं है, पर यह गुनाह इसलिए हो गया है कि एकाध कहानीकार तिलिस्मी दुनिया से लेकर मध्यकालीन रानी-राजा की दुनिया से सड़ा-गला कूड़ा बटोरकर उसे विरल और अलभ्य चीज़ों की दूकान की पट्टी के नीचे सजाने लगे हैं। राजेन्द्र यादव शिल्प के ऐसे ही पारखी हैं, जिनकी दूकान में हर अजीबो-ग़रीब माल बड़ी आसानी से मिल जाता है। असल में उनका उत्साह 'अकबरी लोटे' वाले अंग्रेज़ की टक्कर का है और उनकी परख का क्या कहना ! दुहरी कहानियों की शैली कोई नयी चीज़ नहीं है। यह उतनी ही पुरानी है, जितनी फ्रांसिस विवेन की 'दी वाटेड टू फॉल' है। पर इधर उन्होंने 'बरगद का पेड़' और 'राजा निरवंसिया' के बारे में लिखा है कि 'राजा निरवंसिया' में और उनकी पूर्वज कहानी 'बरगद का पेड़' में यह दोष है कि दोनों को पुरानी कहानी, 'दादी कहा करती थीं' से शुरू करना पड़ता है। दो नयी और पुरानी कहानियाँ जब तत्कालीन भिन्न-भिन्न वातावरणों के तुलनात्मक चित्रण के लिए जोड़ी जायेंगी, तो पुरानी कहानी हर हालत में 'दादी या दादा' से शुरू होगी। अचम्भा तो यह है कि वे अपनी 'खेल-खिलौने' कहानी को इस शैली की सर्वश्रेष्ठ कहानी बताते हैं...अब राजेन्द्र यादव को कौन बताये कि दुहरे प्लाटवाली कहानी की शैली में 'रूपात्मक प्रतीक' की शैली भिन्न होती है। 'खेल-खिलौने' में दो कहानियाँ नहीं हैं, बुद्ध की मूर्ति एक सांकेतिक प्रतीक-मात्र है। अपनी बुरी चीज़ को अच्छी और दूसरे की अच्छी चीज़ को 'खाद चाम' कहना तो राजेन्द्र यादव की आदत है और वे उससे लाचार हैं। आजकल शैली और उसमें प्रयुक्त बिम्बों-प्रतीकों आदि पर जैसा अध्ययन चल रहा है, इसका पता ऊपर की मिसाल से लग जाता है। कहानी की शैली भी उसकी वस्तु के साथ-ही-साथ विकसित हुई है। उलझी हुई भावनाओं को व्यक्त करने के लिए अभिव्यक्ति को निरन्तर सशक्त बनाने का कार्य भी आज के कहानीकारों ने किया है। यह विषय एक स्वतन्त्र निबन्ध की अपेक्षा रखता है, यहाँ संक्षेप में उसके साथ न्याय न हो सकेगा, इसलिए इसे अधूरा ही छोड़ रहा हूँ।

नवीनता और नवीनता के प्रति आसक्ति

—श्रीकांत वर्मा

नवीनता और नवीनता के प्रति आसक्ति दो अलग चीजें हैं। आसक्ति बहुत हद तक झूठ होती है। हम अपनी आसक्ति में औरों से अधिक अपने को छलते हैं। आत्म-सन्तोष—जो आत्म-वंचना का ही दूसरा नाम है—के लिए हम असल के नमूने पर एक नकली चीज तैयार करते हैं। और जिस तरह प्रेम और रोमांटिसिज्म के अन्तर को समझ सकने में असमर्थ हर रोमांटिक आदमी यह विश्वास करना चाहता है कि उसका रोमांटिसिज्म ही प्रेम है, उसी तरह नवीनता के प्रति रोमांटिक रुख अपनाकर चलने वाले कलाकार अपने-आपको यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि नवीनता के प्रति उनकी आसक्ति ही नवीनता है। लेकिन हर रोमांटिक जानता है कि उसके प्रेम मे कहीं-न-कहीं कोई छल है। इस कारण वह अपने-आपको दो बार छलता है। नवीनता के प्रति आसक्त कलाकार भी स्वयं को दो बार छलता है।

मगर यह जरूरी नही कि अपने-आपमे छल करने वाला हर आदमी बुरा हो। मनुष्य स्वयं से इसलिए भी छल कर सकता है कि उसकी नीयत अच्छी थी, मगर उसकी जड़ें गहरी न थी। और वह अपनी नीयत को ही अपनी जड समझता था।

मैं ऐसे लोगों को बुनियादी तौर पर कमजोर मगर 'अच्छा' मानता हू। अपने आपको जरा भी धोखा दिये बिना सारी मनुष्यता को झांसा देने वाले लोगों की तुलना में वे और भी अच्छे है। और अगर वे स्वयं से छल करते हैं तो क्या यह स्वयं इस बात का प्रमाण नही कि—चाहे छल के लिए ही सही—उनके पास कम-से-कम 'स्व' तो था।

इस प्रकार की मन.स्थिति ही नही, इस प्रकार की रचना-प्रक्रिया भी हो सकती और इस प्रकार के 'अच्छे' लोग ही नही, इस प्रकार की 'अच्छी' कहानियाँ भी हो सकती हैं।

(हिन्दी की जो कहानी आज 'नयी' मानी जा रही है, वह भी दरअसल इसी प्रकार के आत्मछल मे पैदा हुई है। यह भी एक संयोग ही नही है कि हिन्दी-कहानी अपने नयेपन का जरूरत से ज्यादा शोर कर रही है। वह, असल में आपको नही, अपने-आपको विश्वास दिलाना चाहती है कि वह सचमुच ही नयी है।)

इसके पहले कि कहानी को नजर में रखते हुए नवीनता के प्रश्न पर विचार किया जाये, मैं नयी कहानी की इस बहस से उत्पन्न कुछ असगतियों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

सबसे पहले तो यह कि मुझे नयी कहानी के पक्षधरों का यह तर्क बिलकुल ही बोदा जान पड़ता है कि नयी कहानी इसलिए नयी है कि वह पुरानी कहानी नही है। एक नवयुवक कहानीकार ने तो नवीनता के नये-नये उत्साह में यहाँ तक कह दिया कि नयी कहानी के लक्षणों से भी परिचित होने की जरूरत नही। मैं नही जानता वह स्वय अपने लक्षणों से परिचित है या नही, मगर मैं यह जरूर जानता हूँ कि प्रत्येक आन्दोलन अपने लक्षणों के साथ प्रकट होता है। ये लक्षण ही चलकर उसके प्रतीक बन जाते हैं और अगर कोई लेखक ये यह कहे कि वह स्वय अपने प्रतीकों से परिचित नही तो उसे यह दावा करने का अधिकार नही कि वह उस आन्दोलन मे शरीक है।

लक्षण प्रतीक में परिणत हो सकते हैं मगर उपलब्धि लक्षण मे नहीं। नयी कहानी के मुकद्दमे की सबसे बड़ी असंगति यही है कि हिन्दी-कहानी की उपलब्धियों को नयी कहानी का लक्षण मान लिया गया। यह असगति अपने असली रूप मे नयी कहानी और भावुकता की चर्चा मे सामने आयी है।

यह समझ सकना कठिन है कि भावुकता का न होना कहानी की नवीनता का लक्षण कैसे है? प्रेमचन्द के समय मे पचासो कहानियां लिखी गयी थी, जिनमे भावुकता कतई नही थी और यशपाल नयी पीढी के कहानीकारो से कम भावुक कथाकार है। भावुकता का न होना सयम का प्रतीक है और सयमी कलाकार हर पीढी मे होते हैं। अगर हिन्दी की इस पीढी मे ऐसे संयमी कलाकारो की सख्या अधिक है तो इससे इस नतीजे पर पहुचना चाहिए कि हिन्दी-कहानी सयानी हो रही है, न कि यह कि हिन्दी-कहानी नयी हो गयी।

(असल मे किसी चीज को छोड़कर नही, अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को तोड़कर कोई चीज नयी होती है। जब मूल्यों मे परिवर्तन होता है, तो सबसे पहले उनके ढाँचों में परिवर्तन होता है।

प्रगतिशील आलोचक यह दावा कर सकते हैं कि हिन्दी-कहानी के ढाँचे मे मूल्यगत परिवर्तन हुआ है। बात यह है कि एक समय ऐसा आता है, जब रूढ़िवादी मार्क्सवाद फार्म को ही ईश्वर मानकर चलने लगता है। यही कारण है कि प्रकाशचन्द्र गुप्त ही क्यों, रामविलास शर्मा को भी छायावादोत्तर गीतिकाव्यों की मुक्त छन्द की कविताएँ सी नयी नजर आती थी, मगर कविता के ढाँचे मे वास्तविक क्रान्ति उपस्थित करने वाली नयी कविता उन्हें कविता प्रतीत नहीं होती थी।

मार्क्सवादी आलोचक भी यथार्थ से किस कदर पलायन कर सकता है, इसके एक नही, अनेक उदाहरण हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त का नया साहित्य वस्तु-स्थिति से

एक ऐसा ही पलायन था। कहीं ऐसा न हो कि जिस नयी कहानी की पैरवी और अपील-पर-अपील नामवरसिंह कर रहे हैं, अन्त में वह प्रकाशचन्द्र गुप्त के नये साहित्य की ही तर्कसगत परिणति साबित हो।

इसलिए इस बात पर विचार करने की आवश्यकता सबसे अधिक नामवरसिंह को है कि जिसे वह नयी कहानी कहते हैं, उसमे मूल्यगत परिवर्तन क्यों नहीं हुआ? क्यों वह अभी तक कहानी की पुरानी शर्तों को मानकर चल रही है? और क्यों उसका व्यावसायिक मूल्य इतना अधिक है, जबकि हर काल और हर देश मे कलागत नवीनता व्यवसाय के लिए सांघातिक सिद्ध हुई है?

नयी कहानी के प्रवक्ताओ को नयी कहानी की चर्चा छेड़ने के पहले बुनियादी प्रश्न पर विचार करना चाहिए था कि नवीनता स्ट्रक्चर है या सुपरस्ट्रक्चर?

देहात के आदमी के लिए मोटरकार एक नयी चीज हो सकती है, कस्बे के लिए हवाई जहाज और पिछड़े हुए देशों के लिए राकेट। मगर साहित्य और कला में नवीनता का ऐसा कोई फ़ार्मूला नही होता। अगर ऐसा न होता तो वैज्ञानिक कहानियाँ ही सबसे नयी कहानियाँ मानी जाती और अन्तरिक्ष पर भी पुस्तक लिखने का हौसला रखने वाला व्यावसायिक कथाकार सबसे नया कहानीकार।

कहानी 'ज्ञान-कोष' नही है। कहानी का सम्बन्ध अनुभव से है और चरित्र कहानीकार के अनुभव का ही प्रतिबिम्ब है। अपने चरित्र का उद्घाटन करता हुआ लेखक अपने अनुभव का ही उद्घाटन करता है।

जिस भाषा या साहित्य की सम्वेदना मरने लगती है, उसके पास कुछ भी नया अनुभव करने की शक्ति नहीं होती इसीलिए उसके पास इने-गिने चरित्र होते हैं, जिन्हें वह हेर फेरकर पेश करता है।

किसी भी चीज का गठन गतिशील तत्त्वों से होता है। कहानी की गति और कहानी की नियति, कहानी का चरित्र है। चरित्र का गठन ही, वास्तव में, कहानी गठन है। चरित्र और चरित्र-रचना के मूल्यों में परिवर्तन ही कहानी की भाषा में परिवर्तन उत्पन्न करता है। अगर हमें हिन्दी-कहानी की भाषा बासी जान पड़ती है, तो इसका कारण यही है कि उसके चरित्र बासी हैं।

अनुभव खुद में एक जटिल वस्तु है मगर हर अनुभव अपने-आपको व्यक्त करता है, चाहे कितने ही उलझे हुए ढंग से व्यक्त करे। यहाँ तक कि शरीर भी अपने स्वर को व्यक्त करता है। जो व्यक्त नहीं हो सकता वह अनुभव नहीं है, कल्पित है।

हर अनुभव के पीछे एक समाज छिपा हुआ है! इस समाज की उपयोगिता राजनीतिज्ञों और समाजशास्त्रियों के लिए होगी, मगर लेखक के लिए उपयोगी वह समाज नहीं, वह अनुभव है। वह अपने अनुभव को चरित्र या बिम्ब के रूप में

रचकर अपने अनुभव के पीछे छिपे संसार की अभिनव सृष्टि कर डालता है या कहा जा सकता है कि संसार लेखक के अनुभव और रचना की प्रक्रिया में पड़कर एक दूसरा ही संसार होकर निकलता है।

यह कहना गलत होगा कि हिन्दी के अधिकांश कहानीकारों को कोई नया अनुभव नहीं हो रहा है, ज्यादा सही यह कहना होगा कि उन्हें कुछ अनुभव ही नहीं हो रहा है। उनकी रचना-प्रक्रिया में पड़कर संसार वैसा ही निकलता है, जैसा कि पहले था, चरित्र वैसे ही निकलते हैं, जैसे कि थे।

जो लेखक इन्द्रिय-संसार की प्रतिक्रियाओं को ही अनुभव और पात्र को चरित्र समझते हों, उनसे और और आशा ही क्या की जा सकती है!

साधारणीकरण के नाम पर अपने स्टॉक-चरित्रों और स्टॉक-स्थितियों का व्यापार करनेवाला लेखक भी अपनी दयनीय और हास्यास्पद स्थिति पर पर्दा नहीं डाल सकता है। मगर जिस भाषा की प्रेम-कहानियों में प्रेम का चरम अनुभव अभी आँख-से-आँख मिलाना माना जाता हो, उसके कहानीकार अगर अपने पाठकों से आँख-से-आँख मिलाकर सतही भावों का आदान-प्रदान कर रहे हों, तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं।

सच्चाई यह है कि समकालीन साहित्य अनुभव का, साधारणीकरण नहीं, विशेषीकरण है।

कोई भी अनुभव विशेष और विशेष से अधिक नया तभी होता है, जब लेखक के पास कोई नयी व्याख्या हो। असल में यथार्थ की व्याख्या से जो प्राप्त होता है, एक बुद्धिजीवी के लिए संग्रहणीय अनुभव वही होता है।

जाँ पाल सार्त्र की कहानी 'इंटीमेसी' के प्रकाशन के पहले ही हर भाषा में पुंसत्वहीन पुरुष को लेकर न जाने कितनी कहानियाँ लिखी गई होंगी। अगर सार्त्र की कहानी से भी उसकी अर्थवत्ता, उसका अस्तित्ववादी अर्थगाम्भीर्य हटा दिया जाता, तो वह भी एक मामूली कहानी होकर रह जाती और उसका आशय केवल इतना रह जाता कि लुलू नामक एक बेबस स्त्री एक नपुंसक पुरुष के पल्ले पड़ जाती है और वह सती उसके साथ खुशी-खुशी जीवन व्यतीत करना स्वीकार कर लेती है। मगर तब वह सार्त्र की न होकर, हिन्दी की कहानी होती और हिन्दी-आलोचना का काम भी तब आसान होता।

मगर सार्त्र की उसी एक कहानी में ऐसा क्या था जिसने समूचे पश्चिमी साहित्य के मूल्यों को झकझोर दिया?

बात यह है कि वह लुलू ही नहीं थी, बल्कि समूची सभ्यता थी जो अपने सुख अतीत के रस में पगी लेटी हुई थी और अपनी स्वाधीनता को पहचानकर भी मुक्त होने में असमर्थ थी। सरकार आत्म-निर्णय की शक्ति में बाधा था।

सार्त्र की रचनाओं से जितनी क्षति पिटी हुई जीवन-दृष्टि और परम्परागत

नैतिक मूल्यों को पहुँची, उससे अधिक क्षति कहानी के परम्परागत मुल्य
काफ्का की कहानियों से पहुँची।

ऊपरी ढांचे को ही नज़र में रखने वाले पाठकों को नथालिया सरात
नोवोकोव की कृतियाँ केवल केस-हिस्ट्री नज़र आयेंगी। मगर वे केस-हिस्ट्री
शक्ल में कहानियाँ हैं। अगर कला की परख से वंचित पाठक यह सोच सक
असमर्थ है कि केस-हिस्ट्री भी कहानी का एक फ़ार्म हो सकती है, तो यह कह
कारों का दोष नहीं।

अगर कहानी का ढांचा बार-बार और इतनी तेज़ी के साथ टूट-टूटकर ब
रहा है, तो इसका कारण यही है कि कलाकार का अनुभव कलाकार से बड़ा ह
है। कलाकार का कोई ईश्वर नहीं होता। कलाकार का ईश्वर उसका अनु
होता है, जिसे प्रतिष्ठित करने के लिए वह उसके अनुरूप मन्दिर की रचना क
है।

हिन्दी-कहानी से मुझे यह शिकायत नहीं कि वह नयी क्यों है, बल्कि यह
कि वह नयी क्यों नहीं है।

[नयी कहानियाँ : ११६

गठन
परिवर्तन उ
तो इसका
व लु
तो
तो
र व
ना
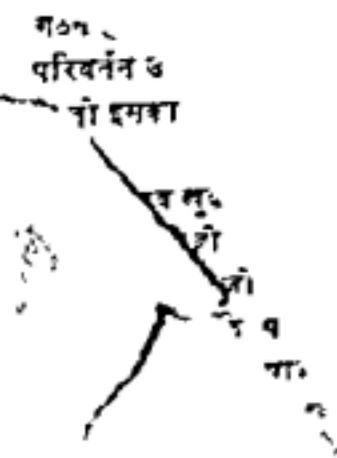
वास्तविक नयी कहानियों के पाठ से शुरुआत

श्रीराम तिवारी

हमारी चर्चा की शुरुआत इस बिन्दु से होनी ही नही चाहिए कि जो नयी कहानी है वही अच्छी है—देखना यह है कि जो अच्छी कहानी नही है वह नयी कहानी है कि नहीं। वस्तुतः आज की नयी कहानियाँ अर्थात् नये सिचुएशन की कहानियाँ इसी स्थिति में हैं...वे नयी हैं, पर अच्छी नही हो सकी है, वे हमारे कहानी-पाठ या स्वाद के सस्कार के अनुकूल बैठती ही नहीं, इसीलिए हम उन्हे छोड़ देते हैं। जिस कहानी पर बहुतो के मत और सवेग स्थिर हो गए, वह तो अच्छी कहानी हो गयी...उसका कथामूल्य स्थिर हो गया, उसके सम्बन्ध मे हमारी पाठ-प्रक्रिया पूर्वग्रस्त हो गई। वह कहानी न नयी रही, न पुरानी, वह मात्र हमारे लिए महत्त्वपूर्ण ढंग से 'अच्छी' बन कर रह गई। ऐसी ही अच्छी कहानियों के फेर में कहीं-न-कहीं हमारी नयी कहानियाँ दब गई हैं...नामवरसिंह की कहानी-चर्चा की यही एकमात्र नयी दिशा है जिसकी ओर अन्ततः उन्हे सकेत करना है।

नयी कहानियाँ कौन लिखता है? नयी कहानियाँ वही लिखता है जिसके सामने कहानी के माध्यम से मानवीय और सामाजिक सम्बन्धो के अब तक के व्यक्त रूपो और स्तरो की हर 'धारणा' साफ होती है और जो कहानी लिखने के बहाने सुपर-फ्लुअस सृजन से इन्ही पूर्व-व्यक्त सम्बन्धो को दुहराने का काम नही करता, बल्कि आगे बढकर नये, अव्यक्त, सम्भाव्य सम्बन्धो को स्थिर और व्यक्त करता है। यह कार्य-सुविधा केवल अगली पक्ति (फट लाइन) के कहानी-लेखको को ही आसानी से है, उनके सामने पहले का तटस्थ और सुथरा अध्ययन होना है और वे संभावनायुक्त होते हैं। हमारे लिए यह जरूरी है कि हम नयी और अच्छी कहानियों की चर्चा में ऐसे लेखकों और उनकी कहानियों को सामने लायें। मेरी दृष्टि में हमारी पाठ-प्रक्रिया इन्ही कहानी-लेखको की कहानियो से शुरू होनी चाहिए। इस अर्थ में जाहिरा तौर पर नयी कहानियों की स्थापना और खोज एक एवैलुएटिव प्रोसेस है, जो हमेशा अगली पक्ति के कहानीकारों से शुरू होता है और जो एक ही साथ ट्रीटमेंट, युग-बोध, कला-बोध, सामाजिक सम्बन्धो की दिशा, जीवन-स्थिति, प्रतिभा के अध्यवसाय (सेंस ऑफ जीनियस), विचार और कथा-

लेखन की अनेक समस्याओं को छूता और उजागर क
नयी कहानियाँ लिखी गयी हैं। इन नयी कहानि
लागू हैं। आज की नयी कहानी में कहानी एक 'सौशि
आर्ट बन गयी है...नयी कहानियाँ लिखना आज एक मा
है ! कहानी का समूचा 'ट्रीटमेंट' ही नयी कहानी में
भी अतिरंजित और अयुक्त बात से नयी कहानी बचती है
संगठन में नयी कहानी प्रतिभा के अध्यवसाय को झेल
है। नयी कहानी के स्थापत्य में कहानी-लेखक ठोस, क
द्वारा कहानी को अन्तिम रूप देता है। दो क्रियाओं या
स्थिति को नया कहानीकार भोगकर लिखता है, उसे
नहीं। कहानी के सम्पूर्ण प्रभाव की दृष्टि से नयी कह
या निष्कर्ष पर नहीं पहुँचाती, वह हम पर छोड़ देती है
का उपचार या उपयोग अपने मुताबिक करें। नया कहा
हर 'सिचुएशन' में अपने को डालकर लिखता है, वह
(सेनसोरियम) की एक बार अकेले पूरी सतर्क यात्रा क
पाठक के लिए उसे कहीं अपनी सुविधानुसार कहानी में
है कि वह 'क्लाइमेक्स' के बनावटी चित्रण द्वारा लाया
पढ़ लेने पर सम्पूर्ण प्रभाव में झलक जाये। नयी कहानी
हर अंश सार्थक नहीं लगता, कोई एक अंश सार्थक मिल ज
देखने या आगे देखने पर हर असार्थक लगनेवाले अंश क
है। नयी कहानी की भाषा 'अंडर-स्टेटमेंट' की भाषा है,
बनती, पूरे 'सिचुएशन' को एकसाथ देखने से बनती है।
कहें तो नयी कहानी वहाँ से शुरू होती है जहाँ से चेखव और
शुरू होती हैं। पूरे नवलेखन के साथ इन लेखकों की साधना

नयी कहानी की चर्चा चली तो एक बात 'संवेदन' औ
परिवार के मूल्य-फलक से। श्री नामवरसिंह ने एक ही
विन्यासों में सही भाँपा कि 'परिन्दे' में अकेलेपन की एक
विवेकयुक्त पकड़ है, ('अकेलापन' आज के जीवन के सारभू
में प्रतिफलित है) जब कि 'एक दिलचस्प कहानी' में भावुकता
के उन्माद में एकाकीपन के सवेग-जैसा कुछ शायद है। इस
'दर्शन कहानी' से आगे बढ़कर एक नयी कहानी है, हम इ
देखते हैं, इसमें हमारी रिपीटीटिव मोनोटोनी का उद्भास

की उपलब्धि की दृष्टि से असामाजिकता, अभारतीयता के दमघोंटू आरोप थोथी बकवास हैं। यहाँ तक हम नामवरसिंह की मूल्यपरकता को 'डिफेंड' करते हैं। पर वे क्या इसी प्रकार के आज व्यापक जीवन के मूल्य-दर्शन से युक्त कुछ नवीनतम, वस्तुतः नयी कहानियों से कतरा नहीं रहे हैं? बिलकुल भिन्न और अपूर्व चिन्तन-धरातल पर रची हुई निर्मल वर्मा की 'जलती भाड़ी' कहानी-जैसी कहानियों में नयी कहानी की वास्तविक स्थापना के सहयोगी और सच्चे प्रयास को नजरन्दाज नहीं कर रहे हैं? इन कहानियों को वे नयी कहानी की असल चर्चा के साथ जोड सकते थे, इनके रहते 'वापसी' की चर्चा क्या सचमुच एक 'कंट्रैडिक्शन' नहीं है, जिसमें मई-अंक की 'नयी कहानियाँ' के परिसंवाद में भाग लेनेवाले सभी लोग बिना असली पूंजी की पहचान के उलझ गए हैं। क्या यह मानना और स्थापित करना विरोधाभासजनक नहीं है कि एक ही वस्तु अच्छी और नयी दोनों है? मैं यहाँ 'कंट्रैडिक्शन' के इन आरोपों को हलके लगाता हूँ, और नियमत, कृत्रिमता से उसकी जाँच करता हूँ। प्रमुख बात यह है कि हम पता लगायें कि इस पूरे विवाद में कौन-से प्रपोजिशन्स हैं जो विरोधाभास से मुक्त हैं। यहीं पर नामवरसिंह के कथन में सचाई है कि हमें तो अभी अपने विचारों और कथा और कथा-लेखन की सम्पूर्ण समस्याओं को कहानियों की पाठ-प्रक्रिया द्वारा पोंछ करना और 'धूमिल दृष्टि' को साफ करना है। इसके लिए वह आमन्त्रण करते हैं कहानियों की पाठ-प्रक्रिया में शामिल होने की माँग पहले करते हैं, उसके बाद ही किसी प्रयोजन या सिद्धान्त-स्थापन को स्वीकार करते हैं।

[नयी कहानियां : १९६२]

प्रेम-कहानियाँ : परिचय के मध्य अपरिचय

—देवीशंकर अ

प्रेम एक विडम्बना है—इसे 'यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता' के
हरि भले मान लें, पर लहनासिंह, चम्पा या मधूलिका कैसे स्वीकार कर सक
वे उसके लिए गोलियों से शरीर छिदवा लेंगे; आजीवन कुमारी रहकर आ
दीप जलाती रहेगी और कर्त्तव्य को पूरा करने के बाद प्रेम के लिए प्राणदण्ड
लेगी। तनिक सूक्ष्मता से पड़ताल कीजिये : इस प्रेम के बाधक कौन हैं ? समाज-
लहनासिंह से पूछे बग़ैर उसकी किशोरी प्रिया को किसी और का सालू ओढ़ा
है; पिता (मानो परिवार) जो मर कर भी (या मरकर ही) चम्पा के मार्ग
छेंके हुए है; देश (नाना प्रकार के कर्त्तव्य) जो मधूलिका के सहेट को धरती
अपेक्षा स्वर्ग-लोग की ओर खिसका देते हैं। प्रेम के लिए इस स्थिति की यह स
परिणति है कि इन अवरोधों (या खलनायकों के) सन्दर्भ में आत्म-बलिदान
मुद्रा स्वीकारी जाये। इसीलिए प्रेम के परिभाषाकारों ने बार-बार उसे बलिद
त्याग, निःशेष समर्पण, सतत वेदना, सतत आत्मदान आदि महिमाशाली शब्दो
मण्डित किया है यही शरच्चन्द्र करते हैं और यही जयशंकर प्रसाद। पचास
होने को आये, ये लहनासिंह, देवदास और गुंडा; सालवती, पारो और मधूलि
बार-बार रूप बदलकर हमारे कथा-साहित्य में प्रकट होते आये हैं। यह बात दूस
है कि जीवन में जो रहस्य-वृत्ति कम हुई है—स्त्री-पुरुष का पारस्परिक परिचय कु
अधिक बढ़ा, उसने कभी-कभी इन प्रेमियों के पार्श्वचित्र कुछ नये रूपों में भी दिखाये
जैनेन्द्र की 'जाह्नवी' में इतनी शक्ति अवश्य आ जाती है कि वह भावी वर क
काफी ठंडे और संयत ढंग से लिख देती है, "एक अनुगता आपको विवाह द्वार
मिलनी चाहिए। वह जीवन-संगिनी भी हो। वह मैं हूं, या हो सकती हूं, इसमें
मुझे बहुत सन्देह है।...विवाह में मुझे लेंगे और स्वीकार करेंगे तो मैं अपने को
दे ही दूंगी, आपके चरणों की धूलि माथे से लगाऊँगी। आपकी कृपा मानूंगी, कृतज्ञ
होऊँगी। पर निवेदन है कि यदि आप मुझ पर से अपनी मांग उठा लेंगे, मुझे छोड़
देंगे, तो भी मैं कृतज्ञ होऊँगी। निर्णय आपके हाथ है। जो चाहे, करें।"

'जाह्नवी', का यह स्वर ठंडा भले ही हो, पर धार और शक्ति में कम नहीं है

और एक सीमा तक नया भी है। पर यह नयापन 'टोन' तक ही सीमित है। उसके बाद तो वही, 'कागा चुन-चुन खाइयो।...दो नना मत खाइयो, पीव मिलन की आस।' और 'जाह्नवी' ही नही, पति होने-होते रह गया ब्रजकिशोर भी तो इसी टोन पर मुग्ध हुआ प्रण किये बैठा है कि 'मैं और विवाह करूँगा ही नही, करूँगा तो उसी से करूँगा।' इतना ही नही, उस पत्र को वह अलहदा भी नही करता। स्वभाव मे इतना बड़ा परिवर्तन कि पहले वह विजेता बनना चाहता था, अब विनयावनत दीखता है। 'जाह्नवी' और बिरजू के ये चित्र मूलत शरच्चन्द्रीय हैं, रोमांटिक भाववाद से पीडित हैं। यह कहना क्या अनुचित होगा कि आद्य-रूपों (Prototypes) से अधिक दूर नहीं हुए हैं फिर 'जाह्नवी' ही नही 'दृष्टिदोष' के केदार और सुभद्रा, 'पूर्ववृत्त' की शान्ति और प्रशान्त, सभी वेदना के गीतों, त्रास में मुक्ति, बलिदान मे महानता का अनुभव करने वाले है। आंसुओं का प्रदर्शन यहाँ पर अवश्य कम हो गया है; स्वर मे सयति भी है और अपने बारे मे अपेक्षाकृत अधिक तटस्थ-बोध भी दीखने लगता है, पर अभी भी ये नायक-नायिकाएँ अपने प्रेम मे अपनी छाया से ही प्रेम करते हैं।

(प्रकृति की हर धड़कन मे अपने ही प्रेम तथा प्रकृति की हर छवि मे अपनी ही प्रिया की छवि निहारने वाले किशोर प्रेम को 'अज्ञेय' के पठार ने धीरज और विवेक देना चाहा है। रोमांटिक प्रेम ने वास्तविकता के विविध स्तरो की चेतना मिटा दी थी। प्रेम-जैसे सकुल मनोभाव को एव प्रेम-व्यापार की सकुल प्रक्रिया को छायावादी चेतना ने एकदम सपाट भीना आवरण बनाकर सभी पर उसी का वितान तान दिया था। 'अज्ञेय' ने जब काव्य के स्तर पर इस जाल को तोड़ा तो कथा के स्तर पर भी वास्तविकता' की पर्तों का उद्घाटन उद्दिष्ट बना। 'पठार का धीरज कहानी विश्लेषित कीजिये—यही मूल सवेदना है जो कहानी के विन्यास मे ताने-बाने-सी गुँथी हुई है। किशोर को पहले पक्षी 'प्रमीला-प्रमीला' पुकारता प्रतीत होता है और चाँदनी 'प्र' लिखती। प्रमीला को मोर की आवाज में 'किशोर-किशोर' अनगूँज सुनाई पड़ सकती थी। पर तभी पठार—जो आँधी, पानी, दीनातप, सबके प्रति समर्पित है, किसी के आस-पास छायाएँ नही गढ़ता, सबकी वास्तविकताएं देखता है—के धीरज की प्रतीक राजकुमारी आकर चेतना पर छाये धुएँ को हटाती है—अपनी कहानी कह कर, "प्यार मे अधैर्य होता है, सो वह प्रिय के आसपास एक छायाकृति गढ़ लेता है, और वह छाया ही इतनी उज्ज्वल होती है कि वही प्रेम हो जाती है, और भीतर की वास्तविकता—न जाने कब उसमे घुल जाती है, तब प्यार भी घुल जाता है।" राजकुमारी इस स्थापना मे आये 'वास्तविकता' शब्द की व्याख्या भी देती है—जो कुछ है, सभी वास्तव है। लेकिन वास्तविकता के स्तर हैं। धीरज इन एक साथ ही अनेक स्तरो की चेतना देता है, अधैर्य एक प्रकार का चेतना का धुँआ है जिसमें बोध का एक-एक स्तर मिटता जाता है और अन्त मे हमारी आँखें कड़वा

शरीर पहचान की प्रक्रिया भी शुरू हो जाती है। कोई किसी से प्यार क्यों करे ? यह सवाल लाजवाब है। प्रेम, घृणा आदि तर्क से परे रहने वाली प्रवृत्तियाँ हैं और उनकी एक सीमा तक ही सामाजिक या युगीन व्याख्या संभव है। यों स्त्री-पुरुष के प्रेम-प्रसग में किसी लैंगिक आकांक्षा का लगाव सहज भी माना जा सकता है और सहजात भी। फिर मनोविज्ञान एव मार्क्सवाद की स्थापनाओं के प्रभाव के तले यह बोध अगर विकसित हुआ हो तो आश्चर्य ही क्या ? यशपाल, 'अश्क', 'उग्र' (उर्दू के मण्टो, कृश्नचन्दर, बेदी) आदि में यही पक्ष झलक उठता है। प्रेम यहाँ प्रदान ही नहीं आदान भी है। इस स्थिति की परिणति जन्तु-तर्क मे है और सतत यात्री एव दाता की मुद्रा में रहने वाले 'अज्ञेय' ने इस जन्तुत्व की भी कहानियाँ लिखी हैं। पर ये प्रेम-कहानियाँ नही हैं; प्रेम के नाम पर किये जाने वाले फ्राकेट हैं, चाहे यशपाल द्वारा रचित हो या फिर प्रबोध कुमार द्वारा। मन मे एक आशंका और उठती है : कही ऐसा तो नही है कि शरीर के वास्तव के ज्ञान के बाद के सारे बलिदानी नायक-नायिका अधिक कमजोर, चिड़चिड़े और नपुसक हो गये हो। स्वयं 'अज्ञेय' के किशोर या प्रमीला कही पर भी तो असाधारण नहीं है। असाधारण तो वह राजकुमार था जो यह जानते ही कि राजकुमारी किसी और की वाग्दत्ता हो गयी है, उस पर आक्रमण कर देता है। पर दृष्टि को देने वाला पठार का धीरज उसे अपनी छाया से प्रेम करने वाला बताता है। पीछे कहा जा चुका है कि 'पठार का धीरज' पहली नयी प्रेम-कहानी है। तो क्या यह माना जाये कि यह जो 'एण्टी-हीरोइक' हीरो है, वही नयी प्रेम-कहानी का नायक है ?

राजेन्द्र यादव के 'छोटे-छोटे ताजमहल' के विजय और मीरा (या देव और राका) हों, रामकुमार की 'यात्रा' के वह (नायक संज्ञाहीन भी हो गया) और देवा हो, मोहन राकेश की 'एक और जिन्दगी', या कमलेश्वर की 'राजा निरबसिया' के नायक-नायिका हों अथवा श्रीकान्त वर्मा की 'परिणय' अथवा 'दूसरे के पैर' के प्रेमी-प्रेमिका हो, सभी एण्टी-हीरोइक हैं। सभी अपने में सिमटे, कुचले और नपुसक ! ज्यों-ज्यों ये एक-दूसरे से परिचित होने की कोशिश करते हैं त्यों-त्यो कुछ अधिक अपरिचित होकर एक-दूसरे के समीप से गुजरते हैं :

> हम एक-दूसरे से परिचित
> होने की कोशिश में
> कुछ अधिक अपरिचित हो
> कर गुज़र रहे हैं एक-
> दूसरे के समीप से लगातार।
> प्रत्येक सुबह मुझे लगती हो
> कुछ और अधिक अजनबी मुझे !

श्रीकान्त वर्मा की यह काव्य-उक्ति, तमाम नयी प्रेम-कहानियो मे भी विद्यमान

है । मोहन राकेश इस वाक्य-प्रसंग को ले आने के लिए क्षमा करेंगे । मैं नयी कहानी को नयी कविता के समानान्तर उसी भावभूमि से उपजा मानता हूँ—आगे-पीछे नहीं । और नयेपन में ही नहीं, छायावाद की कविता और कहानी में भी ऐसी ही सम्पृक्ति रही है । संवेदना के मूल रवे (crystals) विधाओं की स्थगन अनिवार्यताओं में ढलते हैं—बदलते नहीं । पर यह प्रसंगान्तर है ।

हम अन्तरंगता और अजनबीपन की बात कर रहे थे । पुराने छायावादी नायक या नायिका के लिए यह अजनबीपन एकदम अजनबी ही नहीं, उसकी तेज कल्पना के लिए भी अकल्पनीय था । वहाँ प्रेम का विकास परिचय की प्रगाढ़ता में था, अजनबीपन के नाश में था, अकेलेपन से मुक्ति में था । परिचय, घनिष्ठता एवं सम्मिलन की द्वैतता के बाधक तत्त्व बाहरी थे—परिवार, समाज कर्तव्य, नैतिकता आदि । उन्हें हटाकर या उनके आरोपों का मिथ्यात्व प्रमाणित करके ही वहाँ कहानी बनती थी । पर बाधक तत्त्व अब समाज नहीं रहा, नीति और कर्तव्य के अंकुश नहीं रहे । अब तो बाधक अपने ही व्यक्तित्व का एक अंश है । वही अंश खलनायक है, उसी की महिमा के नीचे बेचारा प्रेमी-अंश अप्रतिम हो दुबक जाता है ।

राजेन्द्र यादव की कहानी 'छोटे-छोटे ताजमहल' को लीजिये—शारीरिकता की पहचान है : "विजय ने एक बार फिर सशक निगाहों से इधर-उधर देखा और आगे बढ़कर उसकी दोनों कनपटियों को हथेलियों से दबाकर अपने पास खींच लिया । नहीं, मीरा ने विरोध नहीं किया, मानो वह प्रत्याशा कर रही थी कि यह क्षण आयेगा अवश्य । लेकिन पहले उसके माथे पर तीखी रेखाओं की परछाइयाँ उभरीं और फिर मुग्ध मुस्कराहट की लहरों में बदल गईं...। विजय का मन हुआ, रेगिस्तान में भटकते प्यासे की तरह दोनों हाथों से सुराही को पकड़कर इस मुस्कराहट की शराब को पागल आवेग में पीता चला जाये—पीता चला जाए...गट ···गट...और आखिर लड़खड़ा कर गिर पड़े । पतले-पतले होंठों में एक नामालूम-सी फड़कन लरज रही थी । उस रूमानी बेहोशी में भी विजय को खयाल आया कि पहले एक हाथ से मीरा का चश्मा उतार ले—टूट न जाये । तब उसने देखा, हरियाले फव्वारों-जैसे मोर-पंखियों के दो-तीन पेड़ों के पीछे पूरे-पूरे दो ताजमहल चश्मे के शीशों में उतर आये हैं...दूधिया हाथीदाँत के बने दो सफ़ेद नन्हे-नन्हे खिलौने..."

और तभी विजय को याद हो आता है (वैयक्तिक चेतना की यह आकस्मिक कौंध ध्यान देने योग्य है) कि वे महान् और विराट् अतीत की छाया में बैठे हैं । बस, फिर क्या था ! उसके व्यक्तित्व के चेतना के इस अंश के उदय होने के साथ ही, "खिंचाव वहीं थम गया । उसने बड़े बेमालूम ढंग से गहरी साँस ली और अपने हाथ हटा लिये । आहिस्ता से ।" और तब उसके भीतर का कमजोर, नपुंसक (एवं एक सीमा तक शरच्चन्द्री) नायक पुकार उठता है, "नहीं । यहाँ नहीं । कोई देख

लेगा।...यह उसे क्या हो गया...?"

हम जानते हैं कि वहाँ नहीं तो कहीं नहीं, तब नहीं तो कभी नहीं। विजय को भी रट्-रटकर झुँझलाहट होती—"किस शाप ने हमारे खून को जमा दिया है? यह हो क्या गया है हमें? कोई गर्मी नहीं, कोई आवेश और कोई उद्वेग नहीं ...क्या बदल गया है इसमें? हाँ, मीरा का रंग कुछ खुल गया है...शरीर निखर आया है...। उसका 'बोझिल मौन' जिस 'कोमल चीज़' को पीसे दे रहा था, क्या वह प्रेम ही नहीं था? ऐसे क्षणों में जब वे दोनों ताजमहल के परिसर से उठकर चलते हैं तो उन्हें लगा, "जैसे कोई मुर्दा क्षण है, जिसका एक सिरा मीरा पकड़े है और दूसरा वह, और उसे चुपचाप दोनों रात के सन्नाटे में कहीं दफनाने के लिए जा रहे हों...डरते हों, किसी की निगाहें न पड़ जायें—"कोई जान न ले कि वे हत्यारे हैं...कहीं किसी झाड़ी के पीछे इस लाश को फेंक देंगे और खुशबूदार रूमाल से कसकर खून पोंछते हुए चले जाएँगे "भीड़ में खो जायेंगे...। जैसे एक-दूसरे की ओर देखने में डर लगता है...कहीं आरोप करती आँखें हत्या स्वीकारने को मजबूर न कर दें...।" यह मुर्दा क्षण, स्पष्ट है, किसी बाहरी शक्ति द्वारा नहीं मारा गया, वे दोनों ही इसके हत्यारे हैं। मेरे मन में फिर प्रश्न उठता है कि बिखरा हुआ शरीर एवं मुर्दा क्षण क्या परस्पराश्रित हैं? शरीर एवं अकेलापन तन एवं अजनबी मन, क्या यहाँ एक-दूसरे को काट नहीं रहे हैं? यों इस कहानी के भीतर एक और कहानी है और उसमें भी ऐसी ही हत्या है। एक सुखी जोड़ा विवाह के सात वर्ष पूरे होने पर (सात वर्षों में ही शायद शरीर की ग्रन्थियों में बदलाव होता है।) अलग हो जाते हैं, क्योंकि दोनों तरफ से शायद सहने की हद हो गई है, ..नसों का यह तनाव मुझे या उसे पागल बना दे...इससे अच्छा हो कि दोनों अलग ही रहें।' और इस तरह हनीमून की नहीं, तलाक की रात ताजमहल की छाया में शुरू होनी है। ठीक भी है। असाधारण प्रेम वाले नायक-नायिका के स्मारक की यह ट्रेजेडी है। या यों पूछें कि प्रेम की क्या यही आधुनिक ट्रेजेडी है? आधुनिक मानव का अकेलापन ही उसकी ट्रेजेडी और विडम्बना है। तभी शायद प्रेम भी विडम्बना है।

और यह स्थिति ज्यादा शरच्चन्द्री राजेन्द्र यादव में ही नहीं, औरों में भी है। निर्मल वर्मा की कहानी 'पिक्चर पोस्टकार्ड' : परेश ने 'कई बार सोचा है कि किसी दिन मैं उस कालर-बोन के उस गढ़े को अपनी जुबान की नोक से स्पर्श करूँगा। उस गढ़े में हल्का पसीना है। मैंने कई बार सोचा है कि किसी दिन में उस पसीने को अपने होंठों से चूस लूँगा।' पर इसके बाद?—वही अपने से दुराव, अपने-आप में परिचय के साथ बढ़ता अपरिचय, कुछ औपचारिक बातें और दस बजे रात को ज्यूक बॉक्स में चवन्नी डालकर अधिक-से-अधिक ऊपर उठने वाला रिकार्ड (उसे भी शायद बगैर सुने, दोस्तों की भीड़ में फिल्म देखने चला गया होगा)।

मोहन राकेश के मधुसूदन सुरक्षा से भाग खड़े होते हैं, श्रीकान्त वर्मा की '[illegible]' के नायक महेश्वर उसी तूफान के डर भागते हैं और उषा प्रियंवदा की वकना ('मोहबन्ध' की नायिका) भी 'असीम सुख' के उन क्षण में भी अनुभव कर लेती है कि मोहबन्ध को तोड़कर उसे जाना ही है, क्योंकि वे भीगी आँखें उसकी चलती हैं' और राजेश्वर (उषा की 'जाले' कहानी) को समान बौद्धिक स्तर कौमुदी से विवाह कर लेने के बाद भी लगता कि वह मकड़ी के जाले में घिर कर रह गया है, जिसके तार दूर से बहुत सुकुमार, बहुत आकर्षक लगते हैं, पर एक बार उसमें फँस जाने के बाद निष्कृति की कोई आशा नहीं रहती।' श्रीकान्त वर्मा की ही एक और काव्य-पंक्ति मन में उभरती है

सच है, तुम्हारे बिना जीवन अपंग है।
फिर भी ..क्यों लगता है मुझे ..प्रेम
अकेले होने का ही एक और ढंग है?

प्रेम-चित्रण में उदासी, अकेलापन, ऊब के ये रूप नये कहे जा सकते हैं। यह अद्भुतता, सारहीनता भी शायद नयी ही है। पर मूल्य-निर्णय के समय सबसे बड़ा सवाल उठता है कि 'डि रोमेंटीसाइजेशन' की जो प्रक्रिया 'अज्ञेय' में शुरू हुई थी, वास्तविकता के जिस स्तर की तटस्थ चेतना की दृष्टि को पाने का दावा किया गया था, क्या उसे पूरा और प्राप्त किया जा सका? छायावादी असाधारण लगाव, प्राणों का त्याग आदि यदि पेंडुलम का एक दिशा का झुकाव है, तो झटके से तोड़कर अलग हो जाना, महत्त्वपूर्ण क्षण में समस्या को 'आमने-सामने' स्वीकार न कर भाग खड़े होना क्या उसी पेंडुलम की गति का दूसरी ओर स्विंग नहीं है? मुझे लगता है कि शरत्चन्द्र के नायक-नायिका ही वेश बदल कर आ रहे हैं। जिस शारीरिकता से असम्पृक्त रहकर वे बड़े-से-बड़ा बलिदान कर देते हैं, उसी से परिचित होना चाहकर भी ये भाग खड़े होते हैं, और सब मिलाकर स्थिति ज्यों-की-त्यों रहती है। महिमा-मंडित शब्दों का प्रयोग न करते हुए भी, वे ही वेदना के गीत एवं वही शहादत का स्वर। उस 'कथा' की अभी हमें क्या प्रतीक्षा नहीं है जो प्रेम के साथ ही एक लैंगिक (Sexual) थीम की खोज में भी प्रयुक्त हो? कहना चाहता हूँ कि प्रेम एक क्षमता है :

कोई समझे तो एक बात कहूँ,
इश्क तौफ़ीक़ है, गुनाह नहीं।"

और इस क्षमता को खोजने-पहचानने की आवश्यकता है।

[नयी कहानियाँ : १९६३]

कहानी के सिलसिले में उठे कुछ नये सवाल

विपिन कुमार अग्रवाल

गद्य का स्वभाव वर्णनात्मक है। कहानी गद्य में बाँधी जाती है। इसलिए वर्णन उसका अभिन्न अंग है। कहानी का सारा दारोमदार इस पर निर्भर करता है कि वर्णन कितना सार्थक हो सका। वही वर्णन सार्थक है जो कहानी के आंतरिक संघटन को पुष्ट करता है, उसमें नया निर्माण करता है, या प्रभाव को पुन: संयोजित करता है। अत: अच्छी या सफल कहानी, वह पुरानी हो या नयी, वही है जिसमे वर्णन इन माँगों को पूरा करता है। कहानी लिखना इस प्रकार के वर्णन का सृजन करना है। जब तक इस प्रकार के वर्णन का सृजन अपने मे एक अन्त है तब तक कलात्मक है। कुछ समय के बाद एक तरह की माँग किस ढंग, किस संघटन से पूरी होती है इसका आभास मिलने लगता है। तब उसी वर्णन का साधन की तरह प्रयोग होने लगता है और चूँकि कला मे साधन-ऐसी कोई चीज नहीं होती है, वह दुहराया हुआ, नाहक और व्यवसायी लगने लगता है, इस प्रकार का संघटन सहसा कलाविहीन हो जाता है। एक नये प्रकार के संघटन की आवश्यकता महसूस होने लगती है। और इस नये संघटन को प्राप्त करने का ढग भी वर्णन द्वारा ही होगा, गद्य में ही होगा, कहानी मे ही होगा। या उल्टा चलें तो कहानी रहेगी, वर्णन रहेगा, महज संघटन बदल जायेगा। दूसरे प्रकार के संघटन की माँग होगी।

इतने मे अभी हमे कोई हल नहीं मिला है, पर प्रश्न चुन लिया गया है, *अलग कर लिया गया है*। और इसी पर हमें अपना ध्यान केन्द्रित करना है। नयी कहानी नये प्रकार के वर्णन मे नही, बदले हुए संघटन मे ढूँढ़नी है, उदाहरण के लिए, कलात्मक संघटन का एक लम्बा और सशक्त दौर हिन्दी-कहानी में रहा है, अन्य भाषाओं की कहानी मे भी रहा है। कथा बुनना और सुनना क्यों आरम्भ से ही *मनुष्य को अच्छा लगा यह जानना यहाँ आवश्यक नहीं है*। *हम बस इतना ही नोट* करेंगे कि कथानक की माँग थी, बहुत दिनो तक बनी रही, और बहुत तरीकों से कहानीकारों द्वारा पूरी की गयी। इस माँग को इतने दिनो तक सम्हाले रखने की ताकत ऐसे अनुभवों की जानकारी में रुचि थी जो दैनिक जीवन मे सहज प्राप्त नहीं है। महलों और तहखानों की कहानी लिखी गयी, दूर रहती प्रेयसी को प्राप्त

करने की कहानी लिखी गयी, जानवरों की कहानी भी लिखी गयी, बड़े शहरों की कहानी लिखी गयी और इधर गाँवों और विदेशों की कहानी लिखी गयी। जैसे-जैसे कथा का विषय बदला—वर्णन बदला, भाषा बदली, पर वर्णन और भाषा के प्रयोग का प्रयोजन नहीं बदला, संघटन गुणात्मक ढंग से नहीं बदला। वह कथात्मक ही रहा। पर आज कोई प्रेयसी दूर नहीं लगती, महलों में अस्पताल खुल गये हैं और जानवर परिचित प्रतीक बन गये हैं। अतः ऐसी कहानियों का आनन्द लेने के लिए काफी सरल और अशिक्षित होना आवश्यक हो गया है। कथा-तत्त्व को बनाये रखने का दूसरा ढंग जो अपनाया गया है वह मनुष्य के निजी अन्तर मन में होने वाली घटनाओं के वर्णन को प्रमुखता देता है। यह प्रदेश गद्य से हट कर कविता की ओर अधिक झुका हुआ लगता है। इसलिए इधर की कहानियाँ कवियों के एकाकीपन, आत्महत्याओं और उनके बिंबों से भर गयी हैं। कथातत्त्व कमज़ोर जरूर पड़ गया है पर गायब नहीं हुआ है। प्रकटतः स्वाभाविक और सम्भावी लगने के मोह से छूट नहीं है। प्रश्न है, क्यों?

विदेश की कथा हो या अन्तर मन की, संघटन एक ही सा हो सकता है। कैसे? इसका एक मुमकिन उत्तर पाने के लिए भाषा में वर्णन करने के प्रयास में निहित सीमा को समझना आवश्यक है। यदि उस सीमा को एक ही तरह से निभाया गया है तो विषय में चाहे जितना बड़ा अन्तर हो, संघटन एक ही सा होगा। भाषा में वर्णन करने की सबसे अधिक झुंझला देने वाली सीमा यह है कि रुचि के स्थान पर एक ही समय में होने वाली तमाम घटनाओं का वर्णन एक साथ मुमकिन नहीं है—जैसा कि चित्र में या सिनेमा में मुमकिन है। उदाहरण के लिए, यदि तीन आदमी एक कमरे में एक साथ तीन विभिन्न कार्य कर रहे हैं तो उन कार्यों का वर्णन आगे-पीछे ही दिया जा सकता है। इस वर्णन के बहुत-से तरीके हो सकते हैं। यदि पहले 'क' का, फिर 'ख' का और फिर 'ग' का वर्णन करें, तो यह एक ढंग हुआ। कुल मिला कर छः ढंग हैं।

क ख ग : क ग ख : ख क ग : ख ग क : ग क ख : ग ख क। अपनी नीयत और अपने पक्षपात के अनुसार कहानीकार किसी एक ढंग को चुनता है। और एक चुनाव कर लेने के बाद 'प र ल' के आने जाने के उपरात भी उसे अंत तक निभाता है। इस चुनाव की सम्भावना उसकी शक्ति भी है और उसकी कमज़ोरी भी। जब तक कहानीकार का ध्येय कथा बुनना था, तब तक इन छः सभावनाओं में से किन पाँच को त्याग देना है—इसका नियम उसके पास था। अच्छा चुनाव वही है जो कथा के बढ़ने के साथ-साथ पुष्ट होता जाय। चूँकि चुनाव का आधार कथा द्वारा संचालित था—अन्य पाँच के त्यागने में जो यथार्थ का नुकसान हुआ वह खलता नहीं था। या दूसरे शब्दों में, हमारा ध्यान कथा पर इतना टिका रहता है कि यहाँ इस चुनाव में वर्णन की कोई सीमा निहित है इसका आभास ही नहीं होता। मोटे

छोर से देखने पर कहानी समय में सहज ढंग से बढ़ती हुई लगती है। इसी में उसकी सफलता है। इसी तरह से उसे पढ़ने की और समझने की हमने आदत बना ली। समय के लगातार एक गति से बीतने के विचार से हम इतने आक्रान्त थे कि इसको शंका की निगाहों से हमने कभी नहीं देखा। हमारे इस अज्ञान का पूरा लाभ कथावाचकों ने उचित ही उठाया। इस दृष्टि से उत्पन्न होने वाले तमाम ढाँचों का संघटन कुछ हेर-फेर के बाद एक ही रहा। यह एक प्रकार का संघटन हुआ जिसे सहूलियत के लिए हम 'लकीरी' कहेंगे। यात्रा-वर्णन हो, वीरगाथा हो, प्रेम-कथा हो, या जासूसी कहानी हो—सबका संघटन हमारे समय की इस समझ के फ्रेम में बना गया। इस प्रकार के संघटन का सबसे अधिक आडम्बरहीन, दक्ष और विवेकयुक्त उपयोग जासूसी कहानी में ही होता है। हमारे कहानीकार शायद इसीलिए प्रेम की कहानियों के फव्वारे छुड़ा-छुड़ा कर इस संघटन का ढीला-ढाला उपयोग करते रहे और जहाँ उसे सम्भावना सबसे अधिक दिमाग माँगता था, वहाँ से कतराते रहे। कहा जाता है जब हमने पश्चिम से प्रभाव ग्रहण किया तब रेल पर चढ़े, विज्ञान पढ़ा, प्रजातन्त्र अपनाया, नयी कविता रची, उपन्यास लिखे, हर तरह की कहानियाँ गढ़ीं, प्रत्येक दिशा में बराबरी की ओर कदम उठाया, आदि। पर कुछ ऐसी कमी थी, शायद बुद्धि की, हमारे कहानीकारों की बनावट में कि वहीं पर फूलते-फलते जासूसी कहानी के विकसित क्षेत्र को नाममात्र के लिए भी छू तक न सके। वह हमारी शक्ति, कल्पना और दृष्टि के दायरे से जैसे बाहर था। कोई लाचारी थी जिसके कारण हमने उसकी ओर से आँखें मूँद ली। एक विशाल परिपक्व क्षेत्र में हमारे इस नितांत कोरेपन की विचित्र स्थिति का मूल्यांकन होना अभी बाकी है। मुझे कुछ छूट दी जाय तो कहना चाहूँगा कि लकीरी संघटन को एक भाषा के लेखक कितना साध पाये हैं इसकी एक माप यह है कि उस भाषा में किस हद तक त्रुटिविहीन कितनी जासूसी कहानियाँ लिखी गयी हैं। एक बार ऐसी कहानी पढ़ लेने के बाद पाठक को ढीली-ढाली लकीरी प्रेम-कहानी उबा देने वाली लगेगी और बहुत-सा हिन्दी-कहानी का व्यापार मद्धिम पड़ जायगा। इस व्यापार को रोकने का और कोई दूसरा ढंग नहीं दिखलायी पड़ता। अच्छी जासूसी कहानियों की चुनौती यदि हमारे कहानीकारों के सामने होती तो शायद हमारे साहित्य का इतिहास ही कुछ और होता। खैर, अब प्रश्न यह है कि इसके अलावा और कौन-सा दूसरा संघटन मुमकिन है ? यदि दूसरा संघटन मुमकिन है तो वह नयी कहानी का जनक हो सकता है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि जैसी कठिनाई काल में घटनाओं का वर्णन करने में है वैसी ही मिलती-जुलती-कठिनाई दिक् में होने वाली घटनाओं का वर्णन करने में भी है।

इसी सिलसिले में यह प्रश्न भी सामने रखा जा सकता है कि आज सहसा नये संघटन की जरूरत क्यों पड़ गई ? उत्तर में अक्सर कहा जाता है, और इस कहने

में कभी-कभी भिन्न मतों वाले व्यक्ति भी साथ-साथ पाये गये हैं, कि आज के जीव या यथार्थ से हमारा संबंध जटिल हो गया है। इस कहने के बहुत-से माने लगा गये हैं और कोई माने न लगाकर फ़ैशन के रूप में भी इसे प्रस्तुत किया गया है जटिलता के साधन माने गए हैं रोज़ बदलता हुआ औद्योगिक दृश्य, तेज़ गति, टूट हुई लय, गलित होते हुए मूल्य, खुलते हुए नये आयाम, आदि। इनमें से कुछ क हर व्यक्ति सीधे अनुभव से महसूस कर सकता है और कुछ के लिए शायद क होना ज़रूरी है। कभी-कभी इसे गंभीर और अस्पष्ट शब्दावली में रचना होता तो मनोविज्ञान की आड़ ली जाती है। अन्तर्गति और बाह्य गति में विरोध देख जाता है। अगर अधिक दिखावा करना हुआ तो अन्त-काल और बाह्यकाल के घर्ष में रचना का उपजना बतलाया जाता है, पर कैसे यह होता है इसके बारे में सब चुप हैं। शायद ठीक ही। क्योंकि डर है कि बहुत जाँच-पड़ताल करने पर कहीं सब सरस न निकल आये—दृश्य तो १०० वर्षों से बदल रहा है, युद्ध ने लय और मूल्य बहुत पहले ही तोड़ दिये थे, घड़ी ने हमेशा एक ही तरह शुद्ध समय नापा और दु:ख में आदिकाल से समय मुश्किल से बीता है। फिर यह नयी जटिलता कहाँ से आयी जिसने सहसा हमारे पुराने ढंग के वर्णन और संघटन को अनुपयोगी सिद्ध कर दिया। यह हो सकता है कि इसके पीछे बहुत-से कारण हों जो पहले अलग-अलग उपस्थित थे और अब उनके सामूहिक प्रभाव के कारण स्थिति में अन्तर आ गया है। पर यहाँ हम एक कारण की ही चर्चा कर पायेंगे।

जटिलता का एक नया पहलू, जो आज विकसित हुआ है, उसका मुख्य कारण गति है—यह ठीक है। पर गति के माने क्या हैं ? और जटिलता से इसका सरोकार क्या है ? रेल, मोटर, सब तरह के जहाज़, अखबार, रेडियो, सिनेमा, आदि सभी कुछ ऐसे सम्बन्धों को स्थापित कर देते हैं जो पहले या तो स्थापित ही नहीं हो पाते थे, या हो पाते थे तो इतनी देर में और इतनी कम संख्या में कि उनका प्रभाव गुणात्मक ढंग से भिन्न होता था। पहले गति हमें ताज्जुब में डालती थी, आज हमें उसकी आदत पड़ गयी है। इसी गति को दूसरे ढंग से व्यक्त कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि जीवन में तीव्र गति के आने के माने हैं कि हमारे चारों ओर का व्यापार अब हमारी जानकारी में इतनी तेज़ी से चलता है, घटनाएँ एक के ऊपर दूसरी इतनी शीघ्रता से लदती चली जाती हैं, दूर की स्थितियाँ हमारे जीवन को परिचालित करने के लिए इतनी आमादा हैं कि किसी एक घटना को अलग रख कर देर तक उसे समझने की कोशिश करना न मुमकिन है और न ही उचित है। ऐसा करना ज़बर्दस्ती होगा, पलायन होगा और गति के अज्ञान को प्रकट करना होगा। बात को आगे बढ़ाने के लिए एक सहज नियम यहाँ पर बनाना ठीक होगा। हम यह मानकर चलेंगे कि एक घटना दूसरी घटनाओं से जितनी मात्रा में अलग करके परखी जा सकती है उस मात्रा में और जितना समय घटना का अनुभव करने

के लिए मिलता है उस समय में उल्टा-अनुपात का सम्बन्ध है। यदि हमारे पास अनिश्चित या अपार समय है तो घटना साफ, अलग स्थान ग्रहण कर लेगी। यदि निश्चित या सीमित समय है वहीं घटना आस-पास की घटनाओं में उलझ जायगी, उनसे आलथी-पालथी करने लगेगी। कम समय का होना या अधिक गति का होना इस प्रकार एक ही घटना को जटिल बना देगा। आधुनिकता की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रकृति यह है कि उसमें उल्टे-अनुपात के सम्बन्ध लागू होते हैं। घटना कोई दी हुई, पूर्व-मर्यादित इकाई नहीं है, बल्कि जिस ढंग से हम उसे देख पाते हैं उसके अनुसार वह पारिभाषित हो जाती है। इस नियम की सजगता आज इसलिए हो पायी कि उसका प्रभाव प्रकट होने के लिए समुचित मात्रा में गति आज प्राप्त हो पायी है।

मोटर, रेल, हवाई जहाज, अखबार, रेडियो, सिनेमा, स्कूल आदि से घिरा हुआ आदमी जिस तरह से चारों तरफ होने वाले व्यापारों को देख पा रहा है उसमें घटनाओं के छोरों का समकक्षी हो जाना, गुन्थी हो जाना, अनिवार्य है। आज के अनुभव का यदि यह अभिन्न अंग है तो इसकी अभिव्यक्ति कलाकृतियों में, और इसलिए कहानियों में भी, होनी चाहिए। यदि कोई कृति इस चुनौती को स्वीकार नहीं करती तो वह पूर्व-साहित्य से उधार ली हुई अनुभूति का भले ही वर्णन कर ले, यथार्थ से उसका सम्बन्ध सतही ही होगा।

अब सवाल इतना भर रह जाता है कि यदि हमारे अनुभव में घटनाएँ किनारों पर आलथी-पालथी करती हुई उलझी हैं तो उनका वर्णन कैसे किया जाय? यह बताना बहुत मुश्किल काम है। उदाहरणों की सहायता भी नहीं ली जा सकती, क्योंकि हिन्दी के कहानीकारों में प्रश्न के इस पहलू की सजगता रही ही नहीं है। यदि होती तो अब तक हमारे होनहार कहानीकारों ने अवश्य कुछ-न-कुछ हल ढूंढ लिया होता। पर, फिर भी, कुछ इशारे दिये जा सकते हैं। मसलन् अगर घटनाएँ गुंथी हुई हैं तो समय में कौन पहले है कौन बाद में, विवादास्पद हो जाता है। यदि कोई कहानी पढ़कर लगता है कि इसमें घटनाएँ क्रमबद्ध ढंग से निश्चित कार्य-कारण के सम्बन्ध को रखती हुई समय में लकीरी ढंग से घटित हो रही हैं तो तुरन्त कहा जा सकता है कि यह कहानी उन जटिलताओं और सम्बन्धों को व्यक्त करने की कोशिश ही नहीं कर रही है जो पिछले साहित्य की पहुँच के परे थे और जिनसे हम इधर आगाह हुए हैं। आज जो कहानियाँ लिखी जा रही हैं वे इस माने में अच्छी हो सकती हैं कि पिछले कहानीकारों की खोजों को उन्होंने पकड़ा है और जितनी दूर तक उन्हें परिष्कृत किया जा सकता है—किया है। पर, यह हमेशा किया जा सकता है। इससे कोई बात आगे नहीं बढ़ती। नया हल या नयी खोज की ओर एक कदम के सामने इसकी लम्बी पैंतरेबाज दौड़ भी कम महत्त्वपूर्ण होगी। हल चाहे जितनी कड़ी हो, तब तक हम कलकत्ते से दिल्ली, दिल्ली से कलकत्ते माप जोते रहेंगे।

एक इशारा और दिया जा सकता है। अगर गुँथी हुई घटनाएँ ही वास्तविक हैं तो हमारे लिए *एक साथ कई तरह की* घटनाओं को लेकर चलना अनिवार्य होगा। किसी एक घटना का वर्णन वह चाहे जितनी रेत, चाँदनी या घाटियों से ओत-प्रोत हो, अँधेरे, जिस्म और चीख़ों से भरा हो; वर्णन चाहे जितना आयामों, बिम्बों और प्रतीकों से लदा हो; हमारी कहानी का विषय नहीं हो सकता। किसी एक स्थिति के प्रति जोश या मोह का आना एक प्रकार का सरल और सादा हल है और हमें गलत रास्ते पर ले जाता है। कहानी को कमज़ोर करता है। राजा, वेश्या, क्रान्तिकारी, प्रेमी आदि के कारनामे विशिष्ट और एकांगी होते हैं इसलिए उनका आना हमारी पहुँच को कम करता है। गली, मुहल्ले या किसी ख़ास शहर के वातावरण को पैदा करने की कोशिश भाषा को मस्क करने के लिए की जा सकती है पर कहानी लिखने के लिए नहीं। बाढ़ों, दंगों, रीति-रिवाजों के ख़िलाफ़ लड़ाई आदि का प्रस्तुतीकरण जितने सशक्त ढंग से सिनेमा में मुमकिन है उतना कहानी में नहीं। कहने का मतलब है कि हार और जीत के जाने-माने क्षेत्रों में उन सम्बन्धों को ढोने की ताक़त नहीं है जो आज के जीवन में हम पहली बार महसूस कर रहे हैं या महसूस करवाना चाहते हैं। हमारी कोशिश होनी चाहिए कि उन सर्वव्यापी दबे हुए ज़ोरों को पकड़ सकें जो बहुत-सी अलग-अलग लगती हुई घटनाओं को एक बिन्दु पर एकत्र कर उन्हें एक-दूसरे का पूरक बना देते हैं। इस प्रकार के सम्बन्ध के लिए किसी एक तरह की घटना का पूर्व मोह के कारण अधिक पक्ष लेना नासमझी प्रकट करना होगा। दूसरे शब्दों में, कहानी, अब एक घटना की समस्या न रह कर मूलतः बहु-घटना की समस्या बन गयी है। स्थिति में यह गुणात्मक अन्तर है और इसके प्रभाव बहुत दूर तक पहुँचने वाले हैं। चूँकि बहु-घटना को किस प्रकार हैंडिल किया जाय, यह हम नहीं जानते हैं और क्योंकि हमारा अनुभव एक-घटना को हैंडिल कर सक पाने तक सीमित है, इसलिए पहला प्रयास मैं समझता हूँ इसी ओर होना चाहिए कि किस प्रकार बहु-घटना की समस्या को एक-घटना की समस्या में घटाया जा सकता है। यह भी बहुत कठिन काम है। पर समस्या में अवगत हो जाने पर कोई-न-कोई हल अवश्य निकल आयेगा।

बहु-घटना को एक-घटना की समस्या में घटाने में सम्बन्धों का महत्त्वपूर्ण योग होगा—यह देखना मुश्किल नहीं है। ज़रूरत पड़ने पर ऐसे नकली या काल्पनिक सम्बन्ध भी बनाये जा सकते हैं जिनके सहारे हम एक घटना पढ़ कर भी कई घटनाएँ एक साथ पढ़ सकें। इन सम्बन्धों का उपयोग करने के बाद हम इन्हें भुला दे सकते हैं। सिर्फ़ उदाहरण के लिए, एक घटना का दूसरी घटना से भाषा का सम्बन्ध लीजिये। एक घटना के वर्णन में यदि दूसरी घटना के कुछ सांकेतिक शब्द डाल दिये जायें तो, यद्यपि दूसरी घटना का वर्णन नहीं किया जा रहा है फिर भी, उसकी गूँज मिलने लगेगी और उसके शब्द यहाँ सब सुनेंगे तो घटनाएँ भी आएँगी

तोड़ी बना लेंगी। इसी प्रकार चेतन-व्यापारों में एक जड़ वस्तु को डालकर कुछ इस प्रकार के भय, आश्चर्य और कुतूहल की स्थितियाँ पैदा की जा सकती हैं जो पहले एलनापवों, वीरों, भूतों, प्रेमियों या देवताओं के कारनामों में ही मिलती थीं। आज उनके अभाव में सहज प्राप्य चरित्रों और स्थितियों से ही वह काम लेना आवश्यक हो गया है। इनकी उपस्थिति में एक घटना कई क्षेत्रों की कोरों को एक साथ दबाने में समर्थ हो जाती है। इसी प्रकार कथा एक घटना को लेकर और गति दूसरी घटना को लेकर उनके आपसी सम्बन्धों का फ़ायदा उठाया जा सकता है। ऐसा लगता है कि हिन्दी के कहानीकारों ने अभी इन नयी खोजों और उनकी अनन्त सम्भावनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया है और बहुत सरल साधनों से सन्तुष्ट होते रहे हैं। यदि उन्हें अपने साधन अभी भी काफ़ी सन्तोषजनक लग रहे हैं तो यही कहना पड़ेगा कि अभी उनका अनुभव ही सरल और पूर्व-परिचित ढाँचों में ढला हुआ है—भले ही वह ईमानदार हो, जूझा या झेला हुआ हो, चौंका देने वाला हो। उनकी कहानियाँ जिस्मों, चौराहों, चीखों, रह-रहकर टूटते व्यक्तियों आदि से भरी हुई लगें, दुहरायी हुई और जरूरत से ज्यादा परिष्कृत लगें तो दोष उनके हृदय को देखने के सीधे-सादे ढंग में ही है जो उन्हें सरल प्रतीकों, रूमानी वातावरणों, और साहित्यिक या घोर असाहित्यिक भाषाओं के नमूनों की आड़ लेने के लिए लाचार कर देता है। अब भाषा, चरित्र, वर्णन आदि का संगठन दूसरे ही प्रयोजन से किया जाना चाहिए। इस प्रयोजन के पहलू आपके सामने रखने की मैंने कोशिश की।

[क ख ग, जुलाई १९६४]

कहानी का माध्यम और आधुनिक भावबोध

रामस्वरूप चतुर्वेदी

साहित्य में काव्यरूपों के उदय, विकास और विघटन का अध्ययन अपने आप में तो महत्त्वपूर्ण है ही, साथ ही उसके माध्यम से सृजनात्मक प्रक्रिया की गतिविधियों भी दूर तक समझा जा सकता है। महाकाव्य जो शताब्दियों तक न केवल इस देश में वरन् सभी उन्नत देशों में सृजनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बना रहा, *समसामयिक साहित्य के परिवेश से सहसा क्यों अलग हो गया है, यह एक ऐसा* प्रश्न है जिसके किसी भी सन्तोषजनक उत्तर के अन्तर्गत समूचे भावबोध के विकास का आख्यान आ जाता है। समकालीन संवेदना की सूक्ष्मता की दृष्टि से महाकाव्य का ढाँचा कैसे बेडौल हो गया है, यह परीक्षण-मात्र काव्यरूप का इतिहास न बना कर, यथार्थ के प्रति बदलते परिप्रेक्ष्य का उद्घाटन करता है। इसी प्रकार नये साहित्य में अकाल्पनिक गद्यवृत्तों की एक पूरी-की-पूरी शृंखला—संस्मरण, रेखा-चित्र, डायरी, यात्रा-संस्मरण आदि का—का जुड़ जाना एक आकस्मिक घटना न होकर रचनाकार की नवविकसित संवेदनशीलता का परिचायक है। ये नये काव्य-रूप भाव-संकुलता से अलग, मात्र भाषिक स्तर पर लेखक की नवीन सृजनात्मक क्षमता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

काव्यरूपों के अध्ययन के प्रसंग में एक बात और स्मरणीय है, और वह यह *कि इनका विकास या कि विघटन प्राय: किसी एक साहित्य-विशेष तक सीमित न* रहकर सभी उन्नत साहित्यों में कमो-बेश एक रूप में मिलता है। महाकाव्य के क्रमश: अप्रचलन तथा अकाल्पनिक गद्य-वृत्तों के उदय की बात कुल मिलाकर यूरोपीय और भारतीय सभी साहित्यों पर लागू होती जान पड़ती है। विश्व की सीमाओं के संकुचित होने का यह संवेदनात्मक स्तर पर एक अतिरिक्त साक्ष्य माना जा सकता है। बहरहाल, यह स्थिति संप्रति हमारी विवेचना का विषय नहीं है।

काव्यरूपों और माध्यमों की समकालीन गतिविधि में एक *अन्य उल्लेखनीय* स्थिति है गीतिकाव्य, ललित निबंध और कहानी के प्रसंग में। ये तीनों काव्यरूप हिन्दी में, *और किसी सीमा तक अन्य साहित्यों में भी, आधुनिक भावबोध को* बहन

करने मे अक्षम होते जान पड़ते है। आरंभ मे गीत, निबंध और कहानी की सम्मिलित चर्चा के बाद मुख्य रूप से कहानी के रचना-विधान और रूपात्मक स्थानातरण का विश्लेषण, विशेषत: समकालीन परिस्थितियों के अतर्गत, प्रस्तुत निबध का मुख्य उद्देश्य होगा।

गीत, निबध और कहानी का प्रकृत रचना-विधान एक ही स्थिति या मन-स्थिति के अकन-योग्य होता है, इसे प्राय सभी लेखक और साहित्य के अध्येता स्वीकार करते हैं। यह ठीक है कि उस एक स्थिति या मन स्थिति की पकड का ढग तीनो माध्यमो मे अलग-अलग होता है। गीत के शिल्प मे एक भाव का उत्तरोत्तर भी विकसित किया जाता है, और उसे कई कोणो से प्रस्तुत करने की चेष्टा भी हो सकती है। अर्थात् उसमे चरम सीमा का विधान हो भी सकता है और नही भी। निबध, या कि स्पष्टता के लिए कहे ललित निबध, चरम सीमा को नही नियोजित करता। एक मूल भाव को व्यक्त करने के लिए वह अपेक्षाकृत शिथिल और अनौपचारिक शैली का विन्यास करता है। उसके अतर्गत भाव का विकास अधिक न होकर, उसका लालित्यपूर्ण कथन और व्याख्या प्रधान होती है। कहानी किसी एक परिस्थिति या मन स्थिति पर कई कोणो से आलोक फेंकती हुई सामान्यतः भाव-विकास और चरम सीमा के शिल्प को अपनाती है। पर इस पद्धतिगत भिन्नता के बावजूद ये तीनो काव्यरूप किसी एक विशिष्ट भाव को अकित करने के लिए माध्यम होते हैं। और रचना-विधान की इस मौलिक एकता के आधार पर ही इन तीनों माध्यमो के प्रभाव की एकरूपता और सघनता एक मत से स्वीकार की जाती है।

अपने प्रभाव के नियोजन की दृष्टि से उपन्यास और कहानी के बीच यहाँ तात्विक अन्तर देखा जा सकता है। कहानी चरम सीमा का उपयोग करके, अपने अपेक्षया सक्षिप्त आकार मे भाव-विकास की पद्धति पर बल देकर, और किसी एक ही स्थिति को कई कोणो से आलोकित करके, अपने अतिम प्रभाव की सघनता और तीव्रता पर सारी दृष्टि केन्द्रित करती है। पर उपन्यास की निष्पत्ति इस रूप में नहीं होती। उसकी रचना-दृष्टि (जिसका कहानी मे अभाव रहता है) पाठक के सामने सहसा नही आती, वरन् धीरे-धीरे उसके मन में विवृत होती है। इसीलिए जहाँ कहानी अपना प्रभाव पाठक के मन पर एकाएक जमा लेती है, उपन्यास का प्रभाव उतना तात्कालिक और सघन नही होता। उसकी रचना-दृष्टि अपेक्षया देर मे, समूची कृति के बीच मे अपना रूपाकार ग्रहण करती है, पर अपेक्षया देर तक अपनी गूँज-अनुगूँज उत्पन्न करती रहती है। कहानी का प्रभाव उतना गहरा और दूरगामी नहीं होता।

उपन्यास, नाटक या कविता में यह रचना-दृष्टि क्यों होती है, और कैसे बनती है?—यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। और इसी के साथ-साथ यह भी देखा जा

लगता है कि कहानी और गीत से यह रचना-दृष्टि व्यक्त नहीं होती, जो कि ठीक ठी-
कड़े रूप धारण कर नहीं बन पायी जिसके कारण इन माध्यमों की सार्थकता
सामान्यतः स्वीकार करने मन नहीं लगे, महत्वपूर्ण नहीं बनती जाती ? अतः इन्हें
उपन्यास के सिलसिले में 'पूंजी-अनुपात' शब्द का प्रयोग किया है। यह पूंजी-अनुपा-
तकी प्रभाव का एक सीमा पर समानान्तर रूप या विनियोग, रचना-दृष्टि के द्वारा
सम्भव हो पाता है। और यह रचना-दृष्टि स्वयं किसी कृति में विविध और विभि-
न्न क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती है। प्रत्येक उत्कृष्ट और महत्वपूर्ण रचना
में विभिन्न परिस्थितियों और मनःस्थितियों की जटिल टकराहट से रचनाकार
अपनी दृष्टि को अर्जित करता है। हमारे सम्मुख प्रायः यह समस्या आती है कि
किसी कृति-विशेष के किस पात्र या किन पात्रों के माध्यम रचनाकार के अपने मत
जा सकते हैं। 'कामायनी' में मनु या श्रद्धा या इड़ा या लज्जा या काम, किसका मत
'प्रसाद' का माना जाना चाहिए ? प्रायः सबकी अलग-अलग बात होती है, कभी-
कभी परस्पर-विरोधी भी। तब यह कहा जाता है कि कृति में रचनाकार किसी
माध्यम-चरित्र की अवधारणा करता है, जिसके द्वारा वह अपनी दृष्टि को व्यक्त
करता है। उदाहरणार्थ, 'कामायनी' में श्रद्धा को माध्यम-चरित्र माना जाता है।
पर किसी भी पात्र को लेखक का प्रतिनिधि मान लेना कृति के रचनात्मक संगठन
की उपेक्षा करना है, और पात्र तथा लेखक की एक बड़े कच्चे और अकलात्मक
स्तर पर अभिन्नता स्थापित करना है।

रचना-दृष्टि का अवबोध किसी एक पात्र या पात्रों के माध्यम से नहीं होता। 'प्रसाद' वस्तुत: 'कामायनी' के किसी भी पात्र के मुख से नहीं बोलते, अतः किसी उद्धरण को सहसा 'प्रसाद' का मत नहीं माना जा सकता। कृति की मूल दृष्टि विभिन्न चरित्रों, स्थितियों और मनःस्थितियों के आपसी संघात तथा टकराहट में से उपजती है। रचना मे निहित द्वंद्वात्मक संघर्ष और क्रिया-प्रतिक्रिया से ही रचना-दृष्टि का रूप बनता है, और 'सरल-सीधे' जीवन के साथ-साथ 'जटिल' जीवन का अंकन भी संभव होता है। गीत और कहानी का रचना-विधान ऐसा है कि उसमे मूलतः एक स्थिति या मनःस्थिति का ही चित्रण होता है, और इसीलिए वह किसी द्वंद्वात्मक प्रक्रिया का अंकन नहीं कर पाती, जो आज के जटिल होते हुए जीवन-अनुभवों को व्यक्त करने के लिए नितांत आवश्यक है। मानव-जीवन की स्थानी और अपेक्षया 'सहज' स्थितियों को गीत और कहानी ने काफी सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया। अब तक साहित्यिक परिदृश्य पर उनकी पूरी सार्थकता रही। किन्तु अब यथार्थ से जटिलतर होते हुए सम्बन्धो को गीत तथा कहानी-जैसे, अपेक्षया सहज-सरल और एक सघन मनःस्थिति-प्रधान, माध्यमों के द्वारा व्यक्त करना क्रमशः कम सभव होता गया है। इसी कारण समसामयिक साहित्य मे ये गतिशील माध्यम रह कर स्थिर माध्यम बन गये हैं।

यथार्थ के प्रति परिवर्तित और जटिलतर होते हुए सम्बन्धों की स्थिति प्रस्तुत निबन्ध को एक मूल उपपत्ति है। इससे हमारा क्या अभिप्राय है, यह चर्चा भी मानो समकालीन विश्व-दृष्टि की व्याख्या का यत्न होगा। अभी उतने तत्त्वपरक प्रसंगों में न जाने पर भी, कुछ ऐसे संकेत अवश्य दिये जा सकते हैं, जिनसे यथार्थ के प्रति परिवर्तित दृष्टि का कुछ आभास मिल सके। दो भिन्न साहित्यिक युगों के उदाहरणों से बात शायद कुछ अधिक स्पष्ट हो। वर्तमान शताब्दी के आरम्भिक दशकों में हिन्दी-रचनाकारों ने अधिकतर यथार्थ को 'हृदय-परिवर्तन' और 'संयोग' के उपकरणों द्वारा पकड़ना चाहा था। प्रेमचंद, सुदर्शन, कौशिक के कथा-साहित्य में, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी के खंडकाव्यों में, 'प्रसाद' के आरंभिक नाटकों में यह दृष्टि साफ उभर कर आती है, जो मूलतः आदर्शवादी तथा उदात्ततरक चिंतन-धारा पर आधारित है। पर इस दृष्टि की सीमा स्वयं आगे चलकर 'प्रसाद' ने ही समझ ली जब उनके उत्तरकालीन नाटक 'स्कंदगुप्त' के चरित्र विजया, भटार्क और शर्वनाग बदलकर भी नहीं बदलते—कई किस्तों में उनका हृदय-परिवर्तन संभव हो पाता है। यह यथार्थ को अधिक यथार्थपरक ढंग से देखने की चेष्टा है। समसामयिक दृष्टि इसके बाद और यथार्थपरक हुई है। प्रत्येक घटना, चरित्र, स्थिति, मनःस्थिति अब अपनी योग्यता पर समझे जाते हैं, उन्हें समझने के लिए पहले से बना-बनाया कोई तरीका स्थिर नहीं किया जाता—कुछ-कुछ होम्योपैथी के सिद्धांतों के अनुसार, जहाँ बीमारी नहीं, केवल बीमार हैं, और प्रत्येक बीमार से जूझने का अलग ढंग है। यथार्थ से हर टकराहट को, अनुभूति के प्रत्येक क्षण को, अद्वितीय मानकर उसकी अपनी स्थिति में स्वीकार करना रचनाकार से हर बार एक नयी पकड़ की माँग करेगा। इस प्रणाली में स्पष्ट ही अधिक अमूर्तन-कौशल अपेक्षित होगा।

इस स्थिति की पूर्वस्थिति से तुलना दोनों दृष्टियों के अन्तर को व्यक्त करती है। 'हृदय-परिवर्तन' या 'संयोगों' की कथा-दुनिया में सूक्ष्म मानवीय चरित्र की प्रायः पूर्वनिश्चित और स्थिर मानों पर स्थूल यथार्थवादी व्याख्या होती थी—मनुष्य देवता है, राक्षस है, या देवता होने के उपक्रम में राक्षस है। दो अतियों से बचने के लिए आदर्शोन्मुख यथार्थ के मध्यम मार्ग को भी आविष्कृत किया गया। पर इन सभी दृष्टियों में सृजनात्मकता के सोपान पहले से स्थिर कर लिये गये हैं। यह पूर्वदृष्टि-निर्धारण रचना की स्वायत्तता को खंडित करता है। यह मानो जटिलता को जटिल स्तरों पर समझने के लिए न जाकर, जटिलता को सरल बनाकर समझने की कोशिश है, और इस समझौते में यथार्थ की अच्छी पकड़ संभव नहीं। नया रचनाकार इसके विपरीत कुछ 'दिया हुआ' मानकर नहीं चलता, उसकी रचनात्मक प्रक्रिया अपने ही आंतरिक तनाव में से विकसित होती है, और इसीलिए संपूर्ण कलाकृति एक स्वायत्त रूप में निष्पन्न होती है। और किसी भी रचना की

उत्कृष्टता की जाँच अन्ततः इसी दृष्टि से हो सकती है कि वह अपने सं
स्वायत्तता को, जो उसकी आंतरिक प्राण-शक्ति की भी परिचायक है, पा
या नहीं।

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि 'सरल' जीवन को ही कहानी क
सुविधापूर्वक अंकित कर पाती है, इसका मुख्य कारण कहानी का अपन
आकार नहीं है। यह ठीक है कि आकार की संक्षिप्तता भी एक सीमा
साहित्य में (कविता में नहीं) रचना-दृष्टि को व्यक्त करने में बाधक हो
पर मुख्य बात तो कहानी का अपना रचना-विधान है। संदर्भ में
एकांकी की सीमाएँ एक-जैसी दिखायी पड़ती हैं। यथार्थ से जटिल संबंध
करने में वस्तुत: रचना की लम्बाई का उतना विधायक स्थान नहीं
कि उसके गठन का। इसीलिए लम्बी कहानी भी (स्मरणीय शरत् अ
लम्बी कहानियाँ 'सुमति', 'बिंदुर छेले', 'रेन') कहानी ही रहती हैं,
हो जातीं। दूसरी ओर आकार में छोटे उपन्यास (कामू का 'द फ़ाल
साइडर', अज्ञेय का 'अपने-अपने अजनबी', देवराज का 'बाहर-
रचना-विधान के कारण उपन्यास ही रहते हैं। मूलतः विधान और
इन दोनों दृष्टियों से कहानी, एकांकी, निबंध और गीत (अंतिम
कारण) समसामयिक जीवन-अनुभवों से जूझकर किसी रचना-दृष्टि
नहीं कर पाते; इसीलिए उनकी प्रवृत्ति अबौद्धिकता की ओर अधि
है। अपनी पुस्तक 'लॉजिक ऐंड क्रिटिसिज्म' में आई० ए० रिच
की समीक्षा करते हुए विलियम राइटर ने दो प्रकार के पाठकों की
कुछ पाठक ऐसे होते हैं जो एक साधारण स्तर पर 'सरल' तृप्ति
हैं, और कुछ दूसरे अधिक जटिल तथा श्रमसाध्य अनुभूति की
वर्गीकरण के अनुसार समसामयिक कहानी, एकांकी, निबन्ध
का पहले वर्ग में होना अधिक सम्भाव्य जान पड़ता है। पूर्व वाक
शब्द के द्वारा बात समकालीन रचनाओं तक ही सीमित कर
युगों में लिखित गीत और कहानियों के आस्वादन की प्रणाली
वहाँ ऐतिहासिक संवेदना का तत्व कार्य करेगा।

जैनेन्द्र और अज्ञेय के बाद हिन्दी की तथाकथित 'नयी
आत्मबोध से अपने को संपृक्त करने में असमर्थ रही है। उसने
कर अपने-आपको आधुनिक बनाना चाहा है। वहाँ आधुनि
भूदान, कंकर-जर्जरी या दोनों। पर वास्तविक विकास संवेद
के प्रति सम्बन्धों का होना है। और इस दृष्टि से 'नयी क
दोषि चर्चा गयी है। प्राक्-प्रेमचन्द काल से लेकर अज्ञेय
विश्लेषण किया जाये तो उनके गठ

इसप्रकार दिखायी देगा—घटनाप्रधान—कथानकप्रधान—चरित्रप्रधान—संवेदन-प्रधान। (नयी कहानी' चरित्रप्रधान की स्थिति से आगे संवेदन की प्रधानता को न स्वीकार करके, कथानक की ही प्रधानता को स्वीकार करती है) इस माने में वह जैनेन्द्र-अज्ञेय की तुलना में शायद प्रेमचन्द के ज्यादा नज़दीक है। कुछ नये कहानीकारों ने घटना के महत्त्व को कम करना चाहा है, चरम सीमा का मोह छोड़ दिया है; किन्तु अभी तक वे घटना के स्थूल रूप में ही उलझे हैं, और यथार्थ की नयी दृष्टि से कतराते हैं। पर चित्रण की स्थूल यथार्थवादी पद्धति (यहाँ 'यथार्थवादी' आदर्शवाद का उल्टा न होकर, सूक्ष्म के विपरीत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है), भाषा की सरलता-सहजता पर अतिरिक्त आग्रह, और परिणामत: भाषिक सृजनात्मकता के स्थान पर साफगोई तथा प्रत्यक्ष-कथन का प्रयोग कहानी को साहित्य की परिधि से हटाकर जनता-माध्यम (मास मीडिया) के क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर देता है। जनता-माध्यमों में व्यावसायिकता और पेशेवर हो जाने की प्रवृत्तियाँ प्रधान होती हैं, इसीलिए उनमें मौलिकता, सृजनात्मकता और प्रयोग की सम्भावना कम रहती है। एक तो कहानी की रचना-विधान समसामयिक जटिल जीवन या चिन्तन का वहन वैसे ही नहीं कर पाता, दूसरे वर्तमान युग में जनता-माध्यमों की लोकप्रियता की स्पर्धा में अपनी अबौद्धिक वृत्ति से प्रेरित होकर कहानी और भी अधिक साहित्यिक सृजनात्मकता से विहीन हो गयी है। जनता-माध्यम के रूप में वह एक उपभोग्य वस्तु बन गयी है, और उद्योग-धंधे की तरह चलती हुई, बाज़ार में माँग और खपत के सिद्धान्त से अनुशासित होती है।

जनता-माध्यमों की अपनी विशिष्ट स्थिति और संगति है, तथा उनका अपना देय है। कहानी भी रेडियो, सिनेमा टेलीविजन और पत्रकारिता के साथ सर्जनात्मकता के स्थान पर तात्कालिक प्रतिक्रिया को महत्त्व देने लगी है। प्रायः सभी जनता-माध्यम मूल कला-माध्यमों के प्रसरण की स्थिति से सम्बद्ध हैं, और वर्तमान युग में संस्कृति की उपलब्धियों के ऊपर से नीचे की ओर संचरण को संभव बनाते हैं; इसी में उनकी अपनी सार्थकता है। कहानी का कला-माध्यम से जनता-माध्यम में क्रमिक रूपान्तरण कुछ तो अपने रचना-विधान की सीमाओं के कारण हुआ, और कुछ वर्तमान जीवन की व्यावसायिक और पेशेवर मनोवृत्तियों के कारण। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कहानी का जो अंश साहित्य में है, उसे जनता-माध्यम वाले रूप से मिलाना नहीं चाहिए। कहानी के इन दोनों पक्षों में (और इन दोनों पक्षों में अब दूसरे के प्रसार की ही सम्भावना अधिक है) स्पष्ट विवेक किया जाना चाहिए, विशेष रूप से साहित्यिक मूल्यांकन के प्रसंग में।

जनता-माध्यम और कला-माध्यम के बीच मूल अन्तर सृजनात्मकता का है। कोई भी कलाकृति सृजनात्मकता की सघनतम अभिव्यक्ति होती है, जबकि जनता-माध्यमों में सृजनात्मकता कम-से-कम होती है। कहानी की सृजनात्मकता व्यापारिक

और तेजोवर दबावों के कारण विघटित हो चुकी है, और उसमें मौलिक
की सम्भावना कम हो गयी है, उसका रचना-विधान समकालीन जटिल अ
अनुभव और अंकन के लिए अनुपयुक्त सिद्ध हुआ है और मात्रिक रूप-मा
स्थान पर उर्दू की तरह के प्रत्यक्ष कथन को स्वीकार करता है, इसलि
अधिसंख्य पाठक साधारण स्तर पर 'सरल' तृप्ति की कामना करते हैं, ज
श्रमसाध्य अनुभूति की खोज नहीं करते। कहानी का उपयोग पढ़ने भी उ
मनोरंजन के लिए अधिक हुआ है, अब फिर वर्तमान युग में वह अपने
रूप से मनोरंजन से जोड़ लेती है, और जटिलता या बौद्धिकता की
जाती है। प्रायः कहानी की ही समानांतर परिस्थितियों में हिन्दी-गीत
अपनी सृजनात्मकता खोते हुए गाना (सांग) होकर जनता-माध्यमों मे
हो गया है। आंचलिकता पर बल देनेवाली 'नयी कहानी' और गीत
भाषा अपनाते हुए सृजनात्मकता से विहीन होकर मानो लोकसाहित्
दिलाते हैं; और लोकसाहित्य प्रविधि-युग के पूर्व का जनता-माध्यम है

इस प्रसंग में अब एक बहिःसाक्ष्य प्रस्तुत करना चाहता हूँ। प्रा
सामयिक साहित्यों में अधिकतर शुद्ध कहानीकारों की स्थिति काफ़ी
है—चाहे केथरीन चेम्सफील्ड का नाम लीजिये, चाहे साकी या कि अ
वे लोकप्रिय हैं, होंगे ही, पर समसामयिक साहित्यिक परिदृश्य पर
नगण्य है। इसके विपरीत जो महत्वपूर्ण रचनाकार हैं, उन्होंने यदि
लिखी हैं, तो वह उनके कृतित्व का काफ़ी छोटा और नगण्य पक्ष
कहानियाँ सार्त्र की भी हैं, कामू की भी, पास्तरनाक और हेमिंग्वे
रचनाकारों की ख्याति या महत्त्व उन पर आधारित नहीं है। ये लेख
नाटककार, कवि या विचारक के रूप में जाने जाते हैं, उनकी क
स्केचबुक के हिस्से हों। इस साक्ष्य का एक दूसरा पक्ष हिन्दी मे
कहानी' के लेखक प्रायः मात्र-अथवा-प्रसिद्ध कथाकार हैं—समस
अनुरूप संपृक्त व्यक्तित्व उनका नहीं है।

हिन्दी में कहानी का जो हिस्सा साहित्य में रह गया है, उस
ही प्रस्तुत विवेचन को समाप्त करना उचित होगा। जब हम य
कहानी आधुनिक भावबोध और समसामयिक जटिल जीवन क
अक्षम हो गयी है, तभी एक व्यंजना यह भी उभरती है कि इस
जो लेखक कहानी के क्षेत्र में सृजनात्मक प्रयोग कर सके हैं,
आधुनिकता निश्चय ही अधिक खरी और प्रामाणिक है। पर
कितने ? नामों की चर्चा करनी पड़े तो कहा जा सकता है
रघुवीरसहाय, निर्मल वर्मा, कुँवरनारायण, मनोहरश्याम जोश
—और इन सबकी प्रकाशित कहानियों

है—ऐसी हैं, जो संवेदनप्रधान हैं और जिन्होने कहानी के स्थिर माध्यम में थोड़ी गतिशीलता उत्पन्न की है। इन सभी कहानीकारो मे कुछ विशेषताएँ समान रूप से मिलती हैं—संवेदन की सूक्ष्मता, मितकथन, अमूर्तन का प्रयास और जटिल तथा 'सामान्य किन्तु संगत' अनुभवों से जूझने का उपक्रम। इनकी कहानियो मे घटना ऐसे द्रव अथवा समतुलित (न्यूट्रलाइज्ड) रूप मे आती है कि एक से अधिक स्थितियों और मन.स्थितियो की टकराहट सभव हो पाती है, और द्वद्वात्मक प्रक्रिया का अकन होता है और कहानी मे अब यदि सृजनात्मक स्तर पर जटिलता लायी जा सकती है तो यह शायद इस सूक्ष्म विधान और अमूर्तन के स्तर पर ही। स्थूल यथार्थवादी पद्धति से तो यह निश्चय ही नही हो सकता।

उपर्युक्त रचनाकारों की चर्चा यदि छोड़ दी जाये, क्योकि वे स्वीकृत अर्थ मे नये कहानीकार नही हैं, तो 'नयी कहानी' के अपने फैलाव मे मुख्यत तीन प्रकार की रचनाएं दिखायी देती हैं : (१) ऐसी कहानियाँ जो प्रचलित अर्थ मे कहानी हैं, जैसे 'जहाँ लक्ष्मी कैद है, 'आर्द्रा', 'रोशनी कहाँ है', 'कोयला भई न राख'; (२) दूसरे प्रकार की कहानियाँ चमत्कारपूर्ण शिल्पयुक्त हैं, जैसे 'राजा निरबसिया', 'पत्थर की आँख', आदि, और फिर हैं (३) सुखद रूप से कुछ अटपटी लगने वाली मन स्थितियों को अंकित करने वाली कहानियाँ; जैसे 'अदरक की गाँठ', 'प्रश्न और उत्तर', 'मैं खुद ही'। इनमे से पहले वर्ग की रचनाएं तो शायद 'नयी कहानी' की कैसी भी चर्चा के अतर्गत नही आतीं। दूसरा वर्ग शिल्पप्रधान कहानियों का है जो आकृष्ट करता है पर यह आकर्षण बहुत अस्थायी सिद्ध होता है। शिल्प-कौशल का आग्रह कहानीकारों की सहज कमजोरी रही है। पर यह बात अब अच्छी तरह समझी जाने लगी है कि, उदाहरणार्थ, 'प्रसाद' की 'मधुआ' उनकी बहुचर्चित 'देवरथ' या 'पुरस्कार' से बेहतर कहानी है; अर्थात् असंघटित शिल्प रचना की संगति को स्वयं खडित करता है। तीसरे वर्ग की कहानियो मे अनुभूति के खरेपन का कुछ आभास मिलता है। पर कहानी-क्षेत्र की प्रचलित चकाचौंध और सस्ती सफलता ने उसे आक्रांत कर रखा है, और इस प्रकार संभावना ने अपने को स्थापन में बदल लिया है पर इन सभी प्रकार की कहानियो का विधान स्थूल यथार्थवादी होने के कारण केवल एक स्थिति या मन.स्थिति में ही उलझा रहता है; द्वद्वात्मक और गतिशील प्रक्रिया का अकन नहीं करता, जो कहानी की अपनी प्रकृति और विधानगत अक्षमता है।

इस विश्लेषण और साक्ष्य से स्पष्ट हो जाता है कि कहानी को समकालीन साहित्य की समग्र स्थिति और दिशा-आधुनिकता के साथ संयुक्त कर सकने की संभावनाएँ कम हैं। और साहित्य की मूल दिशा से छिटक कर कोई काव्य-रूप फिर उसका अग नहीं बना रह सकता। हिन्दी की तथाकथित 'नयी कहानी' साहित्य मे स्वीकृत और आदृत रहने पर समकालीन संवेदना को ही भोथरा बनायेगी।

साधारण पाठक, जो इस तरह की सहज-सरल कहानियों को पढ़ने का अभ्यस्त है, कविता, उपन्यास तथा नाटक-जैसे 'जटिल' रूपों को, जितना अवधान और सक्रियता चाहिए, दे पाने में मानसिक आलस्य का अनुभव करेगा। कहानी में नयी जमीनें तोड़ी जा सकती हैं, और जैसा ऊपर संकेत किया गया, तोड़ी भी गयी हैं; पर यह प्रक्रिया अर्थशास्त्र की शब्दावली में कहना चाहें तो, अनार्थिक होगी, और दुष्कर तो होगी ही। कहानी में आधुनिक भावबोध की अभिव्यक्ति असंभव नहीं, असमाध्य जरूर है—और साहित्य में या कि साहित्य-चिंतन में भी संभव-असंभव की चर्चा नहीं हो सकती, समाध्य-असंभाव्य की ही होती है, होनी चाहिए; यहीं, ऊपरी विरोधाभास-सा लगने पर भी, जोड़ा जा सकता है कि आधुनिक भावबोध की प्रामाणिकता इससे भी जाँची जा सकती है कि क्या किसी लेखक-विशेष ने सचमुच ऐसी कहानी लिखी है, जो साहित्य की आधुनिक वृत्तियों के अनुकूल है। पुनश्च यह भी, कि कहानी का अधिकांश तो जनता-माध्यम के अतर्गत चला गया है, जो भी कुछ हिस्सा साहित्य की परिधि में शेष है उसे हम ठीक-ठीक समझें। यह कहानी के हित में तो है ही, समकालीन साहित्य की प्रकृति और दिशा समझने के लिए भी जरूरी है।

[प्रयाग में संपन्न कहानी-गोष्ठी में पठित निबंध]

नयी कहानी : लेखक के वहीखाते से

निर्मल

बीसवी शताब्दी मे साहित्य की जो विधा सबसे पहले अपने अन्तिम छोर पर आकर खत्म हो गयी, वह कहानी थी। चेखव की कहानी 'कहानी' का अन्त है—या दूसरे शब्दों में कहें, उसके बाद 'कहानी' वह नहीं रह सकेगी, जिसे आज तक हम 'कहानी' की संज्ञा देते आये हैं। आज प्रश्न चेखव की परम्परा को (इस अर्थ मे कि प्रेमचन्द की 'परम्परा' सिर्फ एक छाया है—वह अप्रासंगिक) आगे बढ़ाने का नही है, उससे मुक्ति पाने का है। सौभाग्यवश हिन्दी-कहानी के सामने ऐसी समस्या नहीं है—वह अभी चेखव से भी बहुत पीछे है।

इसीलिए जब हम 'नयी' कहानी की बात करते हैं, तो हमें कहानी की मृत्यु से चर्चा आरम्भ करनी चाहिए। हमें इससे मदद मिल सकती है—कहानी को पुनर्जीवित करने के लिए नही—बल्कि उसे अन्तिम रूप से छोड़ने के लिए। किसी ने कहानीकार के लिए कहा है—आत्मा का डिटेक्टिव। डिटेक्टिव की यह विशेषता है कि वह 'संदिग्ध' व्यक्तियों का पीछा करता है, ताकि उसका भेद मालूम कर सके। वह हमेशा पीछे है और बाहर है। जिस व्यक्ति का भेद वह जानना चाहता है, उसे वह छू नही सकता। उसके निकट नहीं आ सकता। जिस क्षण हम एक कथाकार की हैसियत से अपने इस 'बाहरीपन' को लेते हैं, कहानी की पुरानी विधा हमारे लिए निरर्थक हो जाती है। हम परिचित भूमि से हटकर एक 'न्यूट्रल ग्राउंड' मे आ जाते हैं, जहाँ हर स्थिति गोपनीय है, हर पात्र 'संदिग्ध' है।

इसलिए कोई फायदा नही, 'पुराने' लेखकों से आगे बढ़ने का। डॉन क्विग्ज़ोट की तरह हम उन पवनचक्कियों को राक्षस समझकर गिरा भी दें, तो भी हम वहीं रहेंगे, जहाँ पहले थे। जिस भूमि पर नयी कहानी को जन्म लेना है वहाँ उनकी 'पुरानी' कहानी का महत्त्व काफी कम है और हम जिसे नयी कहानी कहते आये हैं, उसका महत्त्व और भी कम।

क्योंकि अगर हम ध्यान से देखें—नयी 'कहानी' अपने में ही एक विरोधाभास है। जिस हद तक वह कहानी है, उस हद तक वह नयी नहीं है; जिस सीमा तक वह नयी है, उस सीमा तक वह कहानी नहीं है—जैसा आज तक हम उसे समझते

आये हैं। यह ज़रा आकस्मिक नहीं है, कि चेख़व के बाद हर महत्वपूर्ण 'कहानी' 'कहानी ऐज़ सच' से बहुत दूर हटती गयी है। बीसवीं शताब्दी की सबसे महान् कहानी 'डेथ इन वेनिस' सिर्फ़ एक फेबल है—या फॉक्नर की कोई भी 'कहानी' गद्य के टेक्सचर पर है एक काव्य-खण्ड, चट्टान पर खींचे गये भित्ति-चित्रों-सी जादुई है—या फिर सबसे नयी कथाकार सातालिये साहत की लम्बी कहानियाँ, जिनमें पहली बार पाठक कहानी में कहानी न होने के अजीब 'टेरर' को महसूस करता है। अगर वे कहानियाँ हैं, तो सिर्फ़ 'आत्मघाती' अर्थ में—एक फेबल है, दूसरी कविता, तीसरी एण्टी-कहानी—उन्होंने स्वयं बड़ी निर्ममता से अपनी ही विधा को तोड़ा हैं, उसके चौखटों से मुक्त होकर उन मूर्खी और कठोर और नामहीन चीज़ों को छूने की कोशिश की है, जो पकड़ के बाहर हैं।

कोशिश—क्योंकि अन्ततोगत्वा कहानी सिर्फ़ एक कोशिश है—एक डिटेक्टिव को सिर्फ़ उन सूराखों पर ही निर्भर रहना पड़ता है जो उसके पात्र पीछे छोड़ गये हैं। वे उसे एक ऐसे यथार्थ की ओर ले जा सकते हैं, जो महज़ मरीचिका हो सकती है; एक ऐसी मरीचिका से हटा सकते हैं, जहाँ अगर वह जाने का साहस करता, तो शायद कोई उपलब्धि हो सकती थी।

विलियम बटलर यीट्स की पंक्तियाँ हैं :

> अब मेरी कोई सीढ़ी शेष नहीं रही !
> मैं अब वहाँ लेट जाऊँगा,
> जहाँ से सीढ़ियाँ शुरू होती हैं,
> अपने दिल की उस दुर्गन्धमयी दूकान में,
> जहाँ सिर्फ़ चिथड़े हैं, हड्डियाँ हैं।

नयी कहानी का जन्म इसी दूकान में होगा—सिर्फ़ चीथड़ों और हड्डियों के अलावा वहाँ कुछ भी नहीं होगा...कुछ भी नहीं मिलेगा !

जब कोई कहानी में 'यथार्थ' की चर्चा करता है, तो हमेशा दुविधा होती है—वह एक पक्षी की तरह झाड़ी में छिपा रहता है। उसे वहाँ से जीवित निकाल पाना उतना ही दुर्लभ है, जितना उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना, जब तक वह वहाँ छिपा है। अंग्रेज़ी में एक मुहावरा है—'बीटिंग एबाउट द बुश'। कहानीकार सिर्फ़ यही कर सकता है—उससे अधिक कुछ करना असम्भव है। तुम अगर झाड़ी पर ज़्यादा दबाव डालोगे, तो वह मर जायेगा, या उड़ जायेगा, हम सिर्फ़ प्रतीक्षा कर सकते हैं, कभी-कभार झाड़ी को इधर-उधर कुरेद सकते हैं—किसी अजाने क्षण में जब वह हमारे प्रति उदासीन हो, उससे सम्पृक्त हो सकते हैं—लेकिन हमेशा बाहर से। यह अभिशाप हर उस लेखक के लिए है, जो कलाकार भी है। जो सही मानों में यथार्थवादी है, उसके लिए यथार्थ हमेशा 'झाड़ी में छिपा' रहता है।

हेमिंग्वे इस बात को जितनी मार्मिकता से जान पाये थे—शायद हमारी सदी का कोई कथाकार नहीं। "क्योंकि वास्तव में कहानी लिखना बहुत-कुछ बुल-फाइटिंग की तरह है—उसके बहुत नजदीक है। हर कथाकार अखाड़े में साँड के सामने रहता है—और हर बार उसके भयावह सींग—उन्हें तुम चाहे जिन्दगी कह लो, या सत्य, या यथार्थ—उसे छीलते हुए, छूते हुए निकल जाते हैं।"

इस अखाड़े के बीच रहना—शोर मचाती हुई, खून के लिए आतुर भीड़ से घिरे रहने के बावजूद—अपने में अकेले रह सकना...लिख पाना, एक अनिवार्य नियति है, जिससे भागा नहीं जा सकता। एक संघर्षशील व्यक्तित्व के लिए यह राजनीति है। मुझे समझ में नहीं आता, हम अपने समय के महज दर्शक नहीं, बल्कि भोक्ता रहने का साहस रखते हैं तो राजनीति से कैसे पल्ला झाड़ सकते हैं! हमारी शताब्दी के लिए और उसकी संस्कृति के लिए राजनीति उतना ही जीवित सन्दर्भ है जितना बायजंटीन संस्कृति के लिए धर्म, पुनरुत्थानयुगीन इटली के लिए क्लासिक ग्रीक सभ्यता! आप बायजंटीन से धर्म निकाल दीजिये—बाकी कुछ भी नहीं रह जायेगा। जिन लेखकों के लिए फासिज्म या कम्युनिज्म कोई अर्थ नहीं रखता, उनके लिए साहित्य भी कोई अर्थ रखता है, मुझे गहरा सन्देह है!

राजनीति—एक व्यवसाय या आदर्श या प्रेरणा के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवन्त निर्मम स्थिति के रूप में—जिसमें कॉन्सेंट्रेशन कैम्प हैं, नीग्रो सेग्रीगेशन है, तिल-तिलकर मार देने वाली खास हिन्दुस्तानी गरीबी है।

यह स्थिति है, समस्या नहीं। जरूरी नहीं, लेखक इनके बारे में लिखे (लेखक की क्रिएटिव अर्ज का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं), लेकिन वह इनके सन्दर्भ से अलग होकर नहीं लिख सकता। पिछले पाँच सौ वर्षों में यह सन्दर्भ तेजी से बदलता गया है—हर परिवर्तन कहानी-साहित्य में (और कविता में भी) नये प्रतीकों के लिए एक अजानी भूमि प्रस्तुत करता रहा है। फॉस्ट का जो प्रतीक गोएटे (गेटे) के लिए था, वही फॉस्ट टॉमस मान के लिए एक नये सन्दर्भ (जर्मन फासिज्म) में बिल्कुल एक नये प्रतीक के रूप में उपस्थित हुआ है। हम इन प्रतीकों से बच नहीं सकते। वे उस अन्धे की लकड़ी की तरह हैं जिसे भूमि पर टेकता हुआ वह अपना रास्ता खोजता है। "अगर हम अपने युग के सही और सच्चे प्रतीकों को नहीं खोज पाते, तो हमें फासिज्म-जैसे गलत और झूठे प्रतीकों को झेलना पड़ेगा।" (जॉन लेहमान)

और कलात्मक सौन्दर्य! हमारे समय के सबसे सुन्दर और कलात्मक वे लैंप-शेड हैं, जिन्हें यहूदियों की खाल से बनाया गया है। उन्हें देखकर कौन एस्थीट आह्लादित नहीं होगा?

यह 'टोटल टेरर' की स्थिति है...ऐसी स्थिति में अगर नयी कहानी कुछ हो सकती है तो सिर्फ—अँधेरे में एक चीख! मदद माँगने के लिए नहीं—बल्कि

मदद की हर सम्भावना को, हर सिलसिले समझौते को झुठलाने के लिए। अपने को पूर्ण रूप से इस 'टेरर' से संपृक्त कर पाना—यहीं से लेखक का कमिटमेंट आरम्भ होता है।

लेकिन—मैं दुहराकर कहता हूँ—कि यह सिर्फ सन्दर्भ है—कहानी का विषय नहीं। विषय कुछ भी हो सकता है—ड्राइंग-रूम के प्रेम से लेकर अपनी चहार-दीवारी में फर्श पर रेंगती हुई धूप को देखने तक। जहाँ तक सृजनात्मक प्रेरणा का प्रश्न है, वह हर विषय के पीछे छोटी या बड़ी हो सकती है; वह विषय स्वयं में न छोटा होता है न बड़ा। यह बात अलग है कि आज की कोई भी कृति—यदि वह महत्त्वपूर्ण है—अपने को इस 'टेरर' से, उसकी मँडराती हुई छाया से, मुक्त नहीं रख सकती।

एक शब्द अपनी कहानियों के बारे में : मैं जो कुछ चाहता रहा हूँ, वह मेरी कहानियों में नहीं आ सका है—मैंने उसे हमेशा दूसरों में ही पाया है। इसलिए जो कुछ मैंने ऊपर लिखा है, वह आनेवाली नयी कहानी के बारे में है—अपनी कहानी के बारे में नहीं। मैं अक्सर कहानियों में वही चीज सबसे अधिक चाहता रहा हूँ, जो मुझ में या मेरी कहानियों में नहीं है।

लेकिन जो 'चीज' दुर्भाग्यवश मुझ में नहीं है, या जिसे मैं स्वयं प्राप्त करने में असफल रहा हूँ, उससे वह कम महत्त्वपूर्ण तो नहीं हो जाती !

[धर्मयुग : जनवरी १९६२]

आधुनिकता और हिन्दी-कहानी

इन्द्रनाथ मदान

आज आधुनिकता एक चुनौती के रूप में सामने है। इसके स्वरूप को पहचानने और इससे जूझने के लिए अधिक प्रयास होने लगे हैं। पहले इसे प्रयोगशील तथा नयी कविता में खोजा गया है और अब आज की कहानी आँकी जा रही है। इसका मूल कारण शायद वैज्ञानिक दृष्टि का विकास है और यह दृष्टि किसी सत्य को उसके अंतिम या चरम रूप में स्वीकार करने से परहेज़ करती है, किसी खंड सत्य को चिरंतन या शाश्वत सत्य मानने से इन्कार करती है और 'शायद' शब्द का प्रयोग भी इसी दृष्टि का परिणाम है। इसलिए आधुनिकता को किसी परिभाषा में बाँधना मेरे लिए कठिन है। इससे आधुनिकता की निरंतरता में गतिरोध की संभावना है। यदि इसे किसी परिभाषा में बाँधा जाता है तो आधुनिकता के आधुनिकवाद में परिणत होने का भय है; एक नारी के नर में बदल जाने की शंका है। इसलिए आधुनिकता को एक प्रक्रिया के रूप में आँकना ही संगत जान पड़ता है। यह प्रक्रिया प्रश्न-चिह्न की है, न कि विराम-चिह्न की। और जब भी कभी किसी प्रश्न का निश्चित उत्तर दिया गया है, किसी समस्या का स्थायी समाधान प्रस्तुत किया गया है तब आधुनिकता को आधुनिकवाद में परिणत किया गया है; एक मूल्य के रूप में स्वीकारा गया है। डॉ० धर्मवीर भारती ने आधुनिक बोध को 'संकट-बोध' माना है, डॉ० रघुवंश ने इसे 'असंपृक्त यथार्थ-दृष्टि' रूप में आँका है; डॉ० नामवरसिंह कभी इसे एक प्रक्रिया के रूप में तो कभी एक मूल्य के रूप में खोज निकालते हैं; अज्ञेय इसे 'सापेक्षवाद' में आँकते हैं। केदारनाथ अग्रवाल ने आधुनिकता को 'खंडित मानव-मन की खंडित मनोदशा की खंडित अभिव्यक्ति' बताया है। इस तरह खंडित पर बल देकर आधुनिक बोध का मूल्यांकन किया है। अभिव्यक्ति यदि अभिव्यक्ति है तो वह 'खंडित' किस तरह हो सकती है? जब भी आधुनिकता को किसी परिभाषा में जकड़ने का प्रयास किया गया है तब उसमें यांत्रिकता का समावेश हुआ।

आधुनिकता के फलस्वरूप आज की स्थिति भी गति हो रही है जो पकड़ में नहीं आ रही है। यह एक जीवन-दर्शन न होकर एक जीवन-दृष्टि है, जिसमें

मदद की हर सम्भावना को, हर गिनगिने समझौते को झुठलाने के
को पूर्ण रूप से इस 'टेरर' मे सामना कर पाना—यहीं से लेखक का कवि
होता है।

लेकिन—मैं दुहराकर कहता हूँ—कि यह सिर्फ़ सन्दर्भ है—कहा
नहीं। विषय कुछ भी हो सकता है—ड्राइंग-रूम के प्रेम से लेकर अ
दीवारों मे फर्श पर रेंगती हुई धूप को देखने तक। जहाँ तक सृजनात्मक
प्रश्न है, वह हर विषय के पीछे छोटी या बड़ी हो सकती है; वह विषय
छोटा होता है न बड़ा। यह बात अलग है कि आज की कोई भी कृति-
महत्त्वपूर्ण है—अपने को इस 'टेरर' से, उसकी मँडराती हुई छाया से,
रख सकती।

एक शब्द अपनी कहानियों के बारे में : मैं जो कुछ चाहता रहा हूँ,
कहानियों मे नहीं आ सका है—मैंने उसे हमेशा दूसरो में ही पाया है।
जो कुछ मैंने ऊपर लिखा है, वह आनेवाली नयी कहानी के बारे में है—
कहानी के बारे में नहीं। मैं अक्सर कहानियों में वही चीज सबसे अधिक
रहा हूँ, जो मुझ मे या मेरी कहानियों मे नहीं है।

लेकिन जो 'चीज़' दुर्भाग्यवश मुझ मे नहीं है, या जिसे मैं स्वयं प्राप्त क
असफल रहा हूँ, उससे वह कम महत्त्वपूर्ण तो नहीं हो जाती !

[धर्मयुग : जनवरी १९

आधुनिकता और हिन्दी-कहानी

इन्द्रनाथ मदान

आज आधुनिकता एक चुनौती के रूप में सामने है। इसके स्वरूप को पहचानने और इससे जूझने के लिए अधिक प्रयास होने लगे हैं। पहले इसे प्रयोगशील तथा नयी कविता में खोजा गया है और अब आज की कहानी आंकी जा रही है। इसका मूल कारण शायद वैज्ञानिक दृष्टि का विकास है और यह दृष्टि किसी सत्य को उसके अतिम या चरम रूप में स्वीकार करने से परहेज करती है, किसी खंड सत्य को चिरतन या शाश्वत सत्य मानने से इन्कार करती है और 'शायद' शब्द का प्रयोग भी इसी दृष्टि का परिणाम है। इसलिए आधुनिकता को किसी परिभाषा में बांधना मेरे लिए कठिन है। इससे आधुनिकता की निरतरता में गतिरोध की सभावना है। यदि इसे किसी परिभाषा में बांधा जाता है तो आधुनिकता के आधुनिकवाद में परिणत होने का भय है; एक नारी के नर में बदल जाने की शंका है। इसलिए आधुनिकता को एक प्रक्रिया के रूप में आंकना ही संगत जान पड़ता है। यह प्रक्रिया प्रश्न-चिह्न की है, न कि विराम-चिह्न की। और जब भी कभी किसी प्रश्न का निश्चित उत्तर दिया गया है, किसी समस्या का स्थायी समाधान प्रस्तुत किया गया है तब आधुनिकता को आधुनिकवाद में परिणत किया गया है; एक मूल्य के रूप में स्वीकारा गया है। डॉ० धर्मवीर भारती ने आधुनिक बोध को 'संकट-बोध' माना है; डॉ० रघुवंश ने इसे 'असपृक्त यथार्थ-दृष्टि' रूप में आंका है, डॉ० नामवरसिंह कभी इसे एक प्रक्रिया के रूप में तो कभी एक मूल्य के रूप में खोज निकालते हैं; अज्ञेय इसे 'सापेक्षवाद' में आंकते हैं। केदारनाथ अग्रवाल ने आधुनिकता को 'खंडित मानव-मन की खंडित मनोदशा की खंडित अभिव्यक्ति' बताया है। इस तरह खंडित पर बल देकर आधुनिक बोध का मूल्यांकन किया है। अभिव्यक्ति यदि अभिव्यक्ति है तो वह 'खंडित' किस तरह हो सकती है? जब भी आधुनिकता को किसी परिभाषा में जकड़ने का प्रयास किया गया है तब उसमें यांत्रिकता का समावेश हुआ।

आधुनिकता के फलस्वरूप आज की स्थिति भी गति हो रही है जो पकड़ में नहीं आ रही है। यह एक जीवन-दर्शन न होकर एक जीवन-दृष्टि है, जिसमें

विसंगतियों की संभावना हुआ करती है। आज हिन्दी-कहानी तथा साहित्य की अन्य विधाओं में आधुनिकता को अधिक आँका जाने लगा है। इससे प्रेरित होकर जीवन तथा जगत् का चित्रण तथा मूल्यांकन होने लगा है। आधुनिकता की चुनौती का एक परिणाम शायद यह निकला कि हर 'वाद' अपने को नया कहने के लिए बाधित हो रहा है—जैसे, नव यथार्थवाद, नव स्वच्छन्दतावाद, नव भौतिकवाद, नव मार्क्सवाद आदि। रहस्यवाद के पहले भी नव शब्द जोड़ा गया है। इसी तरह कविता भी नयी है और कहानी भी नयी होने का दावा कर रही है। आलोचना के लिए भी नयी शब्दावलि की रचना होने लगी है। पुराने मान गिर रहे हैं, प्रतिमान टूट रहे हैं। पैसा एक बार नया होकर फिर पैसा हो गया है; लेकिन सड़कों पर अभीतक मील तथा किलोमीटर के पत्थर एक-दूसरे के विरोध में खड़े हैं। इनमें अभी तक सह-अस्तित्व की स्थिति है। इसके अतिरिक्त, आधुनिकता या आधुनिक संवेदना को विभिन्न धरातलों पर आत्मसात् करने का प्रयास हो रहा है। इसलिए एक कहानीकार का आधुनिक बोध दूसरे कहानीकार की आधुनिक संवेदना से थोड़ा भिन्न है, एक कवि की आधुनिक संचेतना दूसरे कवि की आधुनिक संवेदना से थोड़ी अलग है। एक कवि की प्रक्रिया दूसरे की प्रक्रिया के समान किस तरह हो सकती है, एक का परिवेश दूसरे के परिवेश से किस तरह समता रख सकता है? गिरिजाकुमार माथुर की आधुनिकता में नव स्वच्छंदतावादी जीवन-दृष्टि है। इसी तरह निर्मल वर्मा की कहानी में प्रायः इसी जीवन-दृष्टि का आभास मिलता है। मोहन राकेश तथा कमलेश्वर की कहानी-कला में यथार्थवादी जीवन-दृष्टि का नया स्वर है। यशपाल ने आधुनिकता की चुनौती को वैचारिक स्तर पर स्वीकारने का प्रयास किया है। इस तरह आधुनिकता कहानीकार या कवि के लिए नहीं, हर संवेदनशील व्यक्ति के लिए चुनौती है, जो विचार के नये धरातलों, भाव की नयी भूमियों, जीवन के नये संदर्भों आदि की खोज तथा इनकी अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करती है। मुझे लगता है कि इसका सूत्रपात आज से बहुत पहले हो चुका था। प्रेमचन्द की 'कफन' और 'पूस की रात' में भी इसकी स्पष्ट झलक है, अज्ञेय के 'तार सप्तक' में भी यह उपलब्ध है। इसकी अभिव्यक्ति भले ही यशपाल ने वैचारिक धरातल पर की हो या अज्ञेय ने प्रयोग पर बल देकर। निराला के व्यंग-काव्य के मूल में भी आधुनिक बोध की प्रेरणा है। परन्तु इसका महत्त्व आज शायद इसलिए बढ़ रहा है कि देश की स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जीवन में आधुनिकता का संचार अधिक तेजी से होने लगा है। इसकी अनुभूति को पश्चिम का संवेदनशील व्यक्ति पहले से पा रहा है। इसलिए भारतीय स्थिति पाश्चात्य स्थिति से थोड़ी भिन्न है। पाश्चात्य आधुनिकता के आधार पर हिन्दी-कहानी में आधुनिकता को परखना इसे मूल्य के रूप में स्वीकार करना होगा। सार्त्र या काफ्का के आधुनिक बोध के आधार पर निर्मल वर्मा, उषा प्रियम्वदा, राकेश, कमलेश्वर, मन्नू या ज्ञानरंजन की कहानी-

कला में आधुनिक संवेदना को आंकना असंगत होगा। लेकिन हिन्दी के कुछ कहानीकार आधुनिकता को केवल बौद्धिक स्तर पर आत्मसात् करने के बाद इस दौड में खरगोश बनने का परिचय दे रहे हैं। लेकिन कछुआ भी जो अपनी राह को जानता है, अपनी चाल से चल रहा है। इसलिए खरगोशों पर अभारतीयता का आरोप लगाया जाता है। इसके बारे में यह कहा जाता है कि इन्होंने आधुनिकता से केवल परिचित होने का आभास दिया है, मित्र होने का नहीं। इस सम्बन्ध में निश्चित या अंतिम मत देना मेरे लिए इसलिए संभव नहीं है कि निर्मल वर्मा या उषा प्रियंवदा ने क्रमशः 'लंदन की एक रात' तथा 'मछलियाँ' में अभारतीय परिवेश के आधार पर भी आधुनिकता से भिन्न होने का परिचय दिया है और कृष्ण बलदेव वैद, श्रीकांत वर्मा तथा रामकुमार ने क्रमशः इसे 'बीच का दरवाजा', 'झाड़ी' तथा 'एक चेहरा' की कहानियों में सहज रूप में आत्मसात् किया हुआ है। रेणु ने आंचलिकता के परिवेश में नव स्वच्छंदता के धरातल पर आधुनिकता को अभिव्यक्ति दी है। इस तरह आधुनिकता की चुनौती से जूझने के विविध प्रयास तथा विभिन्न धरातल हैं। इनमें किसी एक को आधुनिकता का ठेकेदार बनाना इसे एक मूल्य के रूप में स्वीकार करना होगा। और आधुनिकता एक मूल्य में न होकर एक प्रक्रिया है, जिसके मूल में वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि है जो समसामयिक जीवन को उसकी गति के रूप में ग्रहण करती है; प्रश्न-चिह्न को उसकी निरंतरता के रूप में आत्मसात् करती है। इसलिए इसमें विसंगतियों की संभावना है; परस्पर-विरोध की स्थिति है।

मुझे लगता है कि हिन्दी-कहानी में आधुनिकता की इस चुनौती को दो परस्पर-विरोधी दिशाओं में स्वीकार किया गया है और किया जा रहा है। इन दो दिशाओं का आभास प्रेमचन्द की 'कफन' और अज्ञेय की 'रोज़' में मिल जाता है। प्रेमचंद की कहानी में आधुनिक बोध समष्टिचिंतन, समष्टि-यथार्थ, समष्टि-सत्य की जीवन-दृष्टि से प्रेरित है और अज्ञेय की कहानी में आधुनिक संवेदना व्यष्टि-चिंतन, व्यष्टि-यथार्थ, व्यष्टि-सत्य से अनुप्राणित होने का परिचय देती है। व्यष्टि तथा समष्टि की दृष्टि से आधुनिकता को जब आत्मसात् किया जाता है तब एक में दूसरे का नितांत अभाव भी नहीं होता है। इसके बाद आज की हिन्दी-कहानी में आधुनिकता को जब व्यष्टि तथा समष्टि के धरातलों पर अभिव्यक्त किया गया है तब आज के कहानीकार इन दो दिशाओं में अपनी-अपनी पगडंडी पकड़ रहे हैं। यदि श्रीकांत वर्मा ने अपनी पगडंडी को 'झाड़ी' में पकड़ा है तो निर्मल वर्मा ने इसे 'अंधेरे बंद कमरे' में प्रशस्त किया है। मोहन राकेश तथा कमलेश्वर ने आधुनिकता को नव स्वच्छंदतावाद तथा नव यथार्थवाद दोनों रूपों में आत्मसात् किया है। इसे स्पष्ट करने के लिए मोहन राकेश की 'अपरिचित' तथा 'मलबे का मालिक' द्रष्टव्य है। इसी तरह, कमलेश्वर की कहानी 'जो लिखा नहीं जाता' में आधुनिक संवेदना व्यष्टि-सत्य के धरातल पर व्यक्त हुई है। राजेंद्र यादव आधु-

निकता की चुनौती को प्रायः शिल्प के माध्यम से पकड़ने का परिचय दे रहे हैं। रवींद्र कालिया-जैसे कहानीकार अपना नाता अकहानी से गाँठ कर आधुनिकता को आत्मसात् करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसका आभास इनकी 'एक दिन' और 'आग' नामक कहानियों में मिलता है। इसी तरह, 'सचेतन' कहानीकार आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारने का दावा 'नयी कहानी' की प्रतिक्रिया के रूप में कर रहे हैं। इनके अनुसार 'नयी कहानी' इसलिए 'अचेतन' है कि इसमें आधुनिक बोध का अभाव है। इस धारणा को 'आधार' के 'सचेतन कहानी-विशेषांक' में पुष्ट करने का प्रयास किया गया है।

इस तरह, आधुनिकता प्रश्न-चिह्न की एक प्रक्रिया है जिसकी निरंतरता को प्रेमचंद से लेकर आज तक दो परस्पर-विरोधी धरातलों पर हिन्दी के कहानीकारों ने पकड़ने का प्रयास किया है। यह प्रयास कहानीकारों तक सीमित न होकर कविता में भी उपलब्ध होता है। एक धरातल का सम्बन्ध व्यष्टि-सत्य, व्यष्टि-यथार्थ, व्यक्ति-हित की जीवन-दृष्टि से है और दूसरे का समष्टि-सत्य, समष्टि-यथार्थ, समष्टि-मंगल से। अभी तक इनमें सह-अस्तित्व की स्थिति मिलती है। लेकिन कभी-कभी इन जीवन-दृष्टियों में पारस्परिक विरोध शांत होने का भी आभास मिल जाता है। इस बात को थोड़ा स्पष्ट करने के लिए कुछ ही उदाहरण दिये जा सकते हैं और अनेक छोड़ने ही पड़ते हैं। 'कफ़न' और 'रोज़' के उदाहरण दिये जा चुके हैं। पहली कहानी में आधुनिकता समष्टि-सत्य के संदर्भ में आत्मसात् है और दूसरी में व्यष्टि-सत्य के धरातल पर। उषा प्रियंवदा की *'ज़िंदगी और गुलाब के फूल'*, मन्नू भंडारी की *'यही सच है'*, राकेश की *'मिस पाल'*, कमलेश्वर की *'नीली झील'*, निर्मल वर्मा की *'परिंदे'*, रेणु की *'तीसरी क़सम'*, राजेन्द्र यादव की *'टूटना'*, रामकुमार की *'सेलर'*, ज्ञानरंजन की *'फ़ेंस के इधर और उधर'*, दूधनाथ सिंह की *'रक्तपात'*, कृष्णा सोबती की *'मित्रो मरजानी'* आदि कहानियों में आधुनिकता की अभिव्यक्ति व्यष्टि-सत्य के संदर्भ में हुई है और यशपाल की 'परदा', अमरकांत की 'ज़िंदगी और जोंक', भारती की 'गुलकी बन्नो', रांगेय राघव की 'गदल', राकेश की 'मलबे का मालिक', भीष्म साहनी की 'सिफारिशी चिट्ठी', शेखर जोशी की 'बदबू', मार्कण्डेय की 'दाना-भूसा' आदि कहानियों में आधुनिक संवेदना को समष्टि-सत्य के धरातल पर पकड़ा गया है। इस कहानी-सूची में विस्तार तथा संकोच की भी संभावना है। वह इसलिए कि समष्टि तथा व्यष्टि की जीवन-दृष्टि इतना महत्त्व नहीं रखती जितनी कहानी की संश्लिष्टता। यह संभव है कि किसी कहानी में इसका अभाव हो।

इस तरह हिन्दी-कहानी आधुनिकता की चुनौती को अलग-अलग धरातलों पर आत्मसात् करने का परिचय दे रही है। कहानी में 'कलात्मक स्वाद' का होना साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्त्व रखता है, इसका एक संश्लिष्ट 'रचना' होना

अधिक मूल्य रखता है। 'रचना' शब्द भी ऐन ठीक नहीं लग रहा है। इसका आशय शास्त्रीय रचना नहीं, रचना का अभाव भी रचना का रूप हो सकता है। प्रेमचंद से ही शास्त्रीय रचना के नियम टूटने लगे थे; नख-शिख की दृष्टि से चुस्त एव दुरुस्त कहानी आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारने में अक्षम सिद्ध होने लगी थी। अगर मैंने किसी कहानी को पसंद या नापसद करने का साहस किया है तो इस तरह राय देने से मैंने आत्मनिष्ठ होने का परिचय दिया है। और शायद हर पाठक इस तरह आत्मनिष्ठ होने का परिचय देता है। डॉ॰ अमिवरसिंह जब 'लदन की रात' में ही आधुनिकता की अभिव्यक्ति पाते हैं तब वह आधुनिक सवेदना को एक प्रक्रिया के रूप में आंकने का परिचय देते हैं। मुझे तो अज्ञेय की 'रोज', देवेन गुप्त की 'अजनबी समय की गति', रवीद्र कालिया की 'त्रास' और ज्ञानरजन की 'शेष होते हुए' में भी आधुनिकता की अभिव्यक्ति नजर आती है। मैंने तो केवल कहानी की राह से गुजरने का प्रयास किया है—एक अध्यापक की दृष्टि से नहीं एक शिष्य की दृष्टि से, जिसके संस्कार अभी रूढ़ नहीं हुए है, जिसके पास कला के शाश्वत नियम भी नहीं हैं। वे क्या हैं, वे सब तरह के हैं। मेरे लिए हर कहानी, हर कृति यदि वह अनुकृति नहीं है, अपने-अपने कला-नियमों को लिये हुए है। आधुनिकता की चुनौती को हर सवेदनशील व्यक्ति अपने परिवेश में स्वीकार रहा है; हर कहानीकार अपने सदर्भ में आधुनिक सवेदना को व्यक्त कर रहा है। और उसकी राह से गुजरकर ही उसे पहचाना जा सकता है।

[माध्यम, १९६५]

✓कुछ नये कहानीकारों की कहानिय

नयी कहानी एक ऐतिहासिक सन्दर्भ की उपज है—
और परम्परा से पृथक् है—एप्रोच, निर्वाह और दृष्टि के
युग के अनुभूत वास्तव के सारे अन्तर्विरोध, प्रवंचना अ
और अभिव्यक्त किया है। वह एक साथ ही मूल्य-भंग अ
कहानी है। उसकी तात्कालिक परम्परा में जिन उपलब्ध सत्यों
सिद्ध मानकर विवरण और वर्णन से सजा दिया गया था या जि
विश्लेषण और निष्कर्षवाद का जामा पहनाया गया था उन्हें (
तथ्यों का) नयी कहानी ने अधिक गहराई में जाकर, अधिक व्या
से, स्वस्थ और तटस्थ दृष्टि से देखा और उनकी प्रक्रिया
प्रक्रिया से होते हुए पाठक भी उन तक अनुभव और अनुभूति
पहुँच सके। व्यतीत 'सामाजिकता जागरूकता' जहाँ एक वि
प्रणाली, एक 'कंडीशंड मस्तिष्क' का परिणाम थी, वहाँ अब
की सम्पृक्त चेतना और निरन्तर भोगते हुए 'सेल्फ' का परिणाम अ
इसलिए जहाँ पहले वह आरोपित लगती थी वहाँ अब वह हमारी
शीलता और अनुभूति का अविभाज्य अंग है।

लेकिन नयी कहानी में रचनात्मक मूल्यों का जितना और
हुआ, उसके समानान्तर आस्वाद का धरातल और मूल्यांकन का विवेक
हो पाया इसीलिए नयी कहानी के अस्तित्व पर दावा करने वाले पुरान
ही नहीं, नयी पीढ़ी में भी मिलते हैं। उस पर भी नयी चर्चाओं की
कारण व्यक्तिगत या वर्गीय सिद्धान्तों के दुहराने में एक पूरी-की-पूरी उ
बारे में भ्रम फैला हुआ है।

इसी का परिणाम है कि एक प्रवृत्ति और धारा, दूसरी के प्रति
और यही स्पष्ट नहीं हो पा रहा है कि नयी कहानी
किर करता है, नयी कहानी

सचेतना और भाव-बोध की कहानी है। यहाँ जिन प्रवृत्तियों,कहानियों और लेखकों का उल्लेख किया जायगा,वह नयी कहानी पर मात्र एक विहंगम दृष्टि, एक सिंहावलोकन है, अतः इसकी जो भी सीमा है, वह मेरी अपनी सीमा है, नयी कहानी की नहीं। इस सीमा के बाहर भी नयी कहानी का अस्तित्व है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

परम्परा और कला-सचेतना : प्रतीक्षा : राजेन्द्र यादव

अपने-आपको पुरानी परम्परा से पृथक् रखने या उसका विकास करने की एक सायास और जागरूक चेतना राजेन्द्र यादव में है। पिछली परम्परा की व्यापक सामाजिक जागरूकता ने जहाँ यादव की रचना को एक प्रगतिशील स्वभाव प्रदान किया है, वहीं उनके आधुनिक भाव-बोध और कला की परिष्कृत और सूक्ष्म संवेदनाएं भी यादव ने संयुक्त की हैं। वे सामाजिक प्रश्नों और समस्याओं को किसी एक ही दृष्टि से उठाने के बजाय समग्र और व्यापकता में उठाने के आदी हैं और संघर्षों को चेतना के अधिक-से-अधिक स्तर और आयाम में देखने के साथ ही एक व्यक्ति की ट्रेजेडी या उसका मानसिक उद्वेलन और अन्तर्विरोध भी वहाँ उतने स्थूल धरातल और विभक्त इकाई के रूप में नहीं आता। उसके बहुत बारीक रेशे व्यापक परिवेश से अन्तर्प्रेरित और अन्त:ग्रथित होते हैं, इसीलिए उनकी कहानियों का निर्वाह बहुत सूक्ष्म और प्रभाव बुनावट की ही तरह जटिल होता है। वे अज्ञेय और जैनेन्द्र से अधिक सामाजिक यथार्थ के लेखक हैं लेकिन यशपाल-निकाय के लेखकों से अधिक गहनतम अभिप्रायों के भी। इसी तरह अपने समकालीनों में जहाँ वाच्यात्मक रूप और विषय-सम्बन्धी एकरसता से वे अधिक विविध, जीवन्त और सामाजिक दायित्व-बोध-पूर्ण हैं, वहीं इकहरी बुनावट वाली लक्ष्योन्मुख कहानियों के विषय और पात्रों की तरह व्यक्ति और परिवेश की आन्तरिक चुनौतियों से कतराने की विवशता भी वहाँ नहीं है। दरअसल, वे इन दोनों ही रचना-सचेतनाओं के बीच एक सेतु की तरह हैं और यही पूर्व परम्परा का विकास और उसकी निरन्तरता को सार्थक करना है। 'खेल-खिलौने','जहाँ लक्ष्मी कैद है','पास-फेल' आदि के साथ ही 'प्रतीक्षा', 'टूटना', 'सुराबू', और 'एक कटी हुई कहानी' को रखकर देखा जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। इधर उनकी कहानियाँ 'एक मन:स्थिति' को लेकर अधिक चली हैं, और 'प्रतीक्षा' एक विशेष मन स्थिति की कहानी है। उसका हर पात्र दुहरी ज़िंदगी जीता हुआ अपने-अपने अवसर की प्रतीक्षा में है लेकिन उस सबकी यातना, आशंका, तनाव और अकेलेपन की पीड़ा गीता ही भोग रही है। नन्दा के प्रति उसका आकर्षण, प्रेम और उसके स्तर, उसके अंतर्विरोध और अंतर्द्वन्द्व को ही बताते है। एक ओर उसके प्रेम में समलैंगिक प्रवृत्ति है, दूसरी ओर वह सपत्नी-भाव जगाती है और तीसरी ओर तृप्ति का तन्मय सुख, सार्थकता

की एक अनुभूति दे जाती है। एक ओर उसका अ
वर्तमान की आशंका उसे साथे जाती है—एक स्व
की अनुमति उसे साथ-साथ है। कभी वह नन्दा में ता
कभी उसके प्रेमी हर्ष से और कभी अपने अकेलेपन क
लेकिन गीता की ट्रेजेडी, मनोविश्लेषण के प्रयोगों बा
आगे बढ़कर आधुनिक व्यक्ति के आत्मिक और नैतिक
यह केवल निरुरी प्रतीक्षा की कहानी नहीं है बल्कि
वोतन्त्र' से निकलकर एक ऐसे बिन्दु पर खड़े लोगों की
किसी नये नैतिक धरातल की खोज में आकुल हैं। क
किन्हीं भी दो पात्रों के सम्बन्ध 'नैतिक नहीं हैं और उन्हें
की अनुमति उनमें नहीं है, बल्कि ऊपर से देखने पर तीनों
स्वार्थ-दृष्टि से अपने-अपने अवसर की प्रतीक्षा में हैं। मूल्यों
इम्मोरल से आगे मूल्यहीन या 'अ-मोरल' धरातल पर खड़े
संक्रमण से उत्पन्न एक 'वैकुअम' में एक नैतिक धरातल की
और क्या यह दुहरी जिन्दगी, जीने की यातना, यह नैतिक स
वैकुअम केवल किसी एक पात्र का है? क्या वह उस समाज
भी नहीं है जिसमें ये पात्र रह रहे हैं? गीता क्या केवल ए
यादव की आदत है कि वे किसी एक सामाजिक या मानसिक
उनका सारा 'फोकस' एक पात्र पर (में) कर देते हैं और उसे ही
कर बारीक-से-बारीक पक्ष उभारते हुए उसे ही इतनी सम्पूर्णता
चित्रित करते हैं कि लगता है, वहाँ व्यक्ति ही प्रधान है, वह व्यक्ति
और वातावरण से संयुक्त है, उसका बहुत अप्रत्यक्ष सूत्र ही बच
दृष्टि से शिल्प के प्रति उनकी अतिरिक्त जागरूकता जहाँ उनकी
एक ऊँचा कलात्मक स्तर देती है, वहीं यथार्थ की पकड़ उसके मूल्
तात्कालिक मोह का एहसास भी जगाती है।

युग और व्यक्ति की सापेक्षिक अभिव्यक्ति : मलबे का मालिक : मोहन राकेश

इसके विपरीत राकेश में अपने समय की आत्मा को ठीक से अभि
पाने के लिए निरन्तर एक पुनर्गठन की प्रक्रिया मिलती है। परिवर्तन की
आकांक्षा, वर्तमान में जीने का दर्शन और साहित्य (की कम) और स
(अधिक) जीर्ण-शीर्ण मर्यादाओं को तोड़ने की, उनसे उन्मुक्त
पहले संग्रह से ही मिलने लगती है

लेकर हर घटना और पात्र के साथ एक आत्मीयता स्थापित कर के—क्रमशः विकसित होती गई है। जीवन का अविकल गतिशील अंकन, उसके माध्यम से किसी अन्तर्निहित ठोस यथार्थ का सृजन, सहज अनुभूति के साथ कई स्तरों पर निर्वि-रोध और तर्कहीन वैयक्तिक और सामाजिक यथार्थ की खोज, उसके संदर्भों का उद्घाटन और अन्ततः पूरे युग की कथा-व्यथा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न उनकी कहानियों का मूल स्वर है। उनमें युग के सामाजिक यथार्थ और वस्तु-सत्य के संदर्भ में जीवन की बहुमुखता प्रतिबिंबित है, बदलते हुए विश्वासों की गति उनकी चेतना और एक सशक्तशील दृष्टि निखरी है, लेकिन मूल्यों की इस संक्रांति में भी, विघटन और स्खलन की गति और टूटन-बहते विश्वासों की कगार पर भी एक आन्तरिक मानवीय आस्था और निष्ठा एवं दृष्टि का संकेत भी उनकी कहानियों में मिलता है। इसका कारण यह है कि उनका धरातल नितान्त वैयक्तिक नहीं, सामाजिक है, इनका वैयक्तिक लगने वाला स्वर भी मूलतः सामाजिक ही है जिसे कहानी की सारी स्थिति उभारती है। बात यह है कि अपने ही पात्रों के बीच कहानी-कार एक ऐसा माध्यम ढूँढ़ लेता है, जो कहानी की सारी अन्तर्कथा सम्पन्न करा देता है; जहाँ पाठक दर्शक से आगे बढ़कर स्वयं भोक्ता बन जाता है और कहानी उसकी अपनी संवेदना का अंग बन जाती है (यह पात्र या माध्यम ही वह संकेत होता है, जो कहानी को सीमित सन्दर्भों से उठाकर व्यापक धरातल दे देता है। बिना किसी साहित्यशास्त्रीय व्याख्या के सांकेतिकता का यही विस्तार है) और लगता है कि पात्रों और स्थितियों के प्रति एक अजब क्रूर तटस्थता बरत रहा है। सहज यथार्थ को प्रस्तुत करने वाले लेखकों के साथ अक्सर ऐसा ही होता है। वे वस्तुस्थिति और समस्या को उनके सही रूप में बिना उनकी तात्कालिकता और तीव्रता नष्ट किये प्रस्तुत करते हैं।

'मलबे का मालिक' में लेखक रक्खे पहलवान या बूढ़े गनी—किसके साथ है? या दोनों में से वह किसी की कहानी है? यह उन दोनों की कहानी होते हुए भी केवल उन्हीं की नहीं, विभाजन की विभीषिका से बचे हुए उस मलबे की है जो हमारे सामने आज भी ज्यों-का-त्यों पड़ा है और जिसकी चौखट की सड़ी लकड़ी के रेशे झर रहे हैं। *रात की खामोशी के साथ मिली हुई कई तरह की हल्की-हल्की आवाज़ें उसकी मिट्टी में से निकल रही हैं—हल्की, लेकिन उतनी ही संजीदा!* उसमें मलबे का भी अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व उभरता है और हमारी चेतना उस जड़ में सम्पृक्त होती हुई, समस्त उस अतीत में घूमती हुई बार-बार वहीं लौट जाती है। उसकी अपील में भावनाओं को आन्दोलित करने और सहज मानवीय संवेगों को झकझोरने की शक्ति है। राकेश की अन्य कहानियों की ही तरह उसका रचाव सांकेतिक और निर्वाह में सक्षम है। उसका कैनवास भी काफी व्यापक और वस्तु के धरातल पर कोई असामान्यता या चमत्कार नहीं, लेकिन वहाँ एक नगर,

कई-कई सम्बन्धों और हालातों का प्रतीक है। मूल्य-भंग और निर्माण के
यह कहानी है जहाँ [कई इमारतें तो फिर से खड़ी हो गई हैं, मगर जगह-ज
का ढेर अब भी मौजूद है, नयी इमारतों के बीच अजीब ही वातावरण प्रस्तु
है—जिनमें से एक केंचुआ (?) सरसराता है, अपने लिए सूराख ढूंढ़ता हुआ
सा गिर उठाता है मगर दो-एक बार गिर पटककर और निराश होकर दूसरी
मुड़ जाता है।) इस संकेत को स्पष्ट करने की जरूरत नहीं है। यह मलबा
टूटते और टूटे मूल्यों की सारी कहानी सुना देता है। रक्खे पहलवान की ही त
हमारा एक वर्ग आज भी इन टूटे मूल्यों के मलबे पर, उसे ही अपनी जागीर समझ
हुआ, बैठा है जबकि वह मलबा न तो उसका है, न गनी का; वह तो इतिहास
हो चुका, अब तो उसे इतना ही चाहिए, क्योंकि यही इतिहास और युग-जीवन
प्रक्रिया है। जो यह कहते हैं कि राकेश की कहानियों में जीवन की पीड़ा और दर्द
है लेकिन उपलब्धि और विद्रोह नहीं, उन्हें कहानी के इस आशय को भी ग्रहण
करना चाहिए।

बदली हुई मन:स्थितियों की कहानी : नीली झील : कमलेश्वर

लेकिन यह विद्रोह और उपलब्धि फिर विशेष मन.स्थितियों की उपज है, यह
कमलेश्वर की कहानियाँ बताती हैं। मैंने कहा है, और फिर दुहराता हूँ कि कमले-
श्वर एक ऐसा लेखक है जिसके यहाँ हिन्दी-कहानी की पूरी यात्रा, लगभग हर
मोड़ की पूरी प्रतिनिधि कहानी, मिल सकती है और परम्परा से अन्तर ही नहीं,
उसके विकास की दृष्टि से भी ये कहानियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। इस लिहाज से, हिन्दी-
कहानी की परम्परा को उन्होंने आत्मसात् किया और उसे अलग-अलग भोगा है।
उनकी सारी कहानियाँ कथ्य और शिल्प के स्तर पर ही नहीं, भाव-बोध और
चेतना के स्वर पर भी एक क्रमिक और अनुवर्ती संक्रमण की द्योतक हैं। उनकी
प्रारम्भिक और परवर्ती कहानियों की तुलना की जाय तो एक आश्चर्य-मिश्रित
कौतूहल होता है—कहाँ थानेदार साहब और गाय की चोरी और कहाँ नीली
झील और खोयी हुई दिशाएँ। लेकिन इनके पीछे रचना-संचेतना की वह प्रकृति
है जो निरन्तर अपने वृत्त छोड़ती और सीमाएँ बढ़ाती है, वर्तमान जीवन के अन्त-
विरोध और द्वन्द्व-संक्रांति या क्राइसिस की स्वयं सम्पूर्ण और पृथक्-पृथक् चेतना
संवेदना की तड़प है। उनमें भाव-बोध और चेतना के साथ ही रूप और शैली
भी एक ही स्तर नहीं है। वह अधिकांशत: विभिन्न, पृथक् और अन्तर्विरोधी
वे पहले परम्परा और परिवेश-बोध के प्रति, फिर परिवर्तित सामाजिक सन्दर्भ
यथार्थ के प्रति और फिर रूप और शिल्प के प्रति जागरूक रहे हैं और खोयी
दिशाएँ में वे बदली और बदलती हुई मन.स्थितियों के प्रति

आज जब कमलेश्वर का नाम आता है तो उनकी 'राजा निरबंसिया' और 'नीली झील' की बेसाख्ता याद आती है। राजा निरबंसिया से एक बात स्पष्ट हुई कि जीवन की विविध और विरोधी संवेदनाओं, उसके अन्तर्बाह्य संघर्ष और संक्रान्ति को अभिव्यक्त करने के लिए कहानी का पुराना ढांचा और शिल्प बदलने की आवश्यकता है। इसीलिए राजा निरबंसिया दृष्टि या चेतना से अधिक रूप (फॉर्म) के संक्रमण (ट्रांजीशन) की प्रतीक है।

यही संक्रमण पूरी तरह से 'नीली झील' में है और कमलेश्वर की विशिष्ट तथा प्रतिनिधि कहानियों में जिसकी गणना होती है, लेकिन यही कमलेश्वर का सही परिचय नहीं है, वह तो उनके एक 'फेज' की प्रतिनिधि-कहानी है, 'खोयी हुई दिशाएँ' और 'एक अश्लील कहानी' दूसरे फेज की। संवेदना के कई स्तरों और धरातलों पर मुक्त प्रवाह के कारण 'नीली झील' विशेष प्रसिद्ध हुई। वह एक साथ ही जीवन और सौन्दर्य, वास्तविक धरातलों पर फलीभूत होती है और अपने-आप में एक प्रतीक बन जाती है। यह शिल्प और रूप के साथ ही कमलेश्वर की कहानियों में एक सम्पूर्ण चेतना के संक्रमण की द्योतक है। वातावरण का आप्लावनकारी, अभिभूत कर देने वाला चित्रण, उसकी बारीक-से-बारीक उदास धड़कनों का पोर-पोर में उतर जाना और सौन्दर्य की एक अतृप्त प्यास अपना सब-कुछ देकर किसी अतीत के क्षण में वर्तमान का तादात्म्य स्थापित कर जुड़े रहने का मोह 'नीली झील' में मूर्त है। महेश पाण्डे की एक भूख है—अनाम-सी भूख—शायद शारीरिक, लेकिन वस्तुतः वह सौन्दर्य की भूख है जिसकी रक्षा के लिए वह लोगों को धोखा तक देता है, उनके रुपये हजम कर जाता है और इस सौन्दर्य में मानवीय ही नहीं, एक मानवेतर व्यापक करुणा का सौन्दर्य है—नीली झील इसी का प्रतीक है और हिन्दी में बहुत कम ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें वातावरण से इतनी अधिक सम्पृक्ति मिलती है (ऐसा ही अभिभूत कर देने वाला, भय का संवेदन-सा जगा देने वाला प्रकृति और वातावरण का सौन्दर्य बंगला उपन्यास 'आरण्यक' में भी मिलता है)। वस्तु-सत्य की फिक्र इसमें नहीं है, अनुभूति की वास्तविकता और विषय की तथ्यात्मकता भी गौण है, एक सौन्दर्यानुभूति है जो सारी कहानी में फैली है लेकिन फिर भी चरित्रों की रेखाएँ और वातावरण के हल्के-से-हल्के स्पन्दन, अवसाद और उल्लास के आपस में मिले-घुले रंग गोली की टूटती आवाज़ों के बीच पक्षियों के कातर शोर की गूँज और परों का हल्का-हल्का स्वर तक—मूर्त है और यह संवेदना के साथ ही निरीक्षण की शक्ति को भी द्योतक है। इसमें (सौन्दर्य) संवेदना के धरातल पर लेखक की चेतना का एक सूक्ष्म संक्रमण मिलता है और 'कस्बे के कहानीकार' की यह अंतिम उपलब्धि है क्योंकि इसी में उस वृत्त को छोड़ने की प्रक्रिया भी मिलती है।

नवांचलों का कथा-गायन : तीसरी कसम : फणीश्वरनाथ 'रेणु'

संवेदना और निरीक्षण की यह शक्ति रेणु में एक दूसरे धरातल
है। रेणु का आगमन हिन्दी-कथासाहित्य में एक धूमकेतु की तरह हुआ
उन्होंने महत्त्व के निम्नरों का स्पर्श किया। इसका प्रधान कारण नये-न
की तलाश थी—नये अंचल केवल वस्तु के क्षेत्र में ही नहीं, भाषा और स
भी। यों ग्रामकथाएँ पहले भी थीं और प्रेमचन्द ने तो इस ओर अपनी कथ
को मोड़ा भी था, लेकिन जैसा कि मैंने 'आलोचना : २४' में ही कहा है, रे
परम्परा की अग्रिम कड़ी हैं और कई अर्थों में वे प्रेमचन्द से आगे बढ़े हुए हैं। प्र
जीवन का यथार्थ चित्रण तो दोनों में है, लेकिन प्रेमचन्द में जहाँ ग्राम्य जीव
सहानुभूति है, वहाँ रेणु में आत्मीयता और तादात्म्य है। वे गहरे उतरकर
जीवन की समस्याओं और उसके सम्पूर्ण और समग्र व्यक्तित्व को उभारते हैं-
एक दर्शक की हैसियत से नहीं, एक भोक्ता की हैसियत से, उन्हीं में से एक होकर
इसीलिए उनके लिए उनकी आत्मा में एक कम्पन और विक्षोभ है। उनमें अनुभूति
की वास्तविकता का ताप है, उनमें जीवन की वास्तविक प्रक्रिया की स्वर-लिपियाँ
है। उनकी कहानियों में उद्दाम जिजीविषा और गहरी मानवीयता है—जनजीवन
के गहरे आत्मीय संस्पर्श और उस जीवन की व्याकुल अकुलाहट। एक स्तर पर वे
कहानियाँ हैं—किस्सागोई का नया संस्कार; दूसरे स्तर पर वे कहानियाँ कम,
चित्र अधिक हैं और तीसरे स्तर पर उग्र-मधुर स्वरों में बँधे जीवन-राग। इनमें
कथा की परिपाटी है—रोचकता की दृष्टि से—लेकिन कहानी की-सी अन्विति
और एकता नहीं। अनुभवों का बिखराव और प्रभाव-बिम्बों की एक कतार जिसमें
कहानी के सारे शास्त्रीय तत्त्व ओझल-से हैं। इनकी योजना औपन्यासिक है—बहु-
पात्र, बहु-घटनाएँ और कई छोटे-छोटे भावचित्र, कई बार एक-दूसरे से असम्बद्ध
और पृथक्-पृथक् कथांश। घटनाओं का दुर्निवार प्रवाह और अभिभूत करने
वाले दृश्यों की कतार। लेकिन अन्त में पहुँचकर सब एक ही विशेष मुहूर्त को
रूपायित करने वाले। यह रेणु के निर्वाह की सबसे बड़ी शक्ति है।

'तीसरी कसम' अर्थात् 'मारे गये गुलफाम' इस ग्रामीण परिवेश की सामान्य
गाथा है। हीरामन के साधारण जीवन में संवेदन की अभूतपूर्व घड़ी आयी थी और
उसका हृदय, उस स्मृति को संजोये आज भी पुलक अनुभव करता है, लेकिन उस
पुलक में कहीं एक मीठी-सी कसक भी है। कहानी की पूरी अन्तर्यात्रा में एक अनाम
मर्म, कोमलता और मिठास है, लेकिन शेष है—"मरे हुए मुहूर्तों की गूँगी आवाज़ें,
जो मुखर होना चाहती हैं।" कथा-वस्तु के धरातल पर शायद इसमें कोई भी
असामान्यता नहीं है, लेकिन फिर भी सर्वश्रेष्ठ नयी

होती है—इसका कारण रेणु का ऐप्रोच और निर्वाह है। यों यह ऐसे जीवन की घटनाओं और चरित्रों का चित्र है जिसके विश्वास पुरातन और रोमांटिक हैं, मगर यहाँ घटना और चरित्र गौण हैं, उनकी आन्तरिक संवेदनाएँ ही प्रमुख हैं। पूरी कहानी हीरामन के अकेलेपन की तीव्रतम अनुभूति को सध्वनित करती है—मेले में, अपने साथियों के बीच और लौटती हुई सड़क पर वह एक रिक्तता से भरा है—'जारे जमाना' को दुहराता हुआ अपने अतीत से कटना चाह कर भी बार-बार वह वहीं लौट जाता है, उस एक बिन्दु पर जहाँ उसकी रिक्तता का कोष है। अपने परिवेश के भीतर चरित्रों की छोटी-से-छोटी प्रतिक्रिया को एक सम्पृक्त आत्मीयता और रागात्मक तल्लीनता से रेणु ने व्यंजना प्रदान की है। यहाँ वह बिन्दु नया है जिस पर इसका जीवन और कथा-वस्तु केन्द्रित है। अकेलेपन की अनुभूति एक दूसरे स्तर पर यहाँ उभरती है। उसके चरित्रों की मानसिक बनावट में कोई असाधारणता नहीं है लेकिन उनकी व्यंजना में, उस परिवेश के चित्रण में संगीत के स्वरों की-सी सूक्ष्मता और सांकेतिकता का योग असाधारण है; उसकी वस्तु और चरित्र नये नहीं हैं, परिवेश नया है, उसमें जीने वाले पात्रों की प्रतिक्रिया का स्वभाव और जीवन को देखने का तरीका, कुल मिलाकर उनकी संवेदनाएँ असाधारण और नयी हैं—और सर्वोपरि है रेणु का निर्वाह, जिसमें अन्वित प्रभाव की ओर कोई भी प्रत्यक्ष प्रयत्न उन्होंने नहीं किया है, संगीत के सूक्ष्म स्वर की ही तरह संवेदना के स्तर पर एक-एक प्रतिक्रिया अपना प्रभाव छोड़ती चलती है और अन्त में सब एक घनीभूत प्रभाव में घुल-मिल जाते हैं और कहानी संगीत की अशरीरी धुनों या चम्पा के फूल की महक-सी चेतना पर छा जाती है।

सहज मानवीय संवेदना : ज़िन्दगी और जोंक : अमरकान्त

श्री भैरवप्रसाद गुप्त ने एक बार कहा था कि "अमरकान्त के नाम के बिना आज की नयी कहानी की कोई भी चर्चा अधूरी है।" जब कहानी में काव्य-धर्मा, बिम्ब-संकेत और संगीत के राग की तलाश हो रही थी तब अमरकान्त की कहानियों ने इनमें से किसी की भी फ़िक्र किये बिना अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। इसका कारण उनकी कहानियों की न तो असामान्यता है, न असाधारणता, निहायत ही साधारण कहानियाँ वे हैं लेकिन उनकी पृष्ठभूमि में वह सहज मानवीय और यथार्थवादी संवेदना है, जो बिना किसी कला और 'आर्टिस्ट्री' के अभिभूत करती और अपने सहज प्रवाह में पाठक को 'ड्रिफ्ट' (उनकी कहानियों को पढ़ते हुए मन पर पड़ने वाले प्रभाव के लिए इससे अधिक उपयुक्त शब्द मुझे नहीं मिला) कर जाती है। इस ड्रिफ्ट में जो आभासहीनता और सादगी, साथ ही एक दुर्निवार धारा का तेज़ प्रवाह है, वही अमरकान्त की शक्ति है। उनकी शैली जितनी

सीधी, सरल और निर्व्याज है, जितनी शिल्पहीन सादगी है, उतनी अन्तर्दृष्टि और तरल मानवीय संवेदना भी। कथावस्तु और पात्रों के प्र[illegible] रागात्मक सम्बन्ध उतना ही निविड़ है। उनकी कहानियों में वस्तु-पात्र [illegible] का कोष ही इतना प्रत्यक्ष (डायरेक्ट) और सहज है कि वही सहजता और अभिव्यक्ति तक ज्यों-की-त्यों चली आती है—सहज अनुभूति की सहज अभि[illegible] कहीं कोई दुराव-छिपाव नहीं, कहीं कोई उलझाव-कटाव-छंटाव नहीं। यथ[illegible] सशक्त और जीवन्त चित्रों का नन्हे-नन्हे ब्योरों में यथार्थवादी चित्रण। ये कहा[illegible] ऐसी है, जो बिना किसी विशेष आग्रह के जीवन की एक उद्दाम मानवीय जिजीवि[illegible] को मूर्त करती हैं और सामान्य जीवन में ही विराट् संवेदनाएं उभारती हैं। नर्व[illegible] आर्थिक परिस्थितियों से जूझता मध्यवर्गीय समाज, उसकी विडम्बनाएँ, पीड़ाए[illegible] प्रवंचनाएँ और जीवन की भूख का जैसा मर्मस्पर्शी चित्रण अमरकान्त ने किया है, वह हिन्दी-कहानी की विकासशील मूल जातीय परम्परा की अगली कड़ी है।

'दोपहर का भोजन', 'डिप्टी-कलेक्टरी', 'जिन्दगी और जोंक' अमरकान्त की एक-दो नहीं लगभग सभी कहानियों का धरातल और स्तर एक ही है। 'जिन्दगी और जोंक' में साधारण से भिखमंगे रजुआ के जीवन की असाधारण व्यथा का जिस मर्मस्पर्शिता—संवेदना—से चित्रण हुआ है, वह जीवन का एक ऐसा टुकड़ा पेश करता है, जिसमें अर्थ, आरोपित नहीं, जो स्वयं ही अर्थ-गर्भ है। रजुआ की पीड़ा, केवल जीवन जीने की पीड़ा नहीं है, आज की सामान्य जिन्दगी के समाजीकरण की पीड़ा है, मानवीय अस्तित्व और व्यक्ति-सत्ता के समाजीकरण की पीड़ा है। यों तो अमरकान्त की अधिकांश कहानियाँ आर्थिक मजबूरियों में कराहती जिन्दगी की विक्षुब्ध आवाज़ें हैं, लेकिन 'जिन्दगी और जोंक' में जीवन का दुर्निवार संघर्ष और बोझ है। इसमें जिन्दगी के यथार्थ और पात्रों से, लेखक की केवल सहानुभूति नहीं है, उनके साथ जीने-मरने की दुर्लभ मानवीय संवेदना है। सीधे-सादे शब्दों में कहानी, विषम परिस्थितियों में अपने अस्तित्व को बनाये रखने की लालसा में ही व्यक्त करती है, जो जिन्दगी में जोंक की तरह चिपकी है, लेकिन अन्त तक पहुँचते-पहुँचते सारी कहानी का अर्थ-सन्दर्भ बदल जाता है—मुड़ जाता है—वह केवल जीवन के संघर्ष या उसके व्यावहारिक पक्ष की कहानी ही नहीं रहती, अस्तित्व की कहानी बन जाती है। जीवन की इतनी उद्दाम लालसा कि जीवन का अर्थ ही समाप्त हो जाय और जीवन का इतना दुर्दमनीय बोझ कि अस्तित्व की सार्थकता ही मिट जाय। "उसके मुख पर मौत की भीषण छाया नाच रही थी और [illegible] जिन्दगी में जोंक की तरह चिपटा था—लेकिन जोंक वह था या जिन्दगी? वह [illegible] जिन्दगी का खून चूस रहा था या जिन्दगी उसका? मैं तय न कर पाया।" और [illegible] निश्चय करूँ इस प्रश्न [illegible] [illegible] [illegible] पर विचार करने वाले [illegible] [illegible]

लेखकों को ईमानदारी से यह चुनौती स्वीकार करनी चाहिए। उसकी समस्या का सही रूप मानसिक परिकल्पनाओं में नहीं, जिन्दगी के मध्याह्न में तपते सूर्य की खुली रोशनी में है—दैनंदिन अस्तित्व के संघर्ष में है।

नयी ग्राम-कथाएं : भू-दान : मार्कण्डेय

मार्कण्डेय की अधिकांश कहानियां ग्रामीण क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं और वे साग्रह ग्राम-कथाकार हैं। यहाँ इसकी विवेचना अपेक्षित नहीं है कि वे इस क्षेत्र की ओर बौद्धिक सहानुभूतिवश गये हैं या संस्कारवश, लेकिन इन नये सम्भावनाशील क्षेत्रों की ओर एक स्वाभाविक आकर्षण इन ग्राम-कथाओं में अवश्य था (है) और मार्कण्डेय में ग्रामीण जीवन की वास्तविकता को समझने का जागरूक प्रयत्न भी है। इन कथाओं में ग्राम-जीवन के नये सन्दर्भों और वास्तविकताओं के प्रति मार्कण्डेय की निजी प्रतिक्रिया, जिसके पीछे एक विशिष्ट राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण भी है, व्यक्त हुई है। आधुनिक भूमि-सुधारों से उत्पन्न नयी परिस्थितियों ने ग्राम-जीवन को एक नया संस्कार दिया है जिससे ग्राम-चरित्रों में मानसिक धरातल पर एक परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन इन कथाओं में पाया जा सकता है। ये ग्राम-कथाएं प्रेमचन्द की परवर्ती परम्परा की अग्रिम कड़ियाँ तो हैं ही, रेणु की कहानियों से भी भिन्न हैं। रेणु ने भाव-बोध के स्तर पर उन्हें ग्रहण किया है और ग्राम-जीवन के बाह्य तथा आंतरिक चित्रों को एक जीवन्त संदर्भ दिया है लेकिन मार्कण्डेय में यह अन्वेषण के धरातल पर है। उनमें ग्राम्य जीवन की आशा-आकांक्षाएँ, आधुनिक प्रगति के संदर्भ में एक खास दृष्टिकोण के रंग से रंजित हैं। यह दृष्टिकोण समीक्षात्मक या क्रिटिकल भी है और संवेदनापूर्ण भी, और एक गहरी सहानुभूति (भले वह बौद्धिक ही क्यों न हो) का योग भी इसमें है।

उनकी 'भू-दान' में यही दृष्टिकोण प्रधान है। यह नये विकास के स्वप्न-भंग की कथा है जिसमें ग्राम का पुराना शोषक वर्ग अपने संकुचित न्यस्त स्वार्थों के कारण आज भी साधारण किसानों के अभावग्रस्त जीवन और उनकी ट्रेजेडी का उत्तरदायी है। रामजतन 'भू-दान' को लेकर स्वर्णिम भविष्य की कल्पना करता है लेकिन ठाकुर के जिस दान से उसे भूमि मिलती है वह तो केवल पटवारी के कागज पर थी। असल में तो वह कब की गौतमी नदी के पेट में चली आयी। इस कहानी में एक राजनैतिक पक्षधरता का रूप सामने अवश्य आता है, जिससे कोई भी जागरूक लेखक बच नहीं सकता, लेकिन यह पक्षधरता केवल इसी अर्थ में है कि वह एक व्यापक अनुष्ठान—भू-दान अन्दोलन—की व्यावहारिक परिणति को उजागर करता है लेकिन वह इस आन्दोलन की आलोचना नहीं है, उसका निहित व्यंग तो उस शोषक वर्ग पर है जो इस समाजवादी व्यवस्था में आज भी अपने हाथ-पैर फैलाये हुए है। ग्रामीण चरित्रों के सहज विश्वास और मानवीय आस्था

परीत उस वर्ग की कुटिल नीतियों की यह कहानी, उन ग्रामों की वास्तवि-
उभारती है, जिन्हें सामान्यतः ढोल-मंजीरे की धुनों पर गूंजने लोक-गीतों की
गना जाता है और एक रोमांटिक वातावरण में उनके मौलिक संघर्षों को
या जाता है। यह स्वप्न-भग और कटु-तिक्त यथार्थ का चित्र अवश्य है
इसमें कुछ भी आरोपित नहीं है। कहानी की कन्टेन्ट—संवेदना और
दोनों की—उसकी नाटकीयता की आलोचना की जा सकती है लेकिन कथा-
: धरातल पर इसकी वास्तविकता को नकारा नहीं जा सकता, भले ही यह
वकता सूचना के धरातल पर ही ग्रहण की गई हो। दरअसल पूरा-का-पूरा
यानक का आन्दोलन कथानक के ह्रास के युग में भी केवल 'सब्जेक्ट थीम' और
कण्टेण्ट' (शब्द श्री शिवप्रसादसिंह के) का आन्दोलन था जिसमें कहानी
तात्विक और कलात्मक उपलब्धियाँ गौण हैं, प्रधान तो वह वास्तविकता और
टकोण है जिसे अक्सर भुला दिया गया था। इसीलिए रामजतन की ट्रेजेडी
दूसरे अर्थ-स्तर पर अधिकांश ग्राम की ट्रेजेडी है।

शिष मूड और मनःस्थिति की कहानियां :
: निर्मल वर्मा

अर्थों में निर्मल वर्मा नयी कहानी के विशिष्ट कथाकार हैं जिन्होंने नये
ही नहीं, निर्वाह की एक विशिष्ट भंगिमा और कहानी को एक कलात्मक
प्रदान की है। उनकी कहानी पुराने या नये रूढ़ अर्थों में कहानी नहीं है।
निर्मल वर्मा की कहानियां जीवन की वे अनुभूतियाँ हैं जिन्हें ऐकान्तिक
याँ कहते हैं। ये अन्तर्मुखी और व्यक्तिपरक होती हैं। उनका प्रकाश बाह्य
न्तरिक होता है। समाज के स्थूल और बहिर्मुख यथार्थ की ठोस वास्त-
के चित्रण के विपरीत निर्मल वर्मा की चेतना आधुनिक सन्दर्भों में निर-
ते होते जा रहे व्यक्ति के अन्तर्मन की अनुभूतियों की ओर मुड़ी है और
जागरूकता या समाजिक यथार्थ के अस्त्र से उनकी सार्थकता पर चोट
ा सकती, क्योंकि वह निर्मल वर्मा का उद्देश्य ही नहीं है। वहाँ तो यथार्थ
सरा ही स्तर मिलता है। वह तो अदृश्य यथार्थ है जिसे कुछ विशेष
गा-परखा जा सकता है। वह होता यद्यपि क्षणों का ही है लेकिन सम्भ-
ाकृत अधिक शक्तिमान भी, क्योंकि व्यक्ति की इकाई से वह संबद्ध है।
ारीक विश्लेषण और अभिव्यक्ति के सूक्ष्म स्तर की अपेक्षा होती है।
क या सूक्ष्म यथार्थ कहा जाय। 'परिन्दे' उसी धरातल की कहानी है।
और निर्मल वर्मा की अन्य कहानियों पर अभारतीयता या विदेशीपन
लगा है। मैं कह चुका हूँ कि 'परिन्दे' की वस्तु यथार्थ के सूक्ष्म और
स्तर से आती है, और उसके पात्र एक विशिष्ट परिवेश से आते हैं।

उसकी वस्तु कान्वेन्ट स्कूल के होस्टल, पहाड़ी कस्बे के ईसाइयत में डूबे वातावरण की है जहाँ हर पात्र अंग्रेजियत के रंग में रँगा है और सारा वृत्त उसमें डूबता-उतराता है, जिसमें लतिका भी अपने अतीत को खोये स्मृतियों की मधुर वेदना लिये जी रही है। इस वातावरण में लतिका के संस्कार और मानसिक एटीट्यूड भी वही आदर्श भारतीय नारी के हों, कैसे संभव हो? या राकेश की 'आर्द्रा' या अमरकांत की 'डिप्टी-कलक्टरी' का वातावरण यहाँ कैसे अपेक्षित है? कोई भी कहानी देशी या विदेशी उसके पात्रों और बाह्य वातावरण से नहीं बनती (अमरीकी वातावरण और पात्रों के बीच भी उषा प्रियंवदा की कहानियाँ, भारतीय ही है) उसका आन्तरिक वातावरण, उसकी प्रेरणा, अन्तर्वृत्त और दृष्टि ही कहानी को देशी या विदेशी बनाते है। 'परिन्दे' का वातावरण और चित्रण विदेशी-सा लगेगा, क्योंकि वह सामान्यतः परिचित भारतीय वातावरण से भिन्न एक विशिष्ट परिवेश का है अन्यथा अनुभूतियों और सवेदनाओं में वह किसी भी कोण से विदेशी नहीं है। लतिका का मिस्टर नेगी के प्रति वह अटकाव, वह आकर्षण, जो उसके बाद भी उसे मथे डालता है, सालता है, वह परिन्दों को उड़ता हुआ देखकर अपने मन की कामना की अपूर्ति और अभाव को झेलती है—क्या भारतीय अनुभूति और सवेदना नहीं है? कहानी में एक 'वातावरण' छाया है जो पात्रों की आन्तरिक गतियों और मनःस्थितियों को व्यक्त करता है या हर पात्र अपने वातावरण की सम्भूत उपज है। इस कहानी का आस्वाद इस वातावरण से सम्पृक्ति के धरातल पर ही संभव है। एक संकेत है—"और प्यानो के सुर अतीत की धुंध को बेधते हुए स्वयं उस धुंध का भाग बनते जा रहे हों—यह धुंध बाहरी नहीं है, लतिका के मन के किसी भीतरी कोने की धुंध है। उसके जीवन में अतीत की धुंध को बेधती हुई कोई बीती स्मृति उसे सालती है...वह स्मृति भी अब छूटती-सी उस अतीत का अंग बनती जा रही है। अपनी निस्सहायता की चेतना, बरबस अपने को छलने का छलावा लिये लतिका को एक प्रश्न बराबर सालता रहा है—"डाक्टर, सब-कुछ होने के बावजूद वह क्या चीज है जो हमें चलाये चलती है, हम रुकते भी हैं तो अपने रेले में वह हमें घसीट ले जाती है।" इस प्रश्न को लिये वह अपने से कुछ नहीं कर पाती, दिल कहीं नहीं टिक पाता, हमेशा भटकता है! एक पगली-सी स्मृति, एक उद्भ्रान्त भावना लिये हुए यात्रा के लिए वह सबका सामान बँधवाती है लेकिन स्वयं होस्टल के उदास वातावरण में टिकी रहती है, चाहकर भी अपने मन की उस स्थिति से मुक्त नहीं हो पाती। जैसे जीवन में स्वयं को कोई गति नहीं है, स्वयं का स्पन्दन नहीं रह गया है। जैसे कोई पक्षी अपनी सुस्ती मिटाने के लिए झाड़ियों के किनारे बैठ जाता, पानी में सिर डुबाता, फिर ऊबकर हवा में दो-चार निरुद्देश्य चक्कर काटकर दुबारा झाड़ियों में दुबकता है, वैसे ही वह भी लड़कियों के साथ मीडोज में पिकनिक कर लेती है, प्रेयर में प्यानो सुन लेती है, पुरानी

स्मृतियों के शीतल जल में कुछ देर डूबकर फिर अपने ही एकान्त
है। हर साल परिन्दे सर्दी की छुट्टियों से पहले मैदान की ओर उड़ते
के लिए बीच के इस पहाड़ी स्टेशन पर बसेरा कर लेते हैं, प्रतीक्षा क
के दिनों की, जब नीचे अजनबी अनजाने देशों में उड़ जायेंगे,—लेकि
कहीं नहीं जायेगी—कहीं नहीं—अपने ही 'एकान्त' में बन्द परिन्दे की
पटायेगी। उसकी यह एकरसता, उस वातावरण और परिवेश की ह
यहाँ न घटना है, न स्थिति, केवल एक मुखर चिन्तन है जिसके माध्यम से
की पर्तें, स्तर-स्तर खुलते जाते हैं। वे स्तर जो ज़िन्दगी के व्यावहारिक
नहीं खुलते, जो उससे पृथक् सार्थकता-असार्थकता की अनुभूति के निविड़
मुखर होते हैं। इसीलिए निर्मल वर्मा की कहानियाँ समकालीन कहानी
विशिष्ट उपलब्धि हैं। यथार्थ के लिए जिस स्तर को उन्होंने पकड़ा है, जिस
वरण की बात वे कहानियों में करते हैं उस स्तर और वातावरण में डूबकर,
कर वे लिखते हैं और फलस्वरूप डुबोते और भिगोते हैं। लेकिन वे एक मन.स्थि
एक मूड, एक भाव-स्थिति के ही कहानीकार हैं और एक ही मन स्थिति में एक
मूड और एक ही भाव-स्थिति के भी। उनकी भाव-स्थितियों में विविधता नहीं
है। एक प्रगाढ़ उदासी की एकतान भाव-स्थिति, और एक ही मूड के विभिन्न
पहलू—उसके ही कई 'इम्प्रेशंस'! ऐसा मूड, जिसके क्षण "अतीत के भाग नहीं
हैं, जो याद करके भुलाये जा सकें।" वह स्थायी है, कालातीत है। काल बदल
सकता है, वह नहीं। लगता है एक व्यक्ति है और विभिन्न कोणों से पड़ते हुए
प्रकाश से निकलती हुई उसकी परछाइयाँ हैं, जिनमें व्यक्ति, वस्तु या
नहीं उभरता, उभरती है तो केवल एक ही भावना, एक ही संवेदना, ए
भूति और एक ही मन.स्थिति। यहाँ वस्तु, चरित्र, यथार्थ-दृष्टि, भाषा,
सब-के-सब उस एक व्यक्ति के एक ही मूड में केन्द्रित हैं और उसी में डूबते
एक भावाकुल मूड में। यों कि इस मूड का एक वृत्त है और अनुभूतियाँ
ही वृत्त में चक्कर काट रही हैं। लगता है जैसे प्यानो की एक ही रीड प
या अधिक जोर से उँगली का स्पर्श हो रहा है और एक ही स्वर कभी धीमा,
तेज होकर हवा में तैर रहा है, जो उदास मूड को स्थिर प्रगाढ़ता देता है।

यथार्थ का शिल्प और शिल्प का यथार्थ

देवीशंकर अवस्थी

'अगर वह मेरी पत्नी न होती, तो मैं उसे चूम लेना या चूमने की इच्छा को दबाना कड़वा मज़ा लेता।' हिन्दी-कहानी का अभ्यस्त पाठक इन पंक्तियों को पढ़कर एक धक्के का अनुभव कर सकता है और विवेकी पाठक एक नये स्वर की पहचान कर। पिछले दशक के कहानीकार जहाँ 'सामान्य अनुभवों को इस तरह नया संदर्भ देते हैं कि पाठक को कहीं भी संस्कारगत धक्का नहीं लगता।' क्या महेन्द्र भल्ला की कहानी 'एक पति के नोट्स' (नयी कहानियाँ : सितम्बर, १९६४) 'एक नये तरह के पाठक' की भी माँग करती है ? इसी के साथ धर्मवीर भारती की कहानी 'यह मेरे लिए नहीं' (नयी कहानियाँ, नवम्बर, १९६४) पढ़ी जाय तो नये और पुराने स्वर एकदम अलगाये जा सकते हैं। भारती में जहाँ पुराने मूल्यों एव नयी आकांक्षाओं के मध्य द्वन्द्व है और उस खाई को पाटकर जुड़ने की व्याकुलता है, वहाँ महेन्द्र भल्ला उस द्वन्द्व को उपस्थित करते हैं जो मूल्यहीनता के कारण व्यक्ति में उत्पन्न हो गया है। शायद यह कहने की आवश्यकता न पड़े कि दूसरे प्रकार का द्वन्द्व अधिक विकसित यथार्थ का परिचायक ही नहीं है, ज्यादा बड़ी कलात्मक क्षमता भी चाहता है। महेन्द्र भल्ला उस यथार्थ की नब्ज पर हाथ रखे हैं जो आधुनिक जीवन की विडम्बना और नियति है, जबकि भारती का संसार उसी पुराने संसार का बढ़ाव है जो पिछले पचास वर्षों से हिन्दी-कहानी मे व्यक्त होता आया है। इन दोनों संसारों की व्यंजनाएँ दो भिन्न शिल्पों, दो भिन्न भाषा-भंगिमाओं की माँग करती हैं।

'एक पति के नोट्स' को आप पारिवारिक कहानी कहें या प्रेम की अथवा पलटेंशन की—इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। फ़र्क पड़ता है इस बात से कि इस कहानी का यथार्थ अधिक गहरा और अधिक नया ही नहीं, अधिक निजी भी है। इस कहानी का संसार ही बदल गया है। पत्नी है। सुन्दर है। उससे प्रेम-विवाह किया है। विलासी गृहस्थी है। असन्तोष का प्रत्यक्ष कोई कारण नहीं; पर पति-पत्नी से ऊबा है, दोनो के मध्य का सप्रेषण कृत्रिम है। बल्कि यों कहे कि भावात्मक आदान-प्रदान के तार ही टूट गये हैं। छोटे-छोटे सहज प्रसंगों एवं टिप्पणियो मे यह

ऊब, यह अलगाव, यह अकेलापन स्पष्ट होता है। अत्यन्त वैयक्तिक-
सम्बन्धों में आधुनिक जीवन की इस ट्रेजेडी को पूरी तौर से पहचाना
है। औरत के रूप में पत्नी उसे आज भी सुन्दर लगती है, पर उसकी
कि वह मेरी बीवी है, उसका चिरपरिचित-सा अपनापन उभरने
सुन्दर न होने के बावजूद पड़ोसी लड़की कला को स्पष्ट करने की कोशि
है और अपने को पड़ोसी किशोरीलाल से कहीं ऊँचा मानता हुआ
शायद उसकी बीवी को भी पा सकेगा। यही नहीं, अपनी पत्नी में
के समय मानिक मनरो आदि ऐक्ट्रेसों को ध्यान में रखना पड़ता है और
विवशता न होती तो पत्नी को छोड़ देने की 'बेईमानी' भी उसके मन में थी

स्पष्ट है कि प्रेम, परिवार, सेक्स, पति-पत्नी-सम्बन्ध, पड़ोसी-व्यवहार
में पुराने स्थापित आदर्शों से यह स्थिति भिन्न है। एक स्तर पर इस कहानी
पुराना आदर्शवादी [या पुरानी कहानियों का अभ्यस्त] पाठक विकृति, अनैतिक
अश्लीलता, अमानवीयता, बुराई आदि की कहानी कहना चाहेगा। पर यही
स्तर है जहाँ कहानी यथार्थ को उसके अधिक सच रूप में उठा लेती है। निश्चय
ही कहानी इन दुष्कर्मों की है, पर आधुनिक सदर्भ में 'बुराई' की 'सिग्नीफ़िकैंस'
ही कहानी का मूल भाव प्रतीत होता है। बुराई की इस गणनीयता के पीछे एक
अत्यन्त प्रश्नशील मस्तिष्क की आवश्यकता है और यह प्रश्नशीलता अनिवार्यतः
अनास्था, निराशावादिता आदि की ओर ले जायेगी। स्वतन्त्रता के बाद नवनेशन
के प्रारम्भ में 'कल उगने' का जो एक आशावादी रोमांटिक झोंका आया था वह
सन् '६० तक पहुँचते-पहुँचते गुजर जाता है और जो एक अत्यन्त प्रबुद्ध, जिज्ञासु
मन सचाई में गहरे पैठता है वह निरन्तर निराशा, अनास्था, ऊब, बुराई, अनैति-
कता आदि की सिग्नीफ़िकैंस को स्पष्ट करता है।

इस बोध और इस स्पष्टीकरण का जो दुरस्थ धारा मार्ग आज का लेखक
अपनाता है वह अपने प्रामाणिक अनुभव का है, न कि साक्षी आदर्शों द्वारा बनाया
गया। जिस प्रकार का अनुभव होना चाहिए या जिस प्रकार से जिस कोटि का
अनुभव करना सिखाया गया है, उनसे हटकर महेन्द्र भल्ला की यह कहानी प्रामा-
णिक अनुभव पर ज़ोर देती है। पति-पत्नी के बीच पड़ोसी परिवार को दिये गए
डिनर-निमन्त्रण पर बातचीत होती है। पति किशोरीलाल को 'गधा' कहता है।
पत्नी पूछती है, 'फिर बुलाया क्यों?' उत्तर है, 'संध्या के लिए।' पत्नी का कहना
है कि 'वह किसी के हाथ लगने वाली नहीं है। आप कोशिश करके देख दीजिये।'
बात सच लगते हुए भी पूछता है, 'क्यों?' इसलिए कि, 'हम औरतें अपने को बहुत
ाल लेती हैं।...हमको अगर घर मिल जाय, तो हम बहुत-कुछ सह सकती हैं।'
ति को प्रतीत होता है कि 'उसने निहायत हिन्दुस्तानी बात ...
सकी अपनी नहीं, साभी है। ...

ने समझ लिया है कि आदर्श साझी होता है। इसीलिए वह अपने अनुभव पर बल देना चाहता है। और इसी स्थिति से यह आकांक्षा उभरती है कि कितना ही तीखा क्यों न हो, पर जुड़ना अपने यथार्थ से ही है। महेन्द्र भल्ला का 'पति' अगर साझी आदर्शों को मान ले तो दुख की स्थिति समाप्त हो जाय। पर इतना आसान नुस्खा भी वह स्वीकारने को तैयार नहीं। यही उसकी विडम्बना है—आधुनिक लेखक की विडम्बना है। पुराना लेखक इस कहानी को लिखने बैठेगा तो एक त्रिकोण बना देगा, पर यहां त्रिकोण का तीसरा बिन्दु न होने के बावजूद सारा त्रास विद्यमान है। इस विडम्बना-भरी प्रश्नशीलता के द्वारा वे सचाई को झेलना चाहते हैं। परम्परा-प्रथित विचारों (या कण्डीशण्ड रिफ्लेक्सेज) से अपने संवेगों, अनुभूतियों को अलगाना किसी भी लेखक के लिए सबसे बड़ी समस्या होती है—महेन्द्र भल्ला ने इसे निभाने की पूरी चेष्टा की है। अपने अनुभव की तीखी चेतना, जान-बूझकर 'दुःखों के रास्ते' अपनाने की चेष्टा, पूरी कहानी में व्याप्त एक अनाम तल्खी इस कहानी को नयी कहानी के उस स्वर का प्रतिनिधि बनाती है जो सन् '६० के बाद विकसित हो रहा है और जिसकी कुछ विरल ध्वनियां ही पिछले दशक की कहानियों में मिलती हैं।

प्रस्तुत कहानी (और इसके माध्यम से इधर की कहानी) की विशिष्टता को समझने के लिए थोड़ा-सा उस संसार का विश्लेषण कर लिया जाय जो इस कहानी के माध्यम से उभरता है। खासकर इस कहानी में चित्रित मानवीय सम्बन्धों के माध्यम से ही यह विश्लेषण करने की चेष्टा करूंगा। यों होना तो यह चाहिए कि उसके पूरे भूगोल, प्रतीकों, अप्रस्तुतों आदि की भी चर्चा की जाती।

यद्यपि पति की मूल समस्या वैयक्तिक है—प्रेम या संवेगों की ओर उसका अपना रुख—पर समाज के प्रति उसका जो दृष्टिकोण है उससे सामाजिक समस्याएँ भी उभर आती हैं। समाज उसे किस रूप में लेता है यह तो बहुत स्पष्ट नहीं है (सामाजिक अलगाव का यह प्रतीक भी माना जा सकता है,) पर उसका अपना रुख पर्याप्त स्पष्ट है। एक ओर विवाहित पत्नी को वह छोड़ने की बेईमानी भी कर सकता है। पर दूसरी 'शादी' में देर लगेगी और तब तक यह सेवा कहां मिलेगा! दसवें-पन्द्रहवें सीता के गालों पर चटकने वाली हल्की लाल ताजगी का आकर्षण न होता, 'तो एक तरफ हो जाता।' ध्यान रहे कि विवाह एक सामाजिक संस्था है। उसका अस्वीकार भी और एक भिन्न स्तर पर स्वीकार भी वस्तुतः एक गहरे अलगाव (isolation) को सूचित करते हैं। पहले की कहानियों में सामाजिक विसंगतियाँ बराबर मिलती हैं, पर इन विसंगतियों के चित्रण में सामाजिक एकीकरण (social integration) की कल्पना बराबर विद्यमान रही है। स्वयं भारती की इस कहानी (यह मेरे लिए नहीं) में भी यह एकीकरण एवं उससे उत्पन्न तथाकथित आस्था भी। 'एक पति के नोट्स' का नायक इस भयंकर अलगाव से पीड़ित

है। पिछले चार-पाँच वर्षों में जो भी उल्लेखनीय कहानियाँ आयी हैं; उनमें यह विलगाव की भावना विद्यमान है। यद्यपि यह अलगाव इन चरित्रों का अपना वैयक्तिक भाव है और व्यापक समाज उनसे बेखबर दीखता है, कहना न होगा कि यह बेखबरी अक्सर भय, आतंक या आत्मनिर्वासन तक ले जाती है, जिसमें कि समाज न व्यक्ति की रक्षा कर पाता है और न व्यक्ति की चोट से अपना बचाव। *यही अलगाव और बेखबरी अमरकान्त के 'हत्यारे' या मार्कण्डेय की 'एक काना दायरा'* की स्थितियों के लिए जिम्मेदार होती है।

समाज से इस अलगाव का एक रूप इस कहानी में यों भी देखा जा सकता है कि पत्नी या पड़ोसी से कुछ कामचलाऊ सम्बन्ध तो दीखते हैं, पर उनके कार्यों में कोई घनिष्ठ या भावात्मक लगाव नहीं मालूम होता, यहाँ तक कि किशोरीलाल की पत्नी या बहिन में दिलचस्पी भी एक निहायत सतही शारीरिक स्तर पर है और इसीलिए कोर्टशिप की कोई चेष्टा नहीं दीखती। इसी स्तर के सम्बन्धों की औपचारिकता के भीतर पड़ोसी को डिनर पर बुला तो लिया जाता है पर उसकी बीमारी सुनकर मात्र मौखिक सहानुभूति जताने के लिए भी किशोरीलाल के घर तक जाने का कोई उपक्रम नायक नहीं करता। समाज से इस पीछे हटने के कारणों की विवेचना न करके यहाँ केवल इस ओर इंगित किया जा सकता है कि प्रस्तुत कहानी के नायक में समाज के प्रति एक विरक्तिजन्य उदासीनता है, सामाजिक माँगों से उत्पन्न होने वाले भय का अभाव है तथा है सामाजिक संस्थाओं के प्रति उपेक्षा।

सामाजिक अलगाव का सबसे प्रखर रूप विवाह की संस्था की इस उपेक्षा या अवमानना में व्यंजित है। नायक के लिए इस संस्था का उपभोग मात्र सहजलब्ध सेक्स के लिए है। पर साथ ही विवाह-संस्था को ही सेक्स-परितृप्ति का एकमात्र वैध मार्ग वह नहीं मानता। चन्द्रा के शरीर का रस लेकर वर्णन ही नहीं करता, उस दिशा में अनमने भाव से कुछ दिलचस्पी भी दिखाता है और किशोरीलाल की बीवी सन्ध्या के बारे में उसका खयाल है कि उसे वह जीत सकेगा। क्योंकि 'ऐसे आदमी के साथ सन्ध्या-जैसी स्त्री कैसे रह लेती है! अधिक दिन नहीं रहेगी।' यही नहीं, वह अपनी पत्नी के सामने भी अपनी लालसा प्रकट करने में संकोच नहीं करता और पत्नी भी इन बातों का बुरा नहीं मानती। सम्भवतः सीता के मन में भी इस विवाह नामक संस्था के प्रति बहुत आदर-भाव नहीं है। *जिस प्रकार नायक* के लिए विवाह का एकमात्र उपयोग सहजलब्ध सेक्स है, वैसे ही सीता के लिए वह घर पाने का साधन है जिसके लिए स्त्रियाँ बहुत-कुछ सह लेती हैं। (शायद सीता अपने पति को और सन्ध्या अपने पति को सह लेती हैं।) फिर सबसे मजेदार बात यह कि सामाजिक संस्थाओं या परम्पराओं के इस उल्लंघन में विद्रोह या शहादत की पुरानी कहानियों में प्राप्य मुद्रा कहीं भी नहीं है। यहाँ तक कि १९६४ में छपी

'यह मेरे लिए नहीं' (धर्मवीर भारती) के दीनू की मुद्रा इसी पुराने बलिदानी की ही बनी रहती है। पर भल्ला की कहानी के नायक की परम्परा के प्रति उपेक्षा इस सीमा तक है कि सुन्दर दीखने वाली एक स्त्री को वह इसलिए नहीं चूम पाता क्योंकि वह पत्नी है।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना होगा कि अलगाव या अस्वीकार की यह भावना नायक के अपने स्वभाव या व्यवहार से उद्भूत है। वस्तुतः वह एक वास्तविक या कल्पित इस माँग से पीड़ित है कि कोई उसे ठीक से समझे, उसके महत्त्व को सराहे या कि सहानुभूति दे। "अकेलापन उसे अपने चारों ओर लिपटा दीखता है। अकेलेपन को मारने का सबसे बड़ा साधन प्रेम है, पर वह भी 'परिचय के मध्य अपरिचय' बन गया है। प्रेमालाप कहानी में या तो होता नहीं या मात्र झुठाई के स्तर पर दीखता है—"सीता के होंठ 'अनाकर्षक' और थोड़े-से बदसूरत लग रहे थे। 'परिणामस्वरूप' मैंने मुँह फेर लिया। लेकिन तभी मुझे एहसास हुआ कि सीता मुझे प्यार से देख रही है। मैंने एकाएक भाव बदला और प्रति-प्यार से उसे देखने लगा।...मैं यह नाटक क्यों करता हूँ ? और सीता को इसका पता क्यों नहीं चलता ?" ध्यान रहे कि प्रेम-विवाह होने के पश्चात् भी प्रेमालाप की कृत्रिमता का यह रूप उभर आता है।

इस अकेलेपन की सबसे बड़ी विडम्बना प्रेम नहीं, सेक्स के क्षणों में देखी जा सकती है, जिसमें कि मार्लिन मनरो आदि ऐक्ट्रेसों को याद करना पड़ता है, या कि 'उसके' दौरान भी यह तर्क-वितर्क चलता है कि शायद वह जबरदस्ती पर उतर आने के लिए रूठी हुई थी। इस प्रेम-प्रसंग की और छानबीन करें तो स्पष्ट हो जायगा कि यहाँ पर अपने लिए उपयुक्त साथी चुनने या उसका हृदय जीतने की चेष्टा तनिक भी नहीं है। कोर्टशिप की आवश्यकता ही नहीं है। प्रेम-पात्र के अभिज्ञान से ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्रेम की लैंगिक अभिव्यक्ति है। पर व्यंग यह कि इस अभिव्यक्ति को भी पूरे व्यक्तित्व का बल नहीं मिलता। जिन पड़ोसिनों पर उसकी नज़र पड़ती है उनको भी पाने की न तो उत्कट अभिलाषा दिखती है, न चेष्टा—केवल एक प्रकार की विकार-भरी बातचीत तक ही यह मनमोदक सीमित रहता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि पति-पत्नी के मध्य कलह का कोई कारण नहीं है (सिवा इसके कि एक-दूसरे को समझ सकने या सराह सकने के रागात्मक तन्तु टूट गये हैं), फिर भी ऊब या अकेलापन उन्हें निरन्तर कलह या पीड़ा की स्थिति में रखते हैं। यह प्रेम वस्तुत. सुख का नहीं, एक निरन्तर खोखलेपन की वेदना का स्रोत बन जाता है। पुरानी कहानियों में प्रेम अपनी स्वार्थहीनता, व्यावहारिकता, सामाजिक परम्पराओं के प्रति आदर तथा नैतिक विचारशीलता के द्वारा पात्रों को सामाजिक संगठन से जोड़े रखता था और पात्रों के मानवीय सम्बन्धों को इन गुणों की परिधि में अनुकूलित करता था। पर प्रस्तुत कहानी का

प्रेम-व्यवहार नितान्त आत्मकेन्द्रित, समाज-विच्छिन्न और नीति-विरहित हो है। निःस्वार्थ सेवन तो यह है ही नहीं, प्रेमपात्र के गुणों का ज्ञान स्थूल परि भी इसमें नहीं है। प्रेम का अनुराग विशिष्टता के अनुरागबोध से एकदम रहित प्रेमियों की इससे बड़ी आवश्यकता शरीर-तृप्ति भर रह गयी है।

यहाँ मानव के मन की यह कल्पना पूरी नहीं होती कि दूसरे उसे उतना ही महत्त्व दें उतनी ही उसकी सराहना करें जितनी कि वह स्वयं अपनी करता है, क्योंकि कोई भी एक-दूसरे को उतना महत्त्व नहीं देता। मन्ना उससे चिट्ठी छीनकर और डाँट लगाकर चली जाती है। मन्ना पुरुषमात्र से उसी किशोरीलाल की ओर स्वयं भागा करती है जिसे वह घटिया आदमी मानता है। यहाँ तक कि मीना भी यह कहकर उसके अहं को खण्डित कर देती है कि 'हम स्त्रियाँ बहुत सह लेती है।' वस्तुतः यह स्थिति उसी समाज में सम्भव है जहाँ स्वयं दूसरे की सराहना नहीं की जाती और मात्र अपनी प्रशंसा पसन्द की जाती है। कहना न होगा कि ऐसा समाज विघटित होता है और आधुनिक समाज का यही रूप है। और इसी पृष्ठभूमि में इस कहानी का दाम्पत्य-प्रसंग एक आन्तरिक यातना, अतिचार (extravagance) और फ्रस्ट्रेशन की विकृतियों से सम्पृक्त है और ये विकृतियाँ ही आधुनिक जीवन की नियति बन गई है।

इस विश्लेषण से इतना स्पष्ट है कि 'एक पति के नोट्स' का संसार बदला हुआ है। इसे ही मैंने विकसित यथार्थ की पहचान कहकर कहानी के माध्यम से यथार्थ की खोज है—खोज जो गहन प्रश्नशीलता से सम्बन्धित है। यह भी कहना चाहूँगा कि सचाई की खोज एक श्रेष्ठतर कला-शिल्प की खोज भी है। दोनों वस्तुतः एक ही हैं। जिस मानवीय समस्या को उठाया जाता है उसी के अनुरूप ही कला-शिल्प को होना चाहिए। महेन्द्र भल्ला ने इस शिल्प की खोज की चेष्टा की है और र तक इसमें सफल भी हुए हैं।

कहानी उत्तम पुरुष के दृष्टिबिन्दु से कही गयी है। मैं समझता हूँ कि लेखक म समीपी, घनिष्ठ एवं तात्कालिक जीवन को उठाते हुए जिस आन्तरिक कटुता वेदना को कहना चाहता है, उसके लिए उत्तम पुरुष के अतिरिक्त और कोई ा ही नहीं है। कहानी की अपनी प्रति में मैंने 'मैं' के स्थान पर 'वह' करके चाहा तो कहानी की अर्थगर्भिता ही खण्डित नहीं हुई, उसमें एक प्रकार की वसनीयता भी आने लगी। 'मैं' शैली में लिखने के कारण लेखक को विश्व लाने के लिए वे तमाम जीवनचरितात्मक 'अभिज्ञान' नहीं लाने पड़े जि के 'वह' के माध्यम से विश्वसनीयता का आना कठिन है। वस्तुतः 'वह' न्ध और काल की जो दूरी स्थापित हो जाती है, लेखक के लिए अभीप्स पर इसके साथ ही जिस यथार्थ को वह वाणी देना चाहता है, उसके लिए यता की भरपूर आवश्यकता है, इसके बिना सारा चित्रण आत्मरति-

मूलक और पूर्वाग्रहग्रस्त हो जायगा और नायक अपने लिए सहानुभूति की माँग करने लगेगा। महेन्द्र ने इस कठिनाई को निभाने के लिए 'टिप्पणियों' या 'नोट्स' का प्रयोग करना चाहा है। अपनी मनःस्थितियों का विश्लेषण करते हुए नायक बेलाग, वस्तुगत टिप्पणियाँ देता जाता है और इस प्रकार आत्मपरक विडम्बना से बचने की पूरी चेष्टा करता है, यानी कि आत्मपरक समीपी-बोध और वस्तुगत वास्तविकता इन दोनों को इस शिल्प के अन्दर एक साथ सम्हालने की तत्परता है। स्थान की सीमा होने के कारण टेक्स्चर की बुनावट के अन्य तथ्यों में न जाकर केवल इतना और कहना चाहूँगा कि यथार्थ तथा शिल्प के इस एकत्व से बनी कहानी का सम्पूर्ण रूपबन्ध कामेडी या ट्रेजेडी के ढाँचों से हटकर एक प्रकार की भिन्न कथा का हो गया है। एक तल्खी या तिक्तता कहानी में पर्त-दर-पर्त जमती जाती है और समन्वित प्रभाव इसी तीखेपन का होता है। जिस जीवन को वह नापसन्द करता है, उसे ही जीना भी पड़ता है—यह विवशता कहानी में एक तीखे-पन को भर देती है। नायक कहीं भी अपने लिए सहानुभूति नहीं माँगता, यहाँ तक कि स्वयं भी सहानुभूति नहीं देता। नायक कमोबेश पीड़ित है, पर यह पीड़ा स्वयं उसकी अपनी विकृतियों की देन है, इसीलिए अनिवार्य भी। चरित्र की ये विकृतियाँ तो प्रशंसनीय हैं ही नहीं, उसमें प्रशंसायोग्य और भी कोई विशिष्टता नहीं दीखती और इसीलिए दया या सहानुभूति को जन्म नहीं लेने देती। चूँकि ये कमियाँ स्वयं नायक को छोड़कर और किसी के लिए हानिकारक नहीं हैं, इसीलिए वे किसी प्रकार के गहन भय या आतंक को भी जन्म नहीं देतीं। अगर पाठक की अनुभूतियों के विकास का ग्राफ खींचा जाये तो ग्राफ की रेखा सहानुभूति से प्रारम्भ कर सहानु-भूति की समाप्ति तक जायेगी और अन्तिम निर्णय यही होगा कि ठीक ही 'अफसोस, सोई हुई बाँह की तरह साथ उठा।' पर यह निर्णय न दर्दभरा है और न दयामय। कहानी में 'समुचित' का जो दर्दहीन उल्लंघन है वही इसके कड़वे प्रभाव को जन्म देता है।

इसके स्थान पर धर्मवीर भारती की कहानी 'यह मेरे लिए नहीं' एक अत्यन्त भावुक संसार का निर्माण करती है जिसमें दीनू का सारा रुख कटे रहने के बावजूद जुड़े रहने की आकांक्षा का है। इसीलिए पुराने जीवन-मूल्य के प्रति विद्रोह की रोमांटिक मुद्रा अपनाते-अपनाते वह शहीद की मुद्रा अपना लेता है और बलिदान का यह भाव (यह मेरे लिए नहीं है, मैं भी अपने लिए नहीं हूँ) उसे जोड़ देता है, उसके अकेलेपन को समाप्त कर देता है। यहाँ न सामाजिक संस्थाओं का 'सम्पूर्ण इन्कार' है और न आन्तरिक त्रास की अनुभूति। यहाँ सब-कुछ स्वीकार किया जा सकता है और परिणामस्वरूप पुराना मूल्य हारकर भी जीत जाता है। इसीलिए कहानी 'जैसे उनके दिन फिरे वैसे सबके फिरें' के रोमांटिक कामेडी के नोट पर समाप्त होती है। लेखक को विश्वसनीयता लाने के लिए तमाम बायोग्राफिकल

प्रेम-व्यवहार नितान्त अन्तर्केन्द्रित, तनाव-विगलित और नीति विगलित हो गया है। निःस्वार्थ संवेग तो यह है ही नहीं, वैवाहिक के सुखों का स्वाद स्पर्श परिमित भी इसमें नहीं है। प्रेम का अनुराग विशिष्टता के अनुरागबोध से एकदम रहित है। दाम्पत्य की सबसे बड़ी आवश्यकता शरीर-तृप्ति भर रह गयी है।

यहाँ मानव के मन की यह कल्पना पूरी नहीं होती कि दूसरे उसे उतना ही महत्त्व दें उतनी ही उसकी सराहना करें जितनी कि वह स्वयं अपनी करता है, क्योंकि कोई भी एक-दूसरे को उतना महत्त्व नहीं देता। बन्ना उससे चिट्ठी छीनकर और डाँट लगाकर चली जाती है। सम्भवतः मुसलमान से उसी किशोरीलाल की ओर एकदम सारा करती है जिसे वह घटिया आदमी मानता है। यहाँ तक कि मीना भी यह कहकर उसके अहं को ध्वस्त कर देती है कि 'हम स्त्रियाँ बहुत सह लेती हैं।' वस्तुतः यह स्थिति उसी समाज में सम्भव है जहाँ स्वयं दूसरे की सराहना नहीं की जाती और मात्र अपनी प्रशंसा पसन्द की जाती है। कहना न होगा कि ऐसा समाज विघटित होता है और आधुनिक समाज का यही रूप है। और इसी पृष्ठभूमि में इस कहानी का दाम्पत्य-प्रसंग एक आन्तरिक यातना, अतिचार (extravagance) और पर्यवसान की विकृतियों से सम्पृक्त है और ये विकृतियाँ ही आधुनिक जीवन की नियति बन गई हैं।

इस विश्लेषण से इतना स्पष्ट है कि 'एक पति के नोट्स' का संसार बदला हुआ है। इसे ही मैंने विकसित यथार्थ की पहचान कहकर कहानी के माध्यम से यथार्थ की खोज है—खोज जो गहन प्रश्नशीलता से सम्बन्धित है। यह भी कहना चाहूँगा कि सचाई की खोज एक श्रेष्ठतर कला-शिल्प की खोज भी है। दोनों वस्तुतः एक ही हैं। जिस मानवीय समस्या को उठाया जाता है उसी के अनुरूप ही कला-शिल्प को होना चाहिए। महेन्द्र भल्ला ने इस शिल्प की खोज की चेष्टा की है और दूर तक इसमें सफल भी हुए हैं।

कहानी उत्तम पुरुष के दृष्टिबिन्दु से कही गयी है। मैं समझता हूँ कि लेखक जिस समीपी, घनिष्ठ एवं तात्कालिक जीवन को उठाते हुए जिस आन्तरिक कटुता या वेदना को कहना चाहता है, उसके लिए उत्तम पुरुष के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं है। कहानी की अपनी प्रति में मैंने 'मैं' के स्थान पर 'वह' करके पढ़ना चाहा तो कहानी की अर्थगर्भिता ही खंडित नहीं हुई, उसमें एक प्रकार की अविश्वसनीयता भी आने लगी। 'मैं' शैली में लिखने के कारण लेखक को विश्वसनीयता लाने के लिए वे तमाम जीवनचरितात्मक 'अभिज्ञान' नहीं लाने पड़े जिनके बिना कि 'वह' के माध्यम से विश्वसनीयता का आना कठिन है। वस्तुतः 'वह' के द्वारा सम्बन्ध और काल की जो दूरी स्थापित हो जाती है, लेखक के लिए अभीष्ट नहीं है। पर इसके साथ ही जिस यथार्थ को वह वाणी देना चाहता है, उसके लिए संयत तटस्थता की भरपूर आवश्यकता है, इसके बिना सारा चित्रण आत्मरति-

मूलक और पूर्वाग्रहग्रस्त हो जायगा और नायक अपने लिए सहानुभूति की मांग करने लगेगा। महेन्द्र ने इस कठिनाई को निभाने के लिए 'टिप्पणियों' या 'नोट्स' का प्रयोग करना चाहा है। अपनी मनःस्थितियों का विश्लेषण करते हुए नायक बेलाग, वस्तुगत टिप्पणियां देता जाता है और इस प्रकार आत्मपरक विडम्बना से बचने की पूरी चेष्टा करता है, यानी कि आत्मपरक समीपी-बोध और वस्तुगत वास्तविकता इन दोनों को इस शिल्प के अन्दर एक साथ सम्हालने की तत्परता है। स्थान की सीमा होने के कारण टेक्स्चर की बुनावट के अन्य तथ्यों मे न जाकर केवल इतना और कहना चाहूँगा कि यथार्थ तथा शिल्प के इस एकत्व से बनी कहानी का सम्पूर्ण रूपबन्ध कामेडी या ट्रेजेडी के ढांचों से हटकर एक प्रकार की निरन कथा का हो गया है। एक तल्खी या तिक्तता कहानी में पर्त-दर-पर्त जमती जाती है और समन्वित प्रभाव इसी तीखेपन का होता है। जिस जीवन को वह नापसन्द करता है, उसे ही जीना भी पड़ता है—यह विवशता कहानी में एक तीखेपन को भर देती है। नायक कहीं भी अपने लिए सहानुभूति नहीं माँगता, यहाँ तक कि स्वयं भी सहानुभूति नहीं देता। नायक कमोवेश पीड़ित है, पर यह पीड़ा स्वय उसकी अपनी विकृतियों की देन है, इसीलिए अनिवार्य भी। चरित्र की ये विकृतियाँ तो प्रशंसनीय हैं ही नहीं, उसमे प्रशंसायोग्य और भी कोई विशिष्टता नही दीखती और इसीलिए दया या सहानुभूति को जन्म नहीं लेने देती। चूंकि ये कमियाँ स्वय नायक को छोड़कर और किसी के लिए हानिकारक नहीं हैं, इसीलिए वे किसी प्रकार के गहन भय या आतंक को भी जन्म नहीं देतीं। अगर पाठक की अनुभूतियों के विकास का ग्राफ़ खींचा जाये तो ग्राफ़ की रेखा सहानुभूति से प्रारम्भ कर सहानुभूति की समाप्ति तक जायेगी और अन्तिम निर्णय यही होगा कि ठीक ही 'अफ़सोस, सोई हुई बाँह की तरह साथ उठा।' पर यह निर्णय न दर्दभरा है और न दयामय। कहानी में 'समुचित' का जो दर्दहीन उल्लघन है वही इसके कड़वे प्रभाव को जन्म देता है।

इसके स्थान पर धर्मवीर भारती की कहानी 'यह मेरे लिए नहीं' एक अत्यन्त भावुक संसार का निर्माण करती है जिसमें दीनू का सारा रस कटे रहने के बावजूद जुड़े रहने की आकांक्षा का है। इसीलिए पुराने जीवन-मूल्य के प्रति विद्रोह की रोमांटिक मुद्रा अपनाते-अपनाते वह शहीद की मुद्रा अपना लेता है और बलिदान का यह भाव (यह मेरे लिए नहीं है, मैं भी अपने लिए नहीं हूँ) उसे जोड़ देता है, उसके अकेलेपन को समाप्त कर देता है। यहाँ न सामाजिक संस्थाओं का 'सम्पूर्ण इन्कार' है और न आन्तरिक त्रास की अनुभूति। यहाँ सब-कुछ स्वीकार किया जा सकता है और परिणामस्वरूप पुराना मूल्य हारकर भी जीत जाता है। इसीलिए कहानी 'जैसे उनके दिन फिरे वैसे सबके फिरें' के रोमांटिक कामेडी के नोट पर समाप्त होती है। लेखक को विश्वसनीयता लाने के लिए तमाम बायोग्राफिकल

डिटेल्स लाने पड़ते हैं। रोमांस की चटनी जल्दी हो जाती है; भाषा को कवित्व-
मयी भाषा करना होता है। (यों इन दोनों कहानियों की सामान्य सफलता को
लेकर अधिक विस्तार से बात की जा सकती है।) वस्तुतः भारती की कहानी सन्
'५० के जीवनबोध पर नहीं है और सब मिलाकर अपनी रोचकता के बावजूद
किसी गहन अर्थवान स्तर पर नहीं उभर पाती।

[नयी कहानियाँ: १९६२]

[३]
सर्वेक्षण और मूल्यांकन

राज का कुतुब खड़ा किया था, वह उन्हीं के आगे ढह गया था...।'

दूसरी ओर जिनकी चेतना ने यथार्थ के अपेक्षाकृत ठहरे हुए अर्थात् वैय
और पारिवारिक रूप को ग्रहण किया और जिन्होंने उस वैयक्तिक अनुभव-तन
आधार पर संघर्षरत जीवन की अभिव्यक्ति देनी चाही, उन्होंने भी वही अनु
किया कि 'हमारे अन्दर और बाहर, आसपास की हवा में, हमारी मजलिसों अं
कहकहों में कहीं कुछ ऐसा है, जो ग़लत है...कि आसपास के बड़े-बड़े परिवर्तन
के साये में हमलोग निरन्तर पहले से छोटे और कमीने होते जा रहे हैं...कि हमारे
अन्दर लगातार कुछ टूट रहा है। चाहते हैं कि उसे टूटने से बचा सकें, मगर न
जाने क्या मजबूरी है कि केवल गवाह की तरह खड़े उस ढहने की प्रक्रिया को चुप-
चाप देख रहे हैं।'

इन जीवनगत, मूल्यगत संघर्षों—इसकी आन्तरिक और बाह्य दोनों तरह
की चुनौतियों से, रचना के प्राणों से लड़ने का सत्य—यही है स्वतन्त्रता के बाद की
'नयी कहानी'। यही है उसका अपना अपूर्व व्यक्तित्व और निजत्व।

रचना के धरातल से इस प्रक्रिया और युग-बोध की दो विभिन्न उपलब्धियाँ
सामने आयी। पहला पक्ष जिसने व्यापक सामाजिकता को अपनी रचना-चेतना में
ग्रहण किया, वह अपने उस यथार्थ, संघर्षरत जीवन की ओर मुड़ा, जहाँ की जीवन-
डोर से उसकी मूल चेतना बँधी थी। उसका गाँव, उसकी जन्म-भूमि, उसका कस्बा,
उसका अंचल—जिनकी सामाजिक परिस्थितियों से उसका जीवन सम्बन्ध था।
उसने अपने उसी जीवन की नयी उभरती हुई वास्तविकताओं को उसके पूरे परिवेश
में ग्रहण किया। 'पान फूल', 'महुए का पेड़', 'राजा निरबसिया', 'ठुमरी', 'जिन्दगी
और जोंक', 'कोसी का घटवार' आदि संग्रह की प्रतिनिधि कहानियों की यही प्रेरणा-
भूमि है। जड़ता, असफलता, शोषण, अधकार से जीवन का संघर्ष—और उसमें
स्वस्थ, मानवीय संकेत। नैराश्य और सूनेपन में आशा और जीवनमूल्य का संकेत।
अपने जिये हुए, अनुभव किये हुए जीवन और समाज में जहाँ कहीं भी, जिस स्तर
पर भी, जो कुछ, जितना मूल्यवान है, विकासोन्मुख है, भविष्यमय है, उसे उसके
पूरे परिवेश के भीतर से पकड़ना और उसे जिन्दगी के व्यापक सन्दर्भ में देखना।

दूसरी ओर जो अनुभव-तन्त्र के कहानीकार थे, वे अपनी रचना के क्रम में
ने जीवन-सन्दर्भों से इसी संघर्ष की चुनौतियों को व्यक्ति की आन्तरिकता के
में ग्रहण करके देख-परख रहे थे। उनका भी मूल स्वर नैराश्य, पराजयजनित
(यद्यपि इनकी कहानियों का मूल विषय स्वभावतः यही था) की अभिव्यक्ति
। वरन् इन्होंने भी अपने रचनाकार की सम्पूर्ण सच्चाई और उसके अन्त-
व्यक्तित्व के साथ व्यक्तित्व के यथार्थ को उसकी सामाजिक परिस्थिति में,
परिवेश में परखने-आँकने वाली रचना की—ऐसी रचना जिसकी बुनियादें
अनुभव-तन्त्र में ही सही किन्तु जो निश्चय ही समाजपरक विचारधारा

में थी। 'नये बादल', 'परिन्दे', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' और 'बादलों के घेरे' कहानी-संग्रहों तथा कहानी की प्राणभूमि यही है। पर 'इस बीच एक बड़े दुर्भाग्य की बात यह रही है कि पहले पक्ष के कहानीकार ने दूसरे पक्ष के कहानीकार को, उसकी विचारधारा और उसकी रचना-प्रक्रिया को ध्यान में रखकर उसे पलायनवादी कहा है, और दूसरे ने पहले को उससे भी ज़बरदस्त शब्दों में पलायनवादी कहा है। हिन्दी की इस विरासत को इन दोनों ने नहीं छोड़ा है। यह लड़ाई अभी भी किसी-न-किसी स्तर से खूब गर्म है। और इसमें वे तत्त्व मौजूद हैं जो अक्सर रचनाकार को उसकी भूमिका से नीचे उतारकर उसे विशुद्ध कलागत संघर्ष में नीचे खींच ले आते हैं। पिछले दिनों ग्राम-कथा बनाम शहरी-कथा के बीच जो तनातनी थी और है—वह इसी का परिचायक है। ग्राम-कथा और शहर-कथा, कहानी का कभी कोई प्रकार नहीं हो सकता ! जीवन तो वही एक है। संघर्ष की चुनौतियाँ भी वही हैं—सन्दर्भ और संकुलता की स्थिति में चाहे जितना अन्तर हो। इसलिए दोनों का 'वेग' कभी नहीं थम सकता। बल्कि लोक-जीवन की वास्तविकता और उस जीवन का 'क्राइसिस' तो अपनी आदिम भयकरता के साथ है।

आगे की स्थिति इस युग-बोध के सन्दर्भ में बड़ी विचित्र हुई। जैसे कि इस व्यापक संघर्ष में वही अन्धकार ही जीतने लगा। दोनों पक्षों की चेतना युग की क्राइसिस का सामना करती हुई उस यथार्थ दर्द, अन्धकार और घाव से लड़ने-जूझने के बजाय उसे अपने माथे से ओढ़ने लगी। पहले ने कहा कि चूंकि मुझे यहाँ अँधेरा हर क्षण गहरा होता दिखायी पड़ता है, इसलिए कहता हूँ कि जो मार्गदर्शी हैं, वे असत्य का प्रचार कर रहे हैं। उनकी सत्य की पहचान मिट गयी है।' और वह कहानीकार आज सिर्फ यही अनुभव करता है कि 'यह सशय और अविश्वास का काल है।' दूसरी ओर अनुभव-तन्त्र का वह कहानीकार कहता है कि 'सवालों की नोक पर अपने को टाँग दे तो लगता है कि सिवाय ज़ख्म ढोने के उसमें और कुछ हासिल नहीं है।' 'माही' संग्रह की सारी-की-सारी कहानियाँ, 'छोटे-छोटे ताज महल' संग्रह की हर कहानी, 'एक और ज़िन्दगी' संग्रह की 'बस-स्टैंड की एक रात', 'वारिस,' 'आदमी और दीवार', 'जीनियस' और अभी धर्मयुग में प्रकाशित 'फौलाद-का आकाश'—ये सारी कहानियाँ क्या हैं ? यह ठीक है कि अन्धकार है। यह सत्य है कि वह घना भी होता जा रहा है। यह यथार्थ है कि योजना और निर्माण की सतह के नीचे से इन्सान का जो रूप सामने आया है, वह बहुत ही विकृत है; किन्तु यह यथार्थ-अन्वेषण तो राजनीतिक पार्टियों के नेताओं के भी पास है। 'ब्लिट्ज़' तो आज सबसे ज़्यादा सशक्त और सारे तथ्यों तथा आँकड़ों के साथ इस घिनौने और ह्रासोन्मुख यथार्थ को हमारे सामने रखता है। फिर वह रचनाकार कहाँ है ? मैं कहाँ हूँ ?

मुझे लगता है कि कुछ खुद रचनाकार के ही व्यक्तित्व में बेहद गलत होने

अकेलापन, वही हताशा, वही 'एंग्रीयंगमेन,' वही 'थोटनिक'। तभी तो आज
सहसा लगा कि मनुष्य 'छोटा' और 'कमीना' होता जा रहा है। 'कफ़न' के
क प्रेमचन्द, 'हलाल का टुकड़ा' के लेखक यशपाल, 'पुरुष का भाग्य' के लेखक
म और 'दुष्कर्मी' के लेखक इलाचन्द्र जोशी को भी जिस मनुष्य को छोटा और
ीना कहने की हिम्मत न हुई, उसे हमने कहा। क्योंकि हमने मनुष्य को पहली
उसकी परम्परा, धर्म, दर्शन, संस्कृति से 'उखाड़कर' नये युगबोध और यथार्थ
इसिव के नाम पर उसे बिलकुल अकेला और नंगा करके देखा। अपूर्व, नये और
धुनिक! वस्तुतः पश्चिम की आधुनिकता और हमारी उभरती हुई आधुनिकता
बहुत बड़ा अन्तर है। जो इस मूलगत भेद को नहीं समझता वह अपनी सारी
मता, सामाजिक चेतना के बावजूद अपने रचनाकार की हत्या करता है और
ाज को बहुत बड़ी क्षति पहुँचाता है। 'नयी कविता' और 'नयी कहानी' के क्षेत्र
ऐसी कितनी प्रतिभाएँ चमकीं और झट विलुप्त हो गयीं। और आज कितने
सिद्ध रचनाकार इस कगार पर खड़े हैं, यह कितना करुण है! वस्तुतः किसी
, समाज की आधुनिकता वहीं की जीवन-चेतना सापेक्ष सत्य है—और इसे
ी पा सकता है जो वहाँ के यथार्थ जीवन के साथ-ही-साथ वहाँ के श्रेष्ठ मानवीय
दर्शों और मूल्यों में भी जिया हो। और जिसकी चेतना में यह न्यायबुद्धि हो,
ष्ट हो कि मनुष्य केवल यथार्थ ही नहीं है, इसके आगे वह दार्शनिक है और अन्त
वह रचनाकार है और इस तरह वह अपने जीवन-अस्तित्व के संघर्ष में विजयी
।

अपने व्यक्तिगत जीवन के दुःख, नैराश्य और अकेलेपन के ही बीच से अर्थात्
र मूल्यहीन परिप्रेक्ष्य में रचनाकार जब पूरे मनुष्य को देखने लगता है तो वह
ना और जीवन दोनों के प्रति अपराध करता है। क्या इसी सत्य का यह करुण फल
ी है कि पिछले दशक में अधिकांश नये कहानीकार वास्तविकता और संघर्ष के
धेयात्मक पक्ष को उभारने की जगह निषेधात्मक पक्ष को ही उजागर करते रहे
और कहानी-रचना की अपेक्षा वे अपनी पिछली पीढ़ी के प्रतिनिधि कहानीकारों
कठोर आलोचना और निर्मम टिप्पणी करते रहे हैं? क्या इसी का यह करुण
न नहीं है कि उदीयमान कहानीकारों की जो नयी पौध इधर उग रही है वह किस
ानक ढंग से 'एण्टी स्टोरी' के असामाजिक तत्त्वों के साथ हमारे सामने आ रही
? वस्तुतः रचनाकार का सहज धरातल वह है जहाँ वह अपने व्यक्तिगत जीवन
हताशा और निर्मम पराजय के भीतर से ऊपर उठकर उस महत् चेतना और
उत्साह में उतरता है जहाँ वह सम्पूर्ण मनुष्य और समाज से अपने हेतु भाव का
हरा सम्बन्ध अनुभव करता है। और तब जिसका यह विश्वास बनता है कि मैं
पने पूरे समाज के व्यक्तियों के प्रतिक्षण सहयोग और उनमें सम्पूर्ण आस्था के
ना एक क्षण भी नहीं जी सकूँगा।

अपने व्यक्तिगत जीवन की सीमाओं से ऊपर उठकर उस महत्तर चेत
शक्ति ही किसी भी रचना को वह आन्तरिकता प्रदान करती है जिससे मनुष
सारी 'क्राइसिस' रचना ज्योति से उजागर और प्रज्वलित हो जाती है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-कहानी की शिल्पगत उपलब्धियाँ यों अनेक हैं। ि
उतनी विविध नहीं जितनी कि जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल और इलाचन्द्र-काल
हैं। इसका एक निश्चित कारण यह है कि उस काल ने अपनी पूरी जागरूक
और कला-कौशल के साथ शिल्प के सफल प्रयोगों में अपना पूरा ध्यान दिया था
हम आज चाहे जितना अपने को उस शिल्पगत परम्परा और विरासत से मुक्त
कहें, पर यह सत्य है कि नयी कहानी जो अपने विचारगत-वस्तुगत तथ्यों में इतने
प्रबल वेग से आज के पूरे साहित्य पर छा गयी, उसका एक व्यावहारिक रहस्य यह
था कि उसे शिल्प की एक बेशकीमती विरासत अपनी पिछली पीढ़ी से सहज ही
प्राप्त थी। इस भूमिका के बाद हमें अपनी शिल्पगत उपलब्धियों को देखना होगा।

वस्तुतः पिछली पीढ़ी की तरह इस नयी कहानी का आग्रह उस शिल्प पर
था ही नहीं। सारा आग्रह था जीवन पर। इस तरह उसकी अभिव्यक्ति में शिल्प
उसके अनुरूप सहज ही जैसे स्वयं निर्मित होने लगा। अर्थात् शिल्प और जीवन
की चेतना की अभिव्यक्ति दोनों जैसे पूरी कहानी के हेतु के कार्य-कारण बन गये।
जो शिल्प पिछली पीढ़ी की कतिपय कहानियों में कृत्रिम और ओढ़ा हुआ लगता
था, वह यहाँ पहुँचकर सहज बन गया। इसके आगे यह भी सत्य है कि पिछले अनेक
शिल्प-रूपों और रूढ़ ढाँचों को हमने तोड़कर सर्वथा एक नये शिल्प-स्तर पर
जीवन को अपनी असीमता, वास्तविकता और विविधता में अभिव्यक्त होने का
सहज ही व्यापक क्षेत्र दिया। किन्तु यह वही कार्य है, जो हर नयी जागरूक पीढ़ी
हमेशा से करती आयी है। यही कार्य प्रेमचन्द और प्रसाद-युग ने किया। फिर
उस रूढ़ ढाँचे को तोड़कर यही अज्ञेय-जैनेन्द्र-काल ने किया।

जो इस शिल्प-उपलब्धि में एक क्रमागत स्वातन्त्र्य का भाव हमने अजित
किया—यह एक मुख्य बात है। अर्थात् कहानी हम आज किसी तरह से भी लिख
सकते हैं—धुरी है वही जीवनगत संवेदना, उसकी रचनागत माँग। इसका एक
सुन्दर फल यह हुआ कि कहानी एवं इतर कला के अन्य रूपों के तत्त्वों से घुल-
मिलकर एक मिश्रित शिल्प का उदय हुआ। 'रसप्रिया', 'एक और जिन्दगी', 'एक
कमजोर लड़की की कहानी', 'परिन्दे', 'दूध और दवा', 'सावित्री नम्बर दो' और
इस तरह की अनेक कहानियों में संगीत, चित्र, कविता, डायरी, रेखाचि
संस्मरण, रिपोर्ताज तथा और भी कितने रंग मिले हैं।

नाटकीयता के विभिन्न स्तरों का विकास आज की कहानी की विशेष उ
है। और मैं समझता हूँ, हर उत्तम कहानी की यह अनिवार्य विशेषता है
आज की कतिपय कहानियों में इस तरह का प्रयोग बहुत ही स्वाभाविक और सहज

स्तरों पर हुआ है। किन्तु यह सत्य केवल उन्हीं कहानियों में उपलब्धि बनकर आया है जो लेखक के गहन जीवनबोध, उसकी अर्थवान् भाषा और पूरे परिवेश के भीतर उसकी दृष्टि की निजता और पूरे यथार्थ की पकड़ के साथ रचित है।

इसी सन्दर्भ में यथार्थ के खण्ड के नये-नये पहलुओं को उभारने और उसके अन्दर जीवन की छोटी-छोटी अनुभूतियों के चित्रण की बात आती है। परन्तु आज की अधिकांश कहानियों मे इसकी कलात्मक अन्विति नहीं हो पाती। इसका मुख्य कारण है लेखक की अनुभव की निजता और इससे भी ऊपर उसमे किसी बड़ी आस्था और जीवनगत विश्वास का अभाव। किन्तु 'एक और जिन्दगी', 'हुस्ना बीबी', 'दूध और दवा', 'परिन्दे', 'कर्मनाशा की हार', 'डिप्टी-कलकटरी', 'सावित्री नम्बर दो' और 'सौत' आदि कहानियों मे इस कलातत्त्व की परम सफलता देखी जा सकती है। मेरा विश्वास है इसकी सफलता कहानी मे अतिरिक्त शक्ति ही नहीं देती, वरन् इससे कहानी मे अनुभूति की प्रखरता और ऊपर से बिखरी दिखती हुई कथा—स्थितियों को हेतु के ज्योति उजागर करने की सहज क्षमता प्रदान करती है।

शिल्प के भीतर वस्तु-योजना की बात आज की कहानी का मुख्य विषय है। निश्चय ही इसकी योजना, भावुकता, काल्पनिकता से दूर जीवन की बहुमुखी 'क्राइसिस' के भीतर से हुई है। यह वस्तु, इस सदर्भ मे कहीं मात्र 'ऐब्सर्डीटि' के रूप में पूरी-की-पूरी कहानी मे पिरोयी रहती है, कहीं यह कथास्थितियों की प्रक्रिया मे उसके भीतर से रचित होती है, कहीं बिल्कुल परम्परागत कहानी की ही तरह इसकी अभिव्यक्ति होती है।

कथा-वस्तु के प्रसंग में कहानी की सूत्रात्मकता की दिशा मे अनेक सफल प्रयोग हैं। सबकुछ पृष्ठभूमि मे घट चुका है, बीत चुका है। कहानीकार बिलकुल एक साधारण-सी बात, घटना, नाजुक और लचीला-सा प्रसंग छेड़कर वर्तमान और बीते हुए क्षण और अबाध काल को एक में रँगता हुआ चला जाता है। बीच-बीच में कथा का सूत्र केवल कहीं-कहीं इस तरह झाँकता चलता है जैसे बादलों के बीच कभी चाँद-सूरज दिख जाता है और कहानी मे नहीं बल्कि वहीं हमारे मानस में कहानी का सम्पूर्ण सूत्र जुड़ जाता है। 'पक्षाघात', 'एक और जिन्दगी' मे शिल्प के स्तर से इसकी एक अद्भुत छवि है।

साधारण जीवन के साधारण सगठन से विचार की अनुगूँज यह एक अन्य उपलब्धि है। इस प्रसग में एक बहुत बड़ी 'क्राइसिस' वे लोग उत्पन्न कर रहे हैं जो न जाने कहाँ की वस्तु, आज हिन्दी-कहानी मे ला रहे हैं और महज अपनी छिछली, उधार ली हुई आधुनिकता के फैशन मे इस मूलभूत और सहज आधार को ही भ्रष्ट करना चाहते हैं।

भाषा और अभिव्यक्ति की प्रभावोत्पादकता इसका अन्य मूल्यवान् सत्य है।

भावुक, रोमांटिक, काव्यमय, लाक्षणिक गद्य तो हमारी विरासत थी ही, पर आ
की कहानी ने अपनी भाषा की अभिधाशक्ति को अपूर्व ढंग से बढ़ाया है। ठंडा औ
अनगढ़ गद्य, विशेषणों से मुक्त और इसके उपयोग में जबर्दस्त संयम—यह बहु
बड़ी बात पैदा हुई है हिन्दी-गद्य में, इस नयी कहानी के माध्यम से।

स्वतन्त्रता के बाद की हिन्दी-कहानी ने विचार, शिल्प और वस्तु आदि क
एक स्तरों से बहुत ही मूल्यवान् उपलब्धियाँ की हैं। नये संदर्भ, नये प्रयोग—प
इन सबसे महत् सत्य है वही जीवन, और उसके प्रति रचनाकार की अपनी दृष्टि
जिसके अभाव में वह मात्र अपनी ही रची हुई रूढ़ियों में ग्रस्त होता है और अपने
को क्रान्तिदर्शी, अति आधुनिक और आचार्य सिद्ध करने का मोह उसे वास्तविक
रचना की मर्यादा से, उसकी अबाध प्रयोगशीलता से नीचे उतार लेता है। और
उस स्थिति में फिर वही रचना-शक्तियाँ उभरकर साहित्य की इस महत्त्वपूर्ण
विधा पर छा जाती हैं जिनसे, साहित्य और समाज, दोनों को ही बहुत बड़ी क्षति
होती है।

[ज्ञानोदय : १९६४]

परम्परा का नया मोड़ : रोमांटिक यथार्थ

बच्चनसिंह

यों कहानियों की नयी प्रवृत्तियों के लिए मोटे तौर पर सन् '५० के आसपास का समय निर्धारित किया जा सकता है। इस सिलसिले में शिवप्रसादसिंह की कहानी 'दादी माँ' जो '५१ के प्रतीक में छपी थी, द्रष्टव्य है। इस कहानी ने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। मेरा खयाल है कि इस तरह की कहानियों में गाँव की मिट्टी की जो सोंधी गंध थी, वह ताजगी से भरी हुई तथा पर्याप्त आकर्षक थी। फिर तो गाँव के अनेक विषयों को लेकर लिखी जाने वाली कहानियों की एक बाढ़ आ गई।

चाहे शिवप्रसादसिंह की 'दादी माँ' हो अथवा मार्कण्डेय की 'गुलरा के बाबा', सभी की परिणति आदर्शवादी है। ये प्रेमचन्द की परम्परा में पड़ती हैं फिर भी उनसे भिन्न हैं। इस भिन्नता के दो कारण हैं : एक तो यह कि किन्हीं अंशों में ये भोगे हुए जीवन की अभिव्यक्तियाँ हैं; दूसरा यह कि गाँव इनके पहले अपने रूप-रंग की पूर्णता के साथ चित्रित नहीं हुआ था। पर दादा, दादी, बाबा, माई के माध्यम से ध्वंसोन्मुखी आदर्शों की प्रतिष्ठा का प्रयास उनके रोमांटिक दृष्टिकोण का परिचायक है। गाँव की पूरी सेटिंग यथार्थ है पर उसे देखने का परिप्रेक्ष्य रोमांटिक है। प्रेमचन्द आदर्शवादी अवश्य थे पर रोमांटिक नहीं थे। गाँव के प्रति इनका लगाव इन्हें बहुत कुछ मोहग्रस्त बना देता है।

मार्कण्डेय ने इस वातावरण में उन प्रवंचनाओं को भी चित्रित किया है जो 'कल्यान मन' और 'महुए का पेड़' हड़प लेने के लिए सचेष्ट हैं। शिवप्रसादसिंह की दृष्टि परिवार के भीतर के अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों की ओर विशेष रही है। वे 'बीच की दीवार' तोड़ने के लिए बराबर प्रयत्नशील हैं। इस दीवार के कारण उन्हें सम्बन्धगत जटिलताओं को पकड़ने में अधिक सतर्क रहना पड़ा है। 'वशीकरण', 'मातामृत' में यह दीवार टूट जाती है। पर 'गंगा तीरथ कभी न छोड़े' में वह 'टूट-टूटकर बनती रहती है।

इस रोमांटिक यथार्थ का चटकीला रंग 'रेणु' की कहानियों में खूब दिखायी देता है। वे आदिम रस-गन्धों के कथाकार हैं। 'गाँव की धूप माटी', 'आँगन की धूप',

'बैनों की चटियाँ', 'धान की भूकी हुई बालियाँ', 'गमकता चावल', 'गौने की गाड़ी' की कड़वा तेल और सड़वा-सिन्दूर-मिश्रित गंध, मेला-ठेला, झमकता गीत, *हँसी-ठिठोली, गुदगुदाती पीठ, गुमबूदार मुस्कान आदि के वर्णन में गाँव ही नहीं, पूरा अंचल उभर आता है। ये अंचले आंचलिक कहे जा सकते हैं। इसके लिए 'लाल पान की बेगम' और 'तीसरी कसम' विशेष द्रष्टव्य है। ये अपेक्षाकृत कहीं ज्यादा* रोमांटिक हैं—'तीसरी कसम' तो नखशिख मे घटनाओं, वर्णन-विवरण मे रोमांटिक है। इनको आधुनिकता नहीं छूती। फिर भी ये निर्विवाद रूप से श्रेष्ठ कहानियाँ मानी गयी हैं।

इससे एक सवाल उठता है कि आधुनिकता से अछूती रहकर ग्रामांचल या गाँव के वातावरण में उगती हुई कहानियाँ भी क्या अच्छी कहानियाँ हो सकती हैं? चरित्र के माध्यम से तो बहुत-कुछ कहा जा सकता है। लेकिन इन कहानियों की विशेषताएँ कहीं और हैं। कोई भी कहानी गाँव, कस्बे या कॉफी से सम्बद्ध होने के कारण अच्छी या बुरी नहीं होती। *अच्छी होती है जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण की सफल अभिव्यक्ति के कारण। रेणु की 'तीसरी कसम' में चरित्र माध्यम है जो आदिम रस-गंधों को उभारता है। यदि इसमें भी चरित्र को किसी आदर्शवादी* परिणति पर पहुँचा दिया जाता तो कहानी की मौत हो जाती।

इस प्रकार की कहानियों मे आज के युग का संक्रमण (क्राइसिस) नहीं आँका जा सकता। उस स्थिति, उस वातावरण मे न यह संकट है और न उसका बोध। अतः उनमे आधुनिक संकट के बोध को चित्रित करना, आरोपित सत्य होगा, अनुमानित सत्य नहीं। चरित्र-चित्रण के माध्यम से भी युगीन संकट अपनी पेचीदगियों मे अभिव्यक्ति नहीं पा सकता जबतक वह 'पैरेबुल' के पास न पहुँच सके, *यह मेरा अनुमान है, निर्णय नहीं।*

मार्कण्डेय की चर्चित कहानी 'हंसा जाई अकेला' रोमांटिक यथार्थ को ही अभिव्यक्त करती है। यह गाँव के शब्दों, मुहावरों में वातावरण को जीवंत बनाती है। यह जीवन 'ट्रेजेडी' है, यह ट्रेजिक तनाव या टेंशन को नहीं उभारती। शिवप्रसादसिंह की जो कहानियाँ सर्वश्रेष्ठ मानी जा सकती हैं 'ट्रेजिक टेंशन' के हलके-तीखे दर्द से अनुप्राणित हैं। उदाहरण के लिए 'नन्हों', 'आरपार की माला' और 'बिन्दा महाराज' को लिया जा सकता है। *'नन्हों' में आस्था है, टेंशन है, तीखा दर्द है। 'आरपार की माला' मे विवशता, हार, लाचारी का अतिशय मर्मस्पर्शी* चित्रण है। इसमे *'टेंशन'* नहीं है, आस्था का कोई मुखर स्वर नहीं है। फिर भी समूची कहानी उस व्यवस्था के प्रति एक तीखा विक्षोभ उत्पन्न करती है जो अपने जबड़े मे लहलहाती मासूम जिन्दगी को जिन्दा निगल जाती है। इन कहानियों मे लेखक का परिप्रेक्ष्य बदला हुआ है। प्रवृत्ति की दृष्टि से ये कहानियाँ रोमांटिक यथार्थ और युगीन संक्रमण की कहानियों की कड़ियाँ मानी जा सकती हैं। 'बिन्दा

महाराज' अपने परिवेश के बावजूद भी उनकी सब कहानियों से अलग है। यह अपनी अछूती थीम के कारण महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि इसका महत्त्व इस प्रश्न के उठाने में है कि मानवीय सृष्टि में इन जीवों का स्थान कहाँ है।

परम्परा के इस मोड़-पथ पर ही रांगेय राघव, भीष्म साहनी, शेखर जोशी, अमरकान्त, कृष्णा सोबती, ममता अग्रवाल, श्रीमती विजय चौहान, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, शैलेश मटियानी, मधुकर गंगाधर, शानी वगैरह-वगैरह आते हैं। दूसरे शब्दों में ये प्रेमचन्द की परंपरा को आगे बढ़ानेवाले कथाकार हैं। इनमें शेखर और अमरकान्त में रोमांस की कमी पायी जाती है। 'कोसी का घटवार' रोमांटिक स्पर्श से रिक्त न होती हुई भी अधिक यथार्थ है। अमरकान्त की 'डिप्टी-कलक्टरी' तो एक न्यूरोटिक पात्र की कहानी है। 'जिन्दगी और जोंक' उस तरह के प्रभावों से मुक्त होकर आधुनिकता के बोध को जगाती है। पर इस कहानी को अपवाद समझना चाहिए। रांगेय राघव की कहानी 'गदल' अपने यथार्थवादी वातावरण, आस्था, नये मूल्यों के कारण काफी दूर तक श्लाघ्य है पर उसका अन्त 'मेलोड्रैमेटिक' हो गया है।

युगीन संक्रमण की मन.स्थितियाँ—जिंदगी का अर्थ

पिछले महायुद्ध के पश्चात् जो मन स्थिति पैदा हुई उसमें संवेदनशील व्यक्ति मूलतः दुःखवादी हो उठा। ज्ञान-विज्ञान और यांत्रिक प्रगति ने एक ओर पुराने मूल्यों को विघटित किया तो दूसरी ओर नये मूल्यों की सृष्टि नहीं की। राजनीतिक शक्तियों, खोखली नैतिकताओं और व्यावसायिकता ने मनुष्य की स्वतन्त्रता को अपहृत कर उसे अनेक प्रकार के यन्त्र-तन्त्रों का जड़ अंग बना दिया। संवेदनशील व्यक्ति समाज से टूटकर बेगाना और अजनबी हो गया। आज वह गहरी वेदना और अकेलेपन के एहसास के बीच मरकर जी रहा है। अधिक अच्छा होगा कि यह कहा जाय कि वह जीकर मर रहा है।

इस बोध को लेकर लिखी जाने वाली कहानियाँ युगीन संक्रमण के बोध की कहानियाँ हैं। इनमें अंकने वाला जीवन जीवन की 'ट्रैजेडी' नहीं है, बल्कि 'ट्रैजिक' जीवन है। यह समाज का बोध नहीं, बल्कि व्यक्ति का बोध है। ये 'ट्रैजिक विज़न' और ट्रैजिक-तनाव (टेंशन) की कहानियाँ हैं।

इसका सही विश्लेषण करने के लिए एक ही थीम पर लिखी गई चार लेखकों की कहानियों को देखा जा सकता है। देश के विभाजन से उत्पन्न संक्रान्ति को लेकर अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, अश्क और मोहन राकेश ने कहानियाँ लिखी हैं। अज्ञेय के 'शरणार्थी' संग्रह की कुछ और कविताओं पर लिखी कहानियों का उल्लेख हो चुका है। विद्यालंकार की 'एक और हिन्दुस्तानी का जन्म हुआ' एक आसन्न-प्रसवा शरणार्थिनी की कहानी है जो मरकर भी पाठकों के दर्द को अछू

छूती और उसके पति के आँसुओं से पाठक तनिक भी नहीं भीगता। अश्क की 'टेबुल लैंड' एक आदर्शवादी कहानी है, रोमांटिक भावुकता से पूर्ण। इनके समानान्तर मोहन राकेश की कहानी 'मलवे का मालिक' रखकर देखने से स्पष्ट हो जायगा कि उपर्युक्त कहानियों में जीवन की 'ट्रेजेडी' अभिव्यक्त हुई है तो इस कहानी में ट्रेजिक जीवन। प्रथम तीन लेखकों ने बाह्य दर्द को चित्रित किया है तो चौथे ने भीतरी दर्द को। राकेश ने अलगाव और अजनबीपन के भीतर से कोमल मानवीय सम्बन्धों को भी उभारा है। और मलवा ?—वहशीपन की चरम परिणति—पागलपन की उपलब्धियों का जीवन्त प्रतीक ! पर मलवे का मालिकाना हक किसका है ? रक्खे पहलवान का या गुर्राते हुए कुत्ते का ? कहना न होगा कि उसका असली मालिक कुत्ता ही है। मलवा कहानी की थीम भी है और उसका प्रतीक भी। किन्तु 'टेबुल लैंड' प्रतीक का लेबुल बनकर रह गया है।

राकेश की ही दूसरी कहानी है—'एक और जिन्दगी' जो आज के ट्रेजिक तनाव को पूरी गहराई से आँकती है। मनुष्य न तो छूटी हुई जिन्दगी को छोड़ पाता है और न चुनी हुई जिन्दगी को अपना सकता है। दोनों ओर खींचा जाकर वह क्षत-विक्षत हो जाता है। इसमें तनाव की स्थिति (सिचुएशन) का संकेत नहीं है, बल्कि वह कहानी के भीतर से ही मर्केनिक हो जाती है जब कि पूर्ववर्ती पीढ़ी के कथाकार स्थिति स्पष्ट करने की ज्यादा कोशिश करते हैं। लेकिन जब वे इसी घुटन, छोड़ने-पकड़ने की दुविधा को लेकर 'मिस पाल' लिखते हैं तो अपनी सारी बुनावट के बावजूद कहानी भी पाल के व्यक्तित्व के अनुरूप मोटी रह जाती है।

आधुनिकता को, उसकी घीस और टेरर को, निर्मल वर्मा ने अपनी कहानियों में अपेक्षाकृत व्यापक फलक पर चित्रित किया है। उसको व्यापकता और समग्रता से ग्रहण करने के फलस्वरूप कहानियों का परिपाटीग्रस्त (कान्वेंशनल) पैटर्न बिलकुल बदल जाता है। यहाँ पर कहानियों में एक केन्द्रीय भावभूमि की तलाश करने वाले आलोचकों को निराशा होगी। 'लन्दन की एक रात' में केवल 'नीविग' और रंगभेद को देखना उस केन्द्रीय भावभूमि को खोजना होगा जो वहाँ उस रूप में नहीं है। यह आधुनिक युग की विवशता, हार, लाचारी और चीस को अभिव्यक्त करती है।

कठिनाई यह है कि निर्मल की कहानियों के 'टेक्स्ट' को समझने के लिए 'स्ट्रक्चर' का समझना आवश्यक हो जाता है। इनमें परम्परानुमोदित अथवा कथावस्तु (प्लाट) नहीं है, विचार या आइडिया को, जीवनानुभूति को नया अनुक्रम देने का प्रयास नहीं है, आकर्षक आरम्भ और चमत्कारपूर्ण समापन नहीं है। इनमें जीवन की आन्तरिक लय को बाँधने की कोशिश की गई है, रूप का स्थान कम्पोजीशन (अरेंजमेन्ट) ने ले लिया। इनका तन्त्र आवर्त्तात्मक प्रकाश-वृत्तों (सर्कुलर स्पॉटलाइट) का तन्त्र है।

'लंदन की एक रात' मे जीवन की अनिश्चितता, घुटन, चीख, व्यर्थता, भेद-भाव, बेगानापन आदि को अनेक सूत्रों मे पिरोया गया है। कोई एक व्यक्ति ही 'राटर' नही है, बल्कि सभी लोग उस कुण्डली-चक्र मे फँसे हुए हैं, सभी ब्लडी बास्टर्ड हैं। वह जिन्दगी के छोटे टुकडो का स्नैप लेता है, अनेकानेक दृश्यो के अनुभूत सत्यो को एकत्र करता है, जिनमे से कुछ का अपना महत्त्व है और कुछ प्रतीकात्मक होते है।

निर्मल की कहानियो मे वर्ग-संघर्ष को ढूँढ़ निकालना और उसी पर दृष्टि को केन्द्रित करना उन पर अपनी भावनाओं को थोपना है। यह चित्र का एक टुकड़ा हो सकता है, सम्पूर्ण चित्र नही। वह आधुनिकता के सत्रास (हॉरर) को चित्रित करते हैं। 'कुत्ते की मौत' भी इसी प्रकार की कहानी है। उसका फलक व्यापक नही है फिर भी मौत की पीड़ा का सत्रास गहराई मे पैठकर चित्रित किया गया है। आज के मनुष्य के लिए मौत विषम समस्या है, उसे वस्त्रो का बदलना नही माना जा सकता।

प्राय. प्रश्न उठाया गया है कि निर्मल को विदेशी वातावरण में ही वह सत्रास क्यो मिलता है ? लेकिन यह बात बहुत विशेष महत्त्व की नही है। लारेंस डरेल के 'एलजेड्रिया क्वार्टरेट' मे एक विदेशी वातावरण दिखायी पड़ता है, फिर भी वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सशक्त कृति है। महत्त्व वातावरण का नहीं, जीवन-दृष्टि का होता है। इस सिलसिले मे कुलभूषण की एक कहानी 'अनुभव का दायरा' का उल्लेख अप्रासगिक नहीं है। इस कहानी मे जो विदेशी वातावरण उठाया गया है वह मुद में पिटा हुआ तो है पर उसके माध्यम से एक ऐसा मूल्य भी उभरता है जो महत्त्व का है। इसमे जीवन-गलित जीवन के भीतर से एक अर्थ उगता है। निर्मल ने जहाँ जीवन को लेकर जीवन को अर्थ दिया है वहाँ यह प्रश्न बेकार हो जाता है। किन्तु उनकी बहुत-सी ऐसी कहानियाँ हैं जहाँ जीवन को छोड़कर उसे अर्थ देने की कोशिश की गई है। दास्तोव्स्की ने एक स्थान पर लिखा है कि जीवन के अर्थ को प्यार करने वाले को पहले जीवन को प्यार करना चाहिए। जीवन से ग़ायब होने पर जीवन का अर्थ सन्तोषप्रद नही हो सकता।' 'लवर्स', 'एक शुरुआत', 'पराए शहर में' ऐसी ही कहानियाँ है। इनमे जीवन को अर्थ तो दिया गया है, लेकिन जीवन छूट गया है।

युगीन संक्रमण में एक ओर चीख और टेरर है तो दूसरी ओर अकेलेपन की ठण्डी खामोशी। गलीज जिन्दगी जीने की विवशता, अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों को तोड़ लेने की लाचारी। उषा प्रियंवदा की कहानियो मे आधुनिक जिन्दगी के ये पक्ष चित्रित हैं।

कभी तो मनुष्य अकेलेपन का स्वेच्छया वरण करता है और कभी उसके चुनने के लिए बाध्य हो जाता है। 'मोहबंध' की अचला अकेलेपन का स्वेच्छया वरण

करती है। वह अपने को दूसरे से सबद्ध करने-करते भीगी
लौट आती है, क्योंकि भीगी पलकों की दुनिया उसकी अपनी
का दिन' की माया का जीवन एक रेतीला मैदान है जिसका को
है। बन्धन में बँधकर भी मनुष्य अकेला है और न बँधकर भी।
निष्कृति नहीं मिलती। 'वापसी' के गजाधरबाबू का अकेलापन,
के बीच उभरता हुआ विशेषतापूर्ण अकेलापन है। इसे चुनने के लि
'ज़िन्दगी और गुलाब के फूल' की विवशता, अकेलापन अधिक मर्मस्
ज़िन्दगी में असफल, कमाने वाली छोटी बहिन से अपमानित, माँ से
बाहर जाकर भी लौट आता है—मैले कपड़ों की ढेर में, गन्दे बिस्
सोचता है—लानत है ऐसी ज़िन्दगी पर, फिर भी उसे यह ज़िन्दगी जी
है। गजाधरबाबू अर्थोपार्जन करके असफल सिद्ध होते हैं और सुबोध
न करके। तब क्या ज़िन्दगी दोनों तरह असफल है? उषा में जीवन के
दृष्टिकोण है, पर उनमें निर्मल का व्यापक कथ्य और शिल्पगत बिखराव
कथा-तत्त्व उनकी प्रत्येक कहानी में मिलेगा। पर निर्मल को अपनी अनु
लिए बिखरा हुआ पैटर्न ही अधिक सगत है।

रामकुमार, विजय चौहान आदि कतिपय कहानीकारों की रचनाएँ आधुनि
के मेल में हैं।

इस तरह की कहानियों के सन्दर्भ में आस्था का सवाल उठता है। कहा ज
है कि ये कहानियाँ किन अर्थों में जीवन को बेहतर बनाती हैं? क्या ये अनास्
घुटन, लाचारी, विवशता आदि की बँधी गलियों में भटकाकर हमें गुमराह न
करती? इस भूल-भुलैया के अतिरिक्त जिसे मनुष्य खुद चुनता है, उसके जीव
की कोई और व्याख्या नहीं है? क्या ज़िन्दगी कुछ और के साथ भटकाव नहीं है?
ा केवल भटकाव नहीं है। ये सवाल सच हैं और उनमें अधिक सच है वह ज़िन्दगी
जसको लेकर ये सवाल उठते हैं। तो उनको क्यों न चित्रित किया जाय? पर इन
ालों का जवाब बने-बनाये दार्शनिक सिद्धान्तों के नुस्खों में नहीं मिलेगा। इस
अलग से विचार करने की जरूरत है। इन सभी कहानियों में आस्था की कमी
नहीं है, कुछ में आस्था का निषेधात्मक रूप मिलेगा। कुछ ऐसी अवश्य है जो घुटन
को प्रगाढ़ बनाकर उसके प्रति आसक्ति जगाती हैं। ऐसी कहानियाँ रुग्ण मनोवृत्ति
की द्योतक हैं।

मध्यवर्ती स्थिति—आस्था का अन्वेषण

कुछ कहानीकार ऐसे हैं जिन्हें आधुनिकता उपर्युक्त रूप में स्वीकार नहीं है।
ये अपने परिवेश और वातावरण में नये मूल्यों की खोज करते हैं, उनमें
का द्वंद्वात्मक तनाव नहीं है पर उसकी

कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। उनकी बहुचर्चित और प्रशंसित कहानी 'राजा निरबंसिया' जीवन की मार्मिक ट्रैजिडी है लेकिन उसका 'विजन' ट्रैजिक नहीं है। पर वह नये मानवीय मूल्य देती है।

इस दृष्टि से मार्कण्डेय की 'माई', राकेश की 'आर्द्रा' और कमलेश्वर की 'देवा की माँ' का तुलनात्मक अध्ययन रोचक होगा। 'माई' कहानी स्थूल आदर्शवाद से अनुप्राणित है। उसके मूल्य पुराने हैं कि माँ हर हालत मे कपूत (आर्थिक दृष्टि से हीन पुत्र) का साथ देती है। राकेश की आर्द्रा का मूलभूत आधार वही है। यह दूसरी बात है कि राकेश बड़े भाई अर्थात् वकील साहब के बदले हुए मानवीय सम्बन्धों को, जो व्यस्तता और यान्त्रिकता की देन है, उभारते हैं। भीष्म साहनी के 'चीफ की दावत' की माँ की भूमिका मेलाड्रैमेटिक होने के कारण कृत्रिम प्रतीत होती है। किन्तु देवा की माँ मे नवीन नारी का दृप्त स्वर सुनायी पडता है, जो नये मूल्यो की सृष्टि करता है। इसे अपेक्षित परिप्रेक्ष्य दे देने के कारण कहानी की स्वाभाविकता कही भी मारी नही जाती। पुराने जीर्ण सम्बन्धो को काटकर वह स्वावलम्बन और श्रम के प्रति अटूट निष्ठा व्यक्त करती है।

'एक नीली झील' जैसी लम्बी कहानी मे मानवीय संवेदना अपने विस्तार मे अंकित की गई है। इसकी व्यापक परिधि मे परायेपन का बोध, मृत्यु की विभीषिका, गहन और अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध का समावेश करते हुए नवीन नैतिक तथा मानव-मूल्यो को उभारा गया है। कही-कही दो भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाओ को एक साथ रखकर नये जमाने की क्रूरता और पुराने जमाने के उच्चतर मूल्य को अंकित करते हुए संकेतित किया गया है कि पुराने मूल्य सब जगह अग्राह्य नही हैं। 'खोयी हुई दिशाएँ' आधुनिकता के बेगानेपन को, उससे उत्पन्न गहन अवसाद को उकेरती हुई आज के मानव को सर्वत्र से काटकर अकेला बना देती है। इसमे ट्रैजिक जीवन अपने शहर के विरोध मे पूर्ण व्यथा के साथ उभरता है। इसमे आस्था या मूल्य के प्रति कही आग्रह नही है—फिर भी पूरी कहानी खोयी हुई दिशाओ मे दशा-विशेष—अपनेपन का—जबरदस्त संकेत देती है। यह 'राजा निरबंसिया' को पीछे छोड़ देती है। पर 'दुख नहीं कोई नही' जैसी कहानियाँ नवीन चेतना को व्यक्त करने मे समर्थ नही हो पाती, क्योंकि जिस वस्तु पर वे आधारित है, वह खुद नयी नहीं है।

राजेन्द्र यादव ने व्यक्ति के माध्यम से सामाजिकता की उपलब्धि की बात उठायी है। पर उनमे न तो व्यक्ति-मुक्ति की संवेदना परिलक्षित होती है और न सामाजिकता की उपलब्धि। 'बिरादरी के बाहर' ही एक ऐसी कहानी है जो नये मूल्यो को स्वाभाविक ढग से उभारती है, किन्तु इसकी थीम पुरानी पड़ गई है। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' अविश्वसनीय अन्धविश्वास पर आधारित है तो टर्निंग 'मनो-वैज्ञानिक केस' पर। पहली कहानी मे एक स्थूल मूल्य उभरता है तो दूसरी मे व्यक्ति के मानसिक ओरिएंटेशन से विकसित होती जीवन-दृष्टि। दोनों उनकी अधि-

पांच कहानियों में 'रहिटारिक' प्रधान हो उठता है पर इस कहानी में वह अपनी चरम परिणति पर पहुँच गया है। पूर्णतः अन्तःस्थ होने का फल यह होता है कि कलाकार 'टेक्नीक' के चमत्कारपूर्ण खेलों में उलझ जाता है और वह अपनी कमियों की पूर्ति वैयक्तिक उलझावों (फैंटासमेगोरिया) से करता है।

'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' में उपर्युक्त तथ्य और भी पुष्ट हो जाता है। यह सुखान्त और दुःखान्त दोनों प्रकार की रुचि रखने वालों के लिए लिखी गयी है, गोया यह कहानी कोई इन्द्रजाल हो। उसमें बताया गया है कि कहानी दूसरे महायुद्ध की पहले की है। यदि दूसरे महायुद्ध के बाद की होती तो क्या महायुद्ध के बाद कमज़ोर लड़कियों की पौध खत्म हो गई और इस प्रकार के नेता चुक गये? सारी-की-सारी कहानी ट्रिकी, चमत्कारपूर्ण है।

इसी शीर्षक की मन्नू भण्डारी की कहानी है जो बहुत ही स्वाभाविक पद्धति पर चलती है। इसमें अनुभूति की गहराई के साथ-साथ नया मूल्य भी उभरता है जो युग के सर्वथा अनुकूल है। वह अपने प्रति ईमानदार नहीं, ऐसी स्थिति में वह जो है वह नहीं है। वह सब के ऊपर पर्दा डालती है। यही सच है, यही वास्तविकता है, किन्तु जहाँ पर वे जान-बूझकर कोई मूल्य प्रस्तुत करना चाहती हैं, वहीं कहानियाँ बुरी तरह असफल हो जाती हैं। 'रानी माँ का चबूतरा' और 'मैं हार गयी' ऐसी ही कहानियाँ हैं। उनकी दूसरी कहानियाँ 'कील और कसक', 'यही सच है' आदि एक और प्रश्न उठाती हैं—क्या नारी सेक्स है? न इससे ज़्यादा न इससे कम। क्या मन्नूजी इससे सहमत हैं कि नारी एक जाति होती है, व्यक्ति—इण्डिविजुअल—नहीं?

भूत, प्राण, ट्यूमर और मिथ

इधर कुछ कहानियाँ ऐसी भी लिखी जा रही हैं जिनमें परम्परागत कहानीपन नहीं है। ये भागते हुए विश्व भूत, प्राणों को पकड़ती हैं, ट्यूमर का निदान करती हैं या फिर मिथ हो जाती हैं। कुछ लोगों ने इन्हें साहित्यिक कहानियों की संज्ञा दी है, जो बेमानी है, क्योंकि तब तो अन्य कहानियाँ असाहित्यिक हो जायेंगी। रमेश बक्षी का 'भेम' भागते हुए भूत को पकड़ता है। [illegible] देता है। पर इससे कुछ निष्कर्ष निकलने का सवाल नहीं उठता।

[illegible], [illegible], [illegible], श्रीकान्त वर्मा [illegible] के [illegible] में [illegible] विचारों की [illegible] है। [illegible] कहानीकार [illegible] है और वे [illegible] हैं। [illegible] उनकी [illegible] की [illegible] है। [illegible] और [illegible] को [illegible] [illegible] है और [illegible] कहानियों के [illegible] [illegible] नहीं है तो [illegible] नहीं है।

हाँ, 'मेरे और नंगी औरत के बीच' में क्षण-विशेष में उत्पन्न विचार-प्रक्रिया को सहज ढंग से बाँधा गया है, जो मूल्य की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

श्रीकान्त वर्मा की कहानियों को ट्यूमर—ब्रेनट्यूमर—की कहानियाँ कहा जा सकता है। कहीं आत्मग्लानि और झल्लाहट है, कहीं अनिर्णयात्मक स्थिति—एकचित्तता का सर्वत्र अभाव, बेहद बेचैनी और क्षोभ! ऐसी स्थिति में वह झाड़ी कभी नहीं लाँघ सकता, जिन्दगी को जीना चाहकर भी प्लेटफॉर्म पर चिपका रह जाता है—न जी पाता है, न मर पाता है। न वह प्रिया के समकक्ष उठकर प्यार करने में समर्थ है और न पकड़ सकता है और न छोड़ सकता है, क्योंकि ऊमि वह स्वयं है। ये सब आधुनिकता की मनोदशाएँ हैं। पर क्या इनके भीतर से कोई मूल्य उभरता है? इसका उत्तर नकारात्मक होगा। इनमें चित्रित झल्लाहट और बेचैनी का हिस्सेदार पाठक नहीं हो पाता। साफ है कि यह लेखक के अपने जीवन की मुक्ति नहीं है। वह उसे कल्पना के स्तर पर उठाता है। ये बुद्धि के स्तर पर भी नहीं उभरतीं। अतः ये छूत नहीं, पास से गुजर जाती हैं। 'शवयात्रा' ट्यूमर से अलग है जो ट्यूमर की छाया में बुरी तरह धुँधली पड़ जाती है। 'दुपहर' ट्यूमर से मुक्त है, इसलिए वह जीवन की मस्ती और निश्चिन्तता की कहानी बन गयी है। इस सिलसिले में शिवप्रसादसिंह की 'सुबह के बादल', वैद की 'उड़ान' की याद आती है। पर ये तीनों कहानियाँ तीन प्रकार की संवेदनाओं की कहानियाँ हैं। 'सुबह के बादल' से निर्व्याज प्रसन्नता जबरदस्त आस्था से जुड़ी है, 'उड़ान' की प्रसन्नता में नये-स्वस्थ मूल्य उभरते हैं। 'दुपहर' में सैलानीपन का सहज चित्रण है जो जीवनगत साहस और निश्चिन्तता के आयाम को प्रस्तुत करती है। कुँवर-नारायण ने नये ढंग की कहानियों का सूत्रपात किया है जिन्हें 'मिथिकल' कहा जा सकता है। धर्मवीर भारती की कहानियों पर उनका कवि कहीं हावी नहीं होता। उनके कहानियों में कहानीपन भी मिलेगा, मानवीय मूल्य और संवेदना भी।

कुछ नये दौर

इधर कहानी का एक नया दौर और आया है—अचेत कहानी का दौर। यह नाम उतना ही बेमानी है जितना 'नयी कहानी' नाम। इस आन्दोलन में कुछ लोग जान-बूझकर सम्मिलित हैं, कुछ को घसीट लिया गया है। कुछ फैशनपरस्त अ-कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं। एलेन गिन्सबर्ग के मानस-पुत्रों ने भी इस क्षेत्र में प्रवेश किया है। कहानी के सन्दर्भ में नामों-आन्दोलनों का कुछ महत्त्व नहीं है। महत्त्व कहानियों का है। राजकमल चौधरी ने अपनी कहानियों में सेक्स-प्रस्थान की विकृतियों को बहुधा चित्रित किया है। सेंसेशन का लेबुल हटा देने पर भी रवीन्द्र कालिया, मनहर चौहान वगैरह की सम्भावनाओं के प्रति हम आशान्वित हैं।

एकदम नवीन कहानीकारों की उपलब्धियों के विवेचन के लिए अलग लेख अपेक्षित है।

उपलब्धियाँ

यद्यपि स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों में पूर्ववर्ती कथाकारों की तरह बड़े व्यक्तित्व नहीं बन पाये हैं फिर भी इधर के कहानीकारों ने कहानी की परम्परा को काफी आगे की मंज़िल पर पहुँचाया है। वस्तु और रूप-सम्बन्धी नये प्रयोगों और नवीन दृष्टियों के कारण इनमें विशेष प्रकार की ताजगी और सम्पुष्टता आयी है। पाठकों के अनुभव का दायरा विस्तृत हुआ है और उनकी संवेदनाएँ समृद्ध हुई हैं।

कुछ कहानियों को छोड़कर इसी पीढ़ी के कथाकारों ने ग्राहम हफ के शब्दों में 'लो मिमेटिक' अर्थात् अन-हिरोइक कहानियाँ लिखी हैं जो युगीन चेतना के विविध आयामों को चित्रित करती हैं।

ये पुराने कहानीकारों की तरह विचार या आइडिया की कहानियाँ नहीं हैं। इनमें भोगे हुए जीवन को अभिव्यक्ति मिली है। जहाँ पर यह भोगा हुआ जीवन सामाजिक सन्दर्भ पा गया है वहाँ की अभिव्यक्त जीवन-चेतना अधिक व्यापक और गहरी बन पड़ी है। ऐसी कहानियों की संख्या कम नहीं है।

ये उस जीवन और जगत् को प्रतिफलित करती हैं जिसमें हम साँस लेते, जीते हैं। ये आज की उदासीनता, तनाव, सन्देह, विकर्षण, अलगाव, वेगानगी, अजनबी-पन आदि को चित्रित कर जीवन की जटिलताओं को रूपायित करती हैं।

यह आज के जीवन का यथार्थ है, इससे भागा नहीं जा सकता। प्रश्न होता है इसके प्रति दृष्टिकोण का। यदि इनको चित्रित करने वाली कहानियाँ आस्था और नवीन मूल्यों से अनुप्राणित है और साथ ही लेखक के जीवन की आभोग हैं तो वे निश्चय ही स्वागताई हैं। बहुत-से कथाकारों ने इसके प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण अपना लिया है अथवा इसे फ़ैशन के रूप में ग्रहण किया है। ये दोनों स्थितियाँ ईमानदारी के विरुद्ध हैं। पर सब मिलाकर इनमें आस्था और नये मूल्यों का स्वर ही अधिक मुखर है। ये मूल्य कहीं निश्चयात्मक हैं तो कहीं निषेधात्मक।

जीवन की सतह के भीतर प्रविष्ट होकर उसकी आन्तरिक पर्तों को उद्घाटित करने के फलस्वरूप कहानियों का क्रमागत पैटर्न बहुत बदल गया है। कहानियों की बनावट-वस्तु, कथातत्त्व, प्रतीक, मोटिफ—परिवर्तित दिखाई देते हैं जिससे वह जीवन की जटिलता को समग्रतः अपने में समेट सके। भाषा का शब्द-भण्डार और अभिव्यंजनाशक्ति काफी समृद्ध हुए हैं—विशेषतः गाँवों में प्रयुक्त होने वाली ठेठ शब्दावली द्वारा। शब्द-प्रयोग के रंग-ढंग में अर्थात् बुनावट, टेक्सचर—अलंकृति, बिम्ब, मार्मिकता आदि को नये सन्दर्भ दिये गए हैं, वाक्य-विन्यास भी बदला हुआ प्रतीत होता है। पुराना रूप लगभग टूट चुका है।

अपनी उपलब्धियों और ऊँचाइयों के बावजूद भी इस दौर की कहानियों की सीमाएँ दृष्टिगोचर होने लगी हैं। अब समय आ गया है कि हम इस तथ्य को स्वीकार कर नयी दिशाओं की खोज करें, अन्यथा इस दौर के कथाकार भी अपने को उसी प्रकार दुहराने लगेंगे—अंशों में यह होने भी लगा है—जिस प्रकार पूर्ववर्ती पीढ़ी ने पिछले डेढ़ दशक में अपने को दुहराया है।

[आलोचना : १९६५]

नयी कहानी और एक शुरुआत

नामवरसिंह

कहानी क्या सचमुच ही, जैसा उस आयरिश लेखकने लिखा है, गुरिल्ला लड़ाई है, जो सरहदों पर लड़ी जाती है? हिन्दी में कहानी की इतनी चर्चा, जब कि दूसरे देशों में इस विषय पर एकदम सन्नाटा —आखिर इस घटना की क्या व्याख्या है? और क्या हिन्दी में भी कहानी का सच्चा संघर्ष इस शाब्दिक संग्राम की बाहरी सीमाओं पर नहीं चल रहा है? एक समय रूस के ऐसे ही सरहद पर चेखोव की कहानियों को लड़ना पड़ा था, और फिर उसके बाद अमेरिकी सरहद पर हेमिंग्वे और उसकी पीढ़ी को। बहरहाल, हिन्दी में उत्तर-शती का पहला दशक निश्चय ही एक नये कहानी-उत्थान के लिए याद किया जायगा। कुछ तो इस बात के लिए, कि देखते-देखते एक दशक के अन्दर दर्जनों व्यावसायिक-साहित्यिक पत्रिकाएँ निकल गईं, और उनके साथ नये कहानीकारों की एक पूरी फौज खड़ी हो गयी; और कुछ इस बात के लिए भी कि हिन्दी में कहानी-सृजन की एक नयी संभावना दिखायी पड़ी। शोरगुल के बीच यह सृजनात्मक सम्भावना कहीं दब न जाय, इस लिए इतिहास के पूरे परिदृश्य में वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना आवश्यक हो उठा है।

आजादी के साथ भारत में वह शिक्षित मध्यवर्ग स्थापित, विकसित और संवर्धित हुआ, जो साहित्य के इतिहास में कहानी का जन्मदाता है। शुरू के तीन-चार वर्षों की संक्रमणकालीन अराजकता की स्थिति जैसे ही समाप्त हुई, और संविधान-निर्माण के द्वारा देश में जनतंत्र कायम हो गया, साहित्य-सृष्टि के लिए एक नया वातावरण मिला। राष्ट्रभाषा हिन्दी ने राजकीय स्वीकृति प्राप्त करके भारतीय साहित्य में एक नयी ऐतिहासिक भूमिका शुरू की और लोकप्रिय साहित्य-रूप कहानी को स्वभावत: सबसे अनुकूल वातावरण मिला। यह आकस्मिक नहीं है कि जो 'कहानी' पत्रिका सन् १९३८ में निकलकर कुछ दिनों बाद ही लड़ाई के कारण बंद हो गयी, उसे फिर निकालने का हौसला सरस्वती प्रेस को १९५४ में हुआ। सरस्वती प्रेस की 'कहानी' हिन्दी में इस दशक की कहानी की पहली साहित्यिक पत्रिका ही नहीं, बल्कि एक तरह से इस पूरे कहानी-दशक की शुरुआत है। कहानियाँ 'हंस', 'प्रतीक', 'कल्पना' आदि पत्रिकाओं में भी छपती थीं, और छपने

लगी थीं निश्चय ही काफ़ी पहले से, किन्तु 'कल्पना' को छोड़कर शेष १९५४ आते-आते बद हो गयी। इसके अतिरिक्त बिलकुल कहानियों की पत्रिका निकलने की कुछ और ही बात है।

तब तक साहित्य में कहानी का स्थान प्राय वही था, जो इन साहित्यिक पत्रिकाओं में कहानी को दिया जाता था। नयी प्रतिभाएँ मुख्य रूप से अन्य विधाओं की ओर उन्मुख थीं। इसलिए जब 'कहानी' पत्रिका निकली, तो आभास हुआ कि कहानी-क्षेत्र में भी कुछ नयी प्रतिभाएँ आने लगी हैं, और शायद इसीलिए पूरी एक पत्रिका की आवश्यकता महसूस हो रही है। महसूस तो इस बात को सभवत और लोग भी करते रहे होंगे, किन्तु उस समय इसको पहली बार वाणी दी अप्रैल '५४ की 'कल्पना' मे 'साहित्य-धारा' के अन्तर्गत 'चक्रधर' नाम से लिखने वाले एक नये लेखक ने। वक्तव्य इस रूप मे आया कि एक लम्बे समय के बाद छोटी कहानियाँ फिर से अपनी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने लगी हैं। प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल को छोड़कर सहसा पाठक हिन्दी-कहानियों मे किसी भी ऐसे स्थान पर रुकने को बाध्य नहीं हुआ, जहाँ थमकर एक पीढ़ी ऐसी मिली हो, जिसने छोटी कहानियों की वस्तु और शैली समृद्ध की हो। इधर लेखकों की एक ऐसी पाँत उठ खड़ी हुई है, जो अपनी जगह, रुचि और सामाजिक संस्कार की विभिन्नता के साथ, पाठकों मे अपने ढग से पहुँच रही है। यह कथन वस्तुस्थिति के कितना निकट था, इसकी पुष्टि हुई आगे चलकर 'कहानी' के सचालक-संपादक श्रीपतराय के इन शब्दों से कि "युद्धोत्तर हिन्दी-कहानी में जो गतिरोध उत्पन्न हो गया था, वह अब जैसे टूट चला है, और स्वस्थ प्रवृत्तियाँ बलशीला हो चली हैं।"

इस प्रकार कहानी में एक नयी पीढ़ी केवल आयी ही नहीं, बल्कि एक गतिरोध के बाद आयी—गतिरोध को तोड़कर। गतिरोध इस प्रकार का था, कि "जैनेन्द्र कुमार, यशपाल, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि युद्धपूर्व की बड़ी प्रतिभाएँ मानी जाती थीं, और १९४५ तक पहुँचते-पहुँचते इनकी रचना-शक्ति को किसी ने ग्रस लिया। कुछ लोग कभी-कभी अच्छी-न-बुरी कहानियाँ लिखते रहे, पर कुछ बिलकुल ही मौन हो गए।"

यशपाल और अज्ञेय को संभवत' अपवाद कहा जा सकता है। नये कहानीकारों ने, नि.सन्देह, इनसे प्रेरणाएँ ली हैं। किन्तु क्या इनके परवर्ती कहानी-कृतित्व मे सचमुच ही कोई रचनात्मक संभावना दिखती है? अज्ञेय ने निश्चय ही युद्ध के मोर्चे से लौटकर साहित्यिक सक्रियता का परिचय दिया। 'प्रतीक' के सपादन के साथ उन्होने कविता और उपन्यास की तरह कहानी-रचना की दिशा में भी उत्साह से कदम बढ़ाया, और वह भी युद्धोत्तरकालीन विविध सामाजिक अनुषंगों का आभास देते हुए। किन्तु क्या 'शरणार्थी' और 'जयदोल' की कहानियाँ स्वयं लेखक के पूर्ववर्ती प्रयासों का परिमार्जन-मात्र नहीं हैं? आकस्मिक नहीं है कि कुछ दिनों

वाद कलाकार की मुक्ति' के साथ उन्होंने कहानी से एकदम मुक्ति
'वस्तु-सत्य' हेय प्रतीत होने लगा, और 'काव्य-सत्य' अथवा 'प्रतीक
कहानी की वास्तविक भूमि का छूटना निश्चित था। विचित्र सा
युग में आकर यशपाल और अज्ञेय दोनों ही पुराण-गाथा की ओर
दम दो भिन्न राहों के राही इस मामले में एक मंजिल की ओर चल
सत्य' की खोज में।

स्पष्ट है कि ये लेखक नये संदर्भ से ठीक-ठीक नहीं जुड़ पाये।
है कि स्वाधीनता के बाद हमारा साहित्य सर्वथा एक नये संदर्भ में
संदर्भ से जुड़े बिना लेखन तो संभव है, लेकिन साहित्य-सृजन नहीं।
पर प्रकाश डालते हुए अज्ञेय ने स्वयं स्वीकार किया है, 'केवल सन्दर्भ
और वही नया अर्थ दे देता है। जो नये सन्दर्भ को पहचानने को तैया
आप नया होता जाता है, और उसमें से नया अर्थ बोलने लगता
दृष्टि से कहना न होगा, कि अज्ञेय की तत्कालीन कहानियों में स
नया अर्थ बोलना न भुला गया। दरअसल, इस पीढ़ी को अपने यु
का ठीक-ठीक एहसास तभी हुआ, जब एक नयी पीढ़ी का नया
आया।

इस एहसास का स्पष्ट पता चलता है पहली बार श्रीपतराय के
जब वे 'कहानी : नववर्षांक—१९५६' में कहते हैं "कि बीच-बीच में
लगता है कि कहीं मैं समय की गति से पीछे तो नहीं हूँ, और इसी
*हिन्दी-कहानी में वह उन्नति परिलक्षित नहीं हो रही है, जिसकी
चाहिए। यह स्वीकार करने में मुझे आपत्ति नहीं कि कहानी का स्व
है, और मैं शायद अपने पुराने संस्कारों के कारण कहानी से वह मांग
आज उसका महत्व ही नहीं है।"*

इस संदर्भ में अनायास ही अंग्रेजी के प्रतिष्ठित कथाकार ई० एम्
का यह कथन याद आ जाता है *मैं सोचता हूँ कि जिन कारणों से मैं
लिखना बंद कर दिया, उनमें से एक कारण यह है कि संसार का स्
इतना बदल गया। मैं पुराने ढंग की, परिवारों वाली दुनिया के बारे में
सकता था, जो अपेक्षाकृत शान्त थी। वह सब चला गया। और या
दुनिया के बारे में सोच सकता हूँ, फिर भी उसे कथाकृति में नहीं रख स*

*इस प्रकार की आत्म स्वीकृतियाँ नये-पुराने के सारे झगड़े के बाद
है, और कहना न होगा कि हिन्दी-कहानी में यह समय इस संघर्ष का
का था।*

उस समय हिन्दी-कहानीकारों की इस नयी पीढ़ी को एक और सम

जा सकता है। 'हंस', 'नया साहित्य' और 'नया पथ' तत्कालीन अंक इन कहानियों से भरे मिलेंगे। नुस्खे के मुताबिक ये 'क्रान्तिकारी रोमांटिसिज्म' की कहानियाँ कहलाती थीं; वही 'क्रान्तिकारी रोमांटिसिज्म', जिसकी खामियाँ अब जाकर हंगरी के मार्क्सवादी आलोचक जार्ज लूकाच की पुस्तक 'समकालीन यथार्थवाद का अर्थ' से प्रकट हुई। नयी पीढ़ी के बहुत से कहानीकारों का जन्म इसी दौर में हुआ और कुछ ने स्वयं भी इस रंग की कहानियाँ लिखी थीं। इसलिए इस कहानी-शैली की कृत्रिमता का एहसास भी सबसे ज्यादा इन्हीं कथाकारों को हुआ। आज़ादी के साथ देश का संदर्भ बदलते ही इन कहानियों की अवास्तविकता उघड़ गई। इस मोहभंग का पता तत्कालीन पत्रिकाओं में व्यक्त नये लेखकों की प्रतिक्रियाओं से चल सकता है।

उदाहरण के लिए, अमृतराय की 'लाल धरती' पर मई-जून '५२ के 'प्रतीक' में सत्येन्द्र शरत् की समीक्षा का यह अंश; "शैली में कताई का गुण—जिसके कृश्नचन्दर मास्टर हैं, और जो कि उनकी समस्त रचनाओं का एकमात्र सौन्दर्य या आकर्षण है—अमृतराय के इन गद्यांशों में भी मिलता है। यानी तकली पर कपास लगा दी, और तकली चला दी। जब सूत बहुत लम्बा हो गया, तो उसे झटके से तोड़ लिया, और तकली पर लपेट दिया। लीजिये, कहानी तैयार हो गयी।" सर्वविदित है कि उस समय ऐसी कताई करने वाले अनेक अमृतराय थे। और कुछ दिनों तक कहानी के नाम पर ऐसे गद्यांशों का प्रचार था।

शैली के अतिरिक्त विषय-वस्तु में भी कुछ दिनों के लिए हिन्दी-कहानी कृश्नचन्दर-शैली की उर्दू-कहानियों से आक्रान्त थी। स्वयं 'कहानी' पत्रिका के आरम्भिक अंकों में भी ऐसी कहानियों के अनुवाद भरे रहते थे। हाजरा मसरूर की इसी तरह की एक कहानी 'कोठी और कोठरी' को लेकर अक्तूबर '५७ की 'कल्पना' में एक टिप्पणी निकली: 'साहित्य-धारा' के अन्तर्गत, जिसमें कहा गया है कि किस प्रकार एक गरीब की बीवी, धनी सेठ और शराब जैसे चन्द नुस्खों के द्वारा तथाकथित 'प्रगतिशील' कहानी तैयार की जाती है और गरीबी के वास्तविक चित्रण की जगह गरीबी का मज़ाक उड़ाया जाता है। इसलिए "आज नये कहानी पाठक एवं जीवन के प्रत्यक्ष दर्शक के लिए वह एक नकली और बेमानी चीज़ लगने लगती है।"

इन दो तात्कालिक प्रतिक्रियाओं से स्पष्ट है कि हिन्दी-कहानी की नयी पीढ़ी किस प्रकार पुरानी कथा-रूढ़ियों और नुस्खों से सर्वथा मुक्त होकर वास्तविक जीवन से पुनः जुड़ने के लिए आकुल थी। वैसे 'जीवन' और 'यथार्थ' की बात कौन नहीं जानता! पुराने लेखक भी 'जीवन' और 'यथार्थ' के नाम पर ही यह सब करते रहे। किन्तु कौन नहीं जानता कि जीवन और यथार्थ को पकड़ने के लिए एक युग में जो सूत्र ढूँढ़ा जाता है, वह थोड़े ही दिनों में एक जड़ और मुर्दा फार्मूला साबित होता है, और जीवन में गहरे जाने के लिए बेकार नहीं, बाधक हो जाता

हैं। इसीलिए जब कोई नई पीढ़ी नये सिरे से 'जीवन' और 'यथार्थ' की पुक मचाने लगे तो समझना चाहिए कि चिर-परिचित गोलमोल शब्दों के जरिये कि नये सूत्र की तलाश की जा रही है। इतिहास के नियम से इसी तरह एक युग क सत्य दूसरे युग के लिए झूठ हो जाता है, और झूठ के द्वारा सिर्फ लीक पीटी ज जा सकती है। साहित्य-सृजन के लिए तो उस झूठ को 'झूठ' साबित करना पड़ेगा इस समय नये लेखक बार-बार जो सत्य का आग्रह कर रहे थे, उसका यह अर्थ था।

इसी सत्य के आधार पर नये कहानीकारों ने प्रतिष्ठित कहानीकारों से सृज नात्मक होड़ ली, और इस होड़ का साफ़ आईना है, तत्कालीन 'कहानी' पत्रिका ! 'कहानी' के अन्दर जिस गति से नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी की जगह लेती चली गयी यह शुरू के दो वर्षों में ही स्पष्ट हो जाता है। पहले नववर्षांक में जहाँ अस्सी प्रति शत कहानियाँ पुराने कहानीकारों की हैं, वहाँ दूसरे नववर्षांक में अनुपात एकदम उलट जाता है—अस्सी प्रतिशत हो जाते हैं नये कहानीकार। और यह नयी पीढ़ी पर अतिरिक्त कृपा या प्रोत्साहन-मात्र नहीं है। विशेषांक में नयी पीढ़ी का कृतित्व स्पष्टतः श्रेष्ठतर है। इस दृष्टि से 'कहानी नववर्षांक—१६५६' का ऐतिहासिक महत्त्व है, और इसका अधिकांश श्रेय कृती संपादक भैरवप्रसाद गुप्त को है। हिन्दी जगत् में इस विशेषांक की जितनी व्यापक चर्चा हुई, और जैसा सहर्ष स्वागत हुआ, उससे कहानी की नींव पड़ गयी। निःसंदेह इस विशेषांक की नयी कहानियाँ परम्परागत कहानी के दायरे से सर्वथा मुक्त नहीं हैं, किन्तु इनमें एक नये समारम्भ का आत्मसजग आभास अवश्य मिलता है। इतना ही नहीं हुआ कि नये ढंग की कहानियाँ लिखी गयीं, नये कहानीकारों को इसका भी एहसास था कि वे नया लिख रहे हैं। महत्त्वपूर्ण है यह आत्म-सजगता !

'कहानी : नववर्षांक—१६५६' इसलिए भी उल्लेखनीय है कि इसी में पहली बार स्पष्टतः प्रश्न के रूप में 'नयी कहानी' की बात उठायी गयी।

सम्भवतः इस कहानी-विशेषांक की रचनात्मक सम्भावना का ही प्रभाव था कि अगले वर्ष महाराष्ट्र-राष्ट्रभाषा-सभा, पूना ने 'कहानियाँ—१६५५' नाम से एक कहानी-संकलन ही प्रकाशित कर दिया। यह एक घटना है हिन्दी-कहानी के इतिहास में। इसे एक तरह से हिन्दी-कहानी के नव जागरण का दस्तावेज भी कह सकते हैं। 'निकष', 'ज्ञानोदय' जैसे कुछ अन्य पत्रों से थोड़ी-सी कहानियाँ लेने के बावजूद यह संकलन लगभग अस्सी प्रतिशत कहानियों के लिए 'कहानी' के उस नववर्षांक का ऋणी है। कहानियों की सूची पर एक नजर डालने से ही पता चल जाता है कि वर्ष कितना सृजनशील था। 'गदल', 'रसप्रिया', 'गुलकी बन्नो', 'मवाली', 'हंसा जाई अकेला', 'डिप्टी-कलक्टरी', 'चीफ की दावत', 'बादलों के घेरे', 'मिस', 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' जैसी दस महत्त्वपूर्ण कहानियाँ यदि

सिर्फ एक वर्ष में लिखी जायें तो उस युग की सृजनात्मकता के प्रति उत्साह का अनुभव क्यों न हो ?

यह वही समय है, जब हिन्दी में 'निकष', 'संकेत', 'हंस-अर्द्धवार्षिक' जैसे बड़े-बड़े साहित्य-संकलन निकाले गये, जिनमें नवलेखन की सभी विधाएँ दृष्टि, वस्तु और शिल्पगत विविधताओं-सहित एकसाथ प्रकाश में आयीं। नयी पीढ़ी की कहानियाँ यहाँ नयी कविता के साथ-साथ छपीं। ध्यान देने की बात है कि उस समय नयी पीढ़ी के बीच 'नयी कविता' बनाम 'नयी कहानी' जैसा कोई विवाद न था। 'हंस-अर्द्धवार्षिक' संकलन में जहाँ मोहन राकेश, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, हरिशंकर परसाई की कहानियाँ छपीं, वहीं निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' और 'मुक्तिबोध', केदारनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा आदि की 'नयी कविता' भी साथ-साथ पढ़ने को मिली। इसी प्रकार 'संकेत' में अमरकान्त, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश की कहानियों के साथ रघुवीर सहाय की 'खेल' कहानी भी प्रकाशित हुई। यही बात 'निकष' में प्रकाशित कहानियों के बारे में भी कही जा सकती है। सभी जानते हैं कि 'निकष' के संपादक 'नयी कविता' के पक्षधर हैं, फिर भी उसमें मोहन राकेश, शेखर जोशी, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, रेणु, आदि ने सहर्ष अपनी कहानियाँ दीं, जहाँ उनकी बगल में रघुवीर सहाय, मनोहर श्याम जोशी, राजेन्द्र किशोर जैसे लेखकों की भी कहानियाँ पढ़ने को मिलीं, यानी ऐसे लेखकों की कहानियाँ, जिनका सम्बन्ध मूलतः 'नयी कविता' से था, और आज जिन्हें 'नयी कहानी' के पक्षधर नये कहानीकार तो क्या, कहानीकार-मात्र मानने के लिए भी तैयार नहीं। यह वही समय है जब चिरपरिचित प्रगतिशील लेखकों की ओर से इलाहाबाद से साहित्यकार सम्मेलन (१९५७) हुआ, जिसमें एक मंच पर सभी विचारधाराओं और विधाओं के लेखक पूरे सद्भाव के साथ विचार-विनिमय के लिए अभूतपूर्व संख्या एकत्र हुए ऐसा। लगा कि हिन्दी का पूरा नवलेखन पारस्परिक भिन्नता को पहचानते हुए भी एक नये स्तर पर पुनर्गठित होने की स्थिति में पहुँच गया है।

नवलेखन के इस व्यापक परिवेश को देखते हुए नयी कविता के वजन पर कहानी में भी नयी कहानी का प्रश्न उतना सर्वथा सहज था, और इस पर किसी के चौंकने लायक कोई बात न थी। क्योंकि किसी भी साहित्य के लिए यह स्पृहणीय स्थिति नहीं हो सकती कि कविता तो एक भावबोध पर चले, और कहानी-उपन्यास आदि गद्य-कृतियाँ किसी अन्य भावबोध के ढर्रे। यदि समूचा नवलेखन एक ही ऐतिहासिक सन्दर्भ के प्रति प्रतिश्रुत है, तो जीवन-दृष्टियों के भेद और वस्तुगत विशिष्टताओं के बावजूद समूचे नवलेखन के मूल में एक-सी बुनियादी संवेदनाओं का होना ऐतिहासिक आवश्यकता है। और फिर प्रश्न संवेदना का ही नहीं, बल्कि उसकी सृजनात्मक भाषा का है, जिसके माध्यम से, चाहे पद्य में हो, चाहे गद्य में, नवलेखन की रचना सम्भव होती है। इसलिए जहाँ तक

राजेन्द्र यादव की कहानी 'खेल-खिलौने' भी छपी, और शिवप्रसादसिंह की 'दादी माँ' की तुलना मे 'खेल-खिलौने' मे कहीं ज्यादा कारीगरी और पच्चीकारी है, लेकिन खुली दाद मिली सीधी-सहज 'दादी माँ' को। दूसरी ओर मोहन राकेश एक अरसे से 'साफ-सुथरी' कहानियाँ लिखते आ रहे थे, लेकिन पहला कहानी-संग्रह 'पान-फूल' है मार्कण्डेय का, जिसकी ओर हिन्दी-जगत् की सहसा दृष्टि गयी। यों 'पान-फूल' की तुलना में 'नये बादल' की कहानियाँ कहीं ज्यादा साफ-सुथरी और चमत्कारपूर्ण है। निश्चय ही इस आकर्षण के मूल मे बहुविज्ञप्त आंचलिकता-मात्र न थी। इसी तरह कारीगरी के विपरीत सहजता को दाद देने का मतलब कला के एक पक्ष की जगह दूसरे पक्ष पर जोर देना भर नही था। इस आकर्षण का कारण एक वस्तु-विशेष या एक शिल्प-विशेष नहीं, बल्कि वस्तु और शिल्प दोनों मे निहित एक नयी सृजन-दृष्टि थी। दूसरे सफल लेखक जहां पहले की अच्छी कहानियों-जैसी एक और कहानी लिखने की कोशिश कर रहे थे, वहां नया कहानीकार एक जीते-जागते आदमी, एक नये जीवन-अनुभव को तराशकर कहानी का आकार दे रहा था। कहना न होगा कि इन दोनों प्रयासो में बड़ा अंतर है। ये दो विपरीत दिशाएँ हैं : एक लीक पीटने या ज्यादा-से-ज्यादा 'मजमून छीनने' की तो दूसरी नये सृजन की। जिस प्रकार शेरवुड ऐंडरसन की गद्य-कृति 'वाइन्सबर्ग-ओहियो' की आंचलिक कहानियों ने अमेरिकी कहानी के इतिहास को नया मोड़ दिया, उसी तरह हिन्दी में भी ये आंचलिक कहानियां एक नये युग का सूत्रपात कर रही थीं।

उल्लेखनीय है, कि इस काल की प्रकाशित कहानियों में अधिकांश ठेठ शास्त्रीय अर्थ मे 'कहानी' नहीं बल्कि बहुत कुछ रेखाचित्र-जैसी हैं चाहे वह 'गुलरा के बाबा' हो या 'गदल', 'डिप्टी-कलक्टरी' हो अथवा 'गुलकी बन्नो', 'कोसी का घटवार' हो या 'भवाली'। परंपरा के रक्षक चाहे, तो इन्हे 'चरित्र-प्रधान' कहानी के वर्ग में रखकर संतोष कर सकते हैं, किन्तु इस ऐतिहासिक परिवर्तन की उनके पास क्या व्याख्या है, कि एकसाथ पूरी-की-पूरी पीढ़ी सीधे जीते-जागते चरित्रों के अंकन की ओर चल पड़ी ? कहानी के परंपरा-प्राप्त फार्मूले के प्रति सहसा उदासीनता और सीधे जिंदगी के चरित्रों मे इतनी दिलचस्पी लेने का क्या कारण है ? जीवन के किसी फार्मूले की अपेक्षा स्वयं 'जीता-जागता आदमी' क्यों इतना महत्त्वपूर्ण हो उठा ? नये कहानीकारों ने अपने 'निजी अनुभवों' का ही सहारा लेने का निश्चय क्यों किया ? इन लेखकों ने किसी बनी-बनायी विचारधारा को ज्यों-का-त्यों मानकर कहानियाँ क्यों नहीं बनायी ? क्या यह एक 'प्रामाणिकता' की खोज नहीं है ?

आज इन कहानियों की वास्तविकता के बारे मे चाहे जो कहा जाय, लेकिन तत्काल तो इन्होंने अपने 'सच' होने का पूरा एहसास कराया ही। और नहीं तो

कम-से-कम इतना एहसास तो अवश्य ही कराया, कि ये लेखक के 'निजी अनुभव' पर आधारित हैं। यहां चरित्र जिस प्रकार अपने जीवंत परिवेश की सारी बारीकियों के साथ चित्रित हुए, उससे लगा कि लेखक की दृष्टि अपेक्षाकृत 'पूरे सजीव आदमी' पर है, साथ ही स्वयं उसकी स्थिति में जाकर अनुभव करने की क्षमता भी मौजूद है। 'अनुभूति की सच्चाई' और 'अनुभूति की प्रामाणिकता' का एहसास करा देना इनका सबसे प्रमुख आकर्षण बना। नव-अरस्तूवादी समीक्षाशास्त्र की भाषा में ये कहानियां 'रेहटारिकल' न होकर 'इमिटेटिव' हैं।

और यह विशेषता हमें इन कहानियों के ऐतिहासिक सन्दर्भ की ओर ले जाती है। दरअसल इन कहानियों का भावबोध आजादी के प्रथम आवेग की मनोदशा के पूरे मेल में है। यह तथ्य है कि पुरानी पीढ़ी के अनेक लेखक नये स्वाधीन भारत के संदर्भ को पूरी तरह समझने का तथा समझकर उसके साथ अपने-आप को जोड़ने में असमर्थ रहे। एक ओर वे 'शाश्वतवादी' लेखक हैं, जो तब से आज तक यही दुहरा रहे हैं कि स्वाधीनता-प्राप्ति को हिन्दी-साहित्य के इतिहास की विभाजक-रेखा मानना गलत है, क्योंकि इससे साहित्य में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया। (यों, सरकारी पत्रों में स्वतन्त्रता-दिवस के अवसरों पर 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य' शीर्षक से सबसे ज्यादा लेख इन्होंने ही लिखे), दूसरी ओर वे 'क्रान्तिकारी' लेखक हैं, जिनके लिए उस समय आजादी झूठी थी, लेकिन पीछे लाइन बदल जाने के बाद जिन्होंने सिर झुकाकर फिर स्वीकार कर लिया, कि आजादी सच्ची है, यद्यपि भीतर से उन्हें तब भी इसका पूरा-पूरा एहसास न हो सका। यह भी एक विडम्बना ही है कि नितान्त 'क्रान्तिकारियों' और 'शाश्वतवादियों' के निष्कर्ष एक ही थे। विचार के क्षेत्र में प्रायः इसी तरह दो ध्रुवान्त एक बिन्दु पर मिलते हैं; और आकस्मिक नहीं है, जो आज भी 'नयी कहानी' के विरुद्ध दोनों एक ही पंक्ति में खड़े हैं। यदि एक के 'चिरशाश्वत' के सामने सारा परिवर्तन नगण्य है, तो दूसरे को चरम क्रान्तिकारी उत्थान के आगे हर परिवर्तन नगण्य है। १८०° का चक्कर लगाकर दोनों दृष्टियां अन्ततः एक बिन्दु पर मिलती हैं, और प्रमाणित करती हैं कि दोनों ही अपने वर्तमान संदर्भ से एकदम बाहर हैं एक पीछे है तो दूसरी आगे — एक अतीत में है तो दूसरी भविष्य में। वस्तुतः अनुभव से दूर दोनों ही अपनी-अपनी पूर्वनिर्दिष्ट धारणाओं तथा सिद्धान्तों में बन्द हैं।

स्पष्ट है कि ये [illegible] अनुभव के विपरीत पड़ते थे, इसीलिए [illegible] के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और [illegible] अनुभव पर [illegible] बल दिया गया। [illegible] 'अनुभूति', 'ईमानदारी', 'सच्चाई' आदि शब्द इसी सन्दर्भ में [illegible] अर्थ रखते हैं, और इसी पृष्ठभूमि में [illegible]

आजादी की ही देन थी। आजादी ने एकबारगी अनेक रूढ़ विचारधाराओं को निस्सार साबित कर दिया। अकेला अनुभव भले ही बहुत दूर न ले जाय, लेकिन उस समय 'निजी अनुभव' ही लेखक को एकमात्र सहारा मालूम हुआ, और उसे लगा कि किसी भी कीमत पर अपनी अनुभूति-क्षमता को सतत जाग्रत रखना अपने जीवन और अपने सृजन के लिए अनिवार्य है। शेखर जोशी की कहानी 'बदबू' जैसे इसी अनुभूति-क्षमता को सतत जाग्रत रखने का सटीक उदाहरण है। कारखाने में काम करने वाले हाथों की 'बदबू', ऐसा न हो कि कुछ दिनों बाद 'बदबू' लगे ही नहीं—मजदूर की यह चिन्ता जैसे स्वयं नये लेखक की चिन्ता है।

गरज कि राजनीतिक आजादी से नयी पीढ़ी ने सचमुच अपनेको स्वतंत्र महसूस किया। उसे लगा कि वह स्वयं अपनी आँखों से हर चीज देख सकता है, और अपने दिमाग से सोच सकता है। और उसने देखा कि आजादी के साथ अँधेरे में से एक जीता-जागता भारत निकल आया है और यह भारत बड़ा है, घना है, ठोस है, और उसकी इच्छा हुई कि हर चीज को अपने हाथों से छूकर देखे कि वह क्या है। बहुत-सी चीजें ऐसी थीं, जिन्हें वह अभी तक बड़े-बड़े अथवा गोल-मोल शब्दों के रूप में जानता-सुनता आ रहा था, अब जैसे उसको सभी-कुछ स्वयं देखने की आजादी मिल गई, और लगा कि जिंदगी जीने लायक है। कुछ समय के लिए मन की सारी कड़ुवाहट कहीं धुल गई, और लगा कि सारी बर्बादियों के बावजूद काफी-कुछ बच भी गया है जिसे अच्छा कहा जा सके। इस एहसास के बावजूद कि ये अवशिष्ट अच्छाइयाँ शायद ज्यादा दिन न टिक पायें, हम उन्हें पाथेय के रूप में संजोने लग गए—इस ममत्व से कि फिर ये देखने को न मिल पायेंगी। उल्लेखनीय है कि बाबा, दादी, दादा आदि को लेकर इस नयी पीढ़ी ने अनेक कहानियाँ लिखीं। कुछ लोगों को इस पर आश्चर्य भी हुआ कि यह कैसी नयी पीढ़ी है, जो अपने बारे में न लिखकर पुरानी पीढ़ी के लोगों के बारे में लिखना पसंद करती है। इसी आधार पर किसी ने इसे वर्तमान से पलायन कहा, तो किसी ने रोमांटिसिज्म। जल्दबाजी में यह नहीं दिखायी पड़ा, कि पुरानी पीढ़ी के इन चित्रों की छाया में कहीं-न-कहीं नयी पीढ़ी स्वयं है। बल्कि सच पूछा जाय, तो पुरानी पीढ़ी के माध्यम से नयी पीढ़ी का यह आत्मान्वेषण ही था। इन्हें एकदम रोमांटिक समझना या तो भ्रम है, या अनजाने ही रोमांटिसिज्म का अर्थ-विस्तार। यदि अपने पिछले रोमांटिक युग की तद्विषयक कहानियों को ठीक से मिलाकर देखें, तो यहाँ ऐसी अनेक बारीक रेखाएँ मिलेंगी, जो अपने समग्र प्रभाव में एक विशिष्ट संवेदना उत्पन्न करती हैं। निश्चय ही ये प्रेमचन्द की 'बड़े घर की बेटी' और 'सुजान भगत' जैसी आदर्शवादी-रोमांटिक कहानियों से काफी भिन्न हैं। वैसे तत्कालीन समग्र नवलेखन को देखते हुए ये कहानियाँ सर्वथा अनुरूप भावबोध सूचित करती हैं। क्या नयी कविता में भी उस समय इसी प्रकार की संवेदनाएँ व्यक्त नहीं हुईं?

संवेदना में भावुकता का रंग अवश्य अधिक है, किन्तु ज़िन्दगी के गहरे संपर्क
ागे चलकर भावुकता से उठने वाली टीस को यथार्थ की आँच में पकाकर
ी तल्खी का रूप दे दिया। और संदर्भ-परिवर्तन के साथ इनमें धीरे-धीरे
म-विडंबना का भी बोध उभरने लगा।

लेकिन आज़ादी के शुरू के दिनों में निश्चय ही संदर्भ ऐसा था, जिसमें कुछ
दयामन, कुछ उत्सुकता, कुछ आशंका और कुछ आशा के मिले-जुले भाव थे।
म्प्रदायिक दंगे शान्त हुए। शरणार्थी किसी प्रकार बसने लगे। सैकड़ों रियासतें
म हुईं, और भारत का मानचित्र एकरंग हुआ। संविधान बनकर सामने आया।
नता को जनतांत्रिक अधिकार मिले। बालिग मताधिकार के आधार पर पहला
आम चुनाव हुआ। पंचवर्षीय योजना बनी। भूमि और समाज-सुधार सम्बन्धी नये
कानून बने। व्यवस्था का एहसास हुआ। प्रगति की आशा बंधी। 'डिप्टी-कलक्टरी'
के शकल दीप बाबू की तरह 'डिप्टी-कलक्टरी' की लिस्ट में लड़के का नाम न देख-
कर भी लोग आशा लगाये देखते रहे कि शायद अगली बार नाम आ ही जाय।
अपनी उपहासास्पद स्थिति का एहसास होते हुए भी लोग 'प्रतीक्षा' करने को
प्रस्तुत थे। धीरज का बाँध एकदम न टूटा था। पीड़ा-भरी प्रतीक्षा इस काल की
कहानियों का मुख्य स्वर है, चाहे वह अमरकांत की 'डिप्टी-कलक्टरी' हो, या
निर्मल वर्मा की 'परिन्दे'। वैसे कोई चाहे, तो इस भावबोध को भी 'रोमांटिक'
कह सकता है, किन्तु इनमें जीवन का गहरा पीड़ा-बोध है, वह हर तरह की तीव्र
रोमांटिक भावनाओं से सर्वथा भिन्न है। जहाँ ज़िन्दगी गंभीरता से ग्रहण की जाती
है, वहाँ आशा और निराशा-जैसे सीधे भाव अनावश्यक हो जाते हैं। उल्लेखनीय
है कि चेखव इस समय हिन्दी-कहानीकारों में सहसा लोकप्रिय हो उठा। कुछ दिन
पहले जहाँ गोर्की का झंडा बुलन्द था, उसकी जगह चुपके से चेखव ने ले ली।
क्या यह परिवर्तन हिन्दी-कहानी में किसी परिवर्तन की सूचना नहीं देता?

यह मनःस्थिति तभी पैदा होती है, जब जीवन की जटिलता का बोध होता
है। जब ऐसा लगे कि जिन्दगी साफ़-साफ़ चौखटों में बँटी हुई नहीं है तो बेखटके
अच्छा और बुरा, सही-गलत के रूप में दो-टूक निर्णय देना कठिन हो जाता है।
अनुभूति की बुनियादी ईमानदारी अन्ततः इस पीढ़ी के कहानीकारों को एक 'उभय
सम्भव' की मनःस्थिति की ओर ले गयी। इस द्वैध मनःस्थिति के साथ हिन्दी-कहानी
में एक नये 'नैतिक बोध' का उदय हुआ, जिसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति राजेन्द्र यादव
की 'एक कमजोर लड़की की कहानी' और रघुवीरसहाय की 'मेरे और नंगी
औरत के बीच' जैसी कहानियों में हुई है। दुविधा की स्थिति का पता स्वयं इन
कहानियों का अंत देता है, जहाँ पहुँचकर लेखक अपना हाथ खींच लेते हैं, क्योंकि
सुखान्त या दुःखान्त कुछ भी करना अवास्तविक प्रतीत होता है। दो पीढ़ियों के
नैतिक बोध का अन्तर समझने के लिए यादव की 'एक कमजोर लड़की की कहानी'

को जैनेन्द्र कुमार की 'एक रात' के बगल में रखकर देखना पर्याप्त है। 'एक कमजोर लड़की की कहानी' एक तरह से 'एक रात' की पैरोडी मालूम होती है। जैसे एक वैज्ञानिक विज्ञान के किसी पूर्ववर्ती नियम को असंगत पाकर उसको अपने प्रयोगों के दौरान असंगतियों को दूर करने की कोशिश करता है, उसी तरह इस कहानी में पूर्ववर्ती रोमांटिक कहानियों के तिकोने प्रेम की असंगति का उद्घाटन किया गया है—एक विडम्बनापूर्ण स्थिति के द्वारा। वैसे यहाँ भी लेखक इस रोमांटिक संस्कार से ग्रस्त है कि उभय-सम्भव की मन:स्थिति को वहन करना कमज़ोरी का लक्षण है। फर्क है, तो सिर्फ यह कि अब इस कमज़ोरी के प्रति विडम्बना का बोध है। स्पष्ट हो जाता है कि समस्या का कोई बना-बनाया हल नहीं है। यह निष्कर्ष ऊपर से देखने पर चाहे जितना निराशावादी लगे, किन्तु इससे परिस्थिति का बोध तो होता ही है। और रोमांटिक भावबोध की तुलना में यह गैर-रोमांटिक भावबोध मानसिक परिपक्वता का सूचक है।

वस्तुतः रोमांटिक कृतियों में हृदय और बुद्धि के बीच एक प्रकार का विच्छेद मिलता है, जिसके बीच समरसता स्थापित करने की कोशिश करके भी रोमांटिक लेखक सफल न हो सके। इस काल में हृदय-बुद्धि का वह विच्छेद बहुत-कुछ समाप्त हुआ और विच्छिन्न भाव-बोध के स्थल पर एक समंजस संवेदना का उदय हुआ। यहाँ अनुभूति विकसित होकर इस प्रकार विचार की सघनता प्राप्त कर लेती है कि पुराने ख़याल के लोगों को 'बौद्धिकता' की शिकायत होने लगती है। किन्तु समंजस संवेदना ने गद्य-लेखकों को ऐसी यथातथ्य, लचीली, सूक्ष्म और व्यंजक भाषा निर्मित करने की क्षमता दी, कि व्यक्ति-मन और उसके परिवेश के बारीक-से-बारीक तथ्य अंकित किये जा सके।

इस संवेदना ने झूठी अथवा अतिरिक्त अभिव्यक्ति पर अंकुश का काम किया। पुराने लेखक जिस स्थिति में प्रेम की गुंजाइश न देखते हुए भी प्रेम की अबोध अभिव्यक्ति करते थे, वहाँ नये लेखक ने कहने से पहले यह जाँच लेना ज़रूरी समझा कि ऐसी स्थिति में मन में जो भाव उठ रहे हैं, उन्हें 'प्रेम' का नाम देना ठीक न होगा या नहीं। आत्मसजगता इस हद तक बढ़ गयी कि बिना जाँचे किसी भाव को व्यक्त करना कठिन हो गया। इलियट के शब्दों में, 'गुलाबों की आँखों का भाव' उभर आया।

इस समय की प्रेम-कहानियों को पूर्ववर्ती युग की प्रेम-कहानियों के बराबर रख कर देखें, तो इस दृष्टि से साफ़ और अन्तर मालूम होगा। निश्चय ही यह संवेदना आज के नये सामाजिक संदर्भ की उपज है। सामाजिक सम्बन्धों में इतना परिवर्तन आ गया है कि बहुत-से पुराने सम्बन्ध अब शिष्टाचार का निर्वाह-मात्र मालूम होने लगे हैं। इस बोध के बावजूद बहुत-से लेखक आज भी अपनी रचनाओं में उन शिष्टाचारों को सच्ची भावनाओं के रूप में दिखाते जा रहे हैं। इसके विपरीत

नये लेखक शिष्टाचार के ऊपरी खोल को हटाकर तह में छिपी असली भावनाओं को उद्घाटित करने की कोशिश कर रहे हैं। उदाहरण के लिए 'मेरे और नंगी औरत के बीच' में रघुवीरसहाय ने यही किया है। नया लेखक इसी तरह बीच की 'दुनिया' को हटाकर मनुष्य को नगे रूप में, मनुष्य को निरे मनुष्य के रूप मे, स्पर्श करना चाहता है। यह भी एक मानवतावाद है, जो इस पूंजीवादी युग के अमानवीय सामाजिक सम्बन्धों के तीखे बोध से पैदा हुआ है। कहना न होगा कि आज़ादी के बाद भारत में इस नयी स्थिति का पहली बार इतना तीखा अनुभव हुआ है। क्या यह टूटते हुए सामन्ती सामाजिक सम्बन्धों और उभरते हुए पूंजीवादी सामाजिक सम्बन्धों के टकराव की अभिव्यक्ति नहीं है?

अन्ततः दो युगों की कहानियों का अन्तर नैतिक बोध के स्तर पर स्पष्ट होता है। और नैतिक बोध की अभिव्यक्ति सामान्यतः 'सहानुभूति' के स्वरूप में होती है। कोई लेखक किस व्यक्ति-चरित्र को किस स्थिति में और किस प्रकार की सहानुभूति देता है, और फिर उस सहानुभूति का आधार क्या होता है—इससे कहानी का 'मूल्य' निर्धारित होता है। आज जिस प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति के बीच एक अदृश्य और शायद अभेद्य दीवार खड़ी हो गयी है, उसे देखकर महसूस होने लगा है कि किसी को अपना दुःख ठीक-ठीक बतला सकना अथवा ठीक-ठीक किसी के दुःख को जान लेना लगभग असम्भव हो उठा है। अपने ज्ञान और अपनी अनुभूति की सीमा के इस बोध ने सहानुभूति-सम्बन्धी पूरी धारणा ही बदल दी। शायद यह स्थिति भी पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की ही देन है। इस स्थिति ने हमारे ऊपर एक नया नैतिक दायित्व डाल दिया है। रघुवीरसहाय की 'सेब', 'जीता-जागता व्यक्ति' आदि अनेक कहानियाँ जैसे इसी प्रश्न से जूझती दिखायी पड़ती हैं। एक स्थिति इससे आगे की भी है, जहाँ लेखक इस बीच की दीवार को तोड़ने की भी कोशिश करता है, और दो आदमियों के बीच सहकारिता का भाव पैदा होता है, जिसका चित्रण निर्मल वर्मा की 'लंदन की एक रात' कहानी में मिलता है।

इसी बोध का विस्तार आगे चलकर उस दायित्व तक होता है, जिसे 'सामाजिक चेतना' कहते हैं। चूंकि नये कहानीकार किसी पूर्वनिर्धारित जीवन-दर्शन द्वारा निर्दिष्ट 'सामाजिक दायित्व' के निर्वाह के खतरे से सशंक हैं, इसलिए वे अपने अनुभवों के आधार पर रचना में सामाजिकता को व्यक्त करने की कोशिश करते रहे हैं। इस दृष्टि से यह तो तथ्य है कि प्रगतिवादी दौर की तरह इन कहानियों में सर्वहारा के चित्र नहीं हैं, और न वैसी प्रखर वर्ग-चेतना ही है, किन्तु व्यापक रू में आज के उपेक्षितों और कम के अपेक्षितों के साथ आत्मीय लगाव अवश्य है—किसी लेखक में कम, तो किसी में ज्यादा। चूंकि ज्यादातर लेखक शहरों और गांवों के निम्न-मध्य वर्ग की उपज है, और हर लेखक का ज़ोर साहित्य-रचना निजी अनुभव पर है, इसलिए रचनाओं की विषयवस्तु के साथ ही दृष्टिकोण

भी निम्न मध्यवर्गीय सामाजिक स्थिति की सीमा से सीमित हो जाना अनिवार्य है। वैसे आज समाज में इस वर्ग की जो स्थिति और ऐतिहासिक भूमिका है, उसको देखते हुए इस वर्ग का सचेत लेखक प्रखर 'आलोचनात्मक यथार्थवादी' साहित्य की सृष्टि कर सकता है। कहना न होगा कि नयी कहानी की परम्परा मे सामाजिक आलोचना का यह स्वर काफी प्रबल रहा है।

इस प्रकार लगभग १९५९-६० तक इस कहानी-दशक के उभरने वाले नये कहानीकारों ने अपने अपेक्षाकृत नये सृजनात्मक कृतित्व से हिन्दी-कहानी को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। यह तो नयी कहानी के विरोधी भी स्वीकार करते हैं कि अकेले इस दशक मे हिन्दी मे जितनी अच्छी कहानियाँ लिखी गयीं, वह अपने-आप मे एक मिसाल है। हिन्दी की जो नयी प्रतिभाएँ कुछ समय पहले कविता की ओर मुड जाया करती थीं, वे तथा वैसी अन्य अनेक प्रतिभाएँ इस दशक मे प्रायः कहानी के क्षेत्र मे आ गयी। सभी नये कहानीकारो मे समान रूप से नये सृजन की चेतना भले न रही हो, किन्तु इस कहानी-दशक की मुख्य प्रवृत्ति नये सृजन की थी। सब जगह जीवन-दृष्टि भले ही एक-सी स्पष्ट न हो पायी हो, किन्तु प्राय सभी में अपनी सृजनात्मकता के बीच से ही जीवन-दृष्टि विकसित करने का प्रयास रहा है। हिन्दी-क्षेत्र में इस समय न कोई व्यापक जन-आन्दोलन और न जनता की सशक्त राजनीतिक पार्टी और न ही साहित्य के क्षेत्र मे किसी ऐसी पार्टी की सूझ-बूझ-भरी पहल—इस अभाव को देखते हुए इस कहानी-दशक की उपलब्धियाँ काफी महत्त्वपूर्ण हैं।

यह भी एक विडम्बना ही है कि जो कहानीकार सहसा 'नयी कहानी' के झंडा-बरदार हो उठे हैं, वे दरअसल 'नयी कहानी के हकदार ही नहीं रह गये हैं। लगता है, जैसे बाहरी नारा भीतरी खोखल को ढकने का एक बहाना-भर है। मुट्ठी की पकड़ जिस तरह झंडे पर कसती जा रही है, उससे लगता है कि जरूर पांवों के नीचे से जमीन खिसक रही है। लेकिन ये कहानियां कब तक छिप सकती हैं?

मोहन राकेश के बारे में स्वयं राजेन्द्र यादव की राय है, कि 'उसने नया शिल्प, नयी भाषा या नया कथ्य कम खोजा है, फिर भी जाने वह कौन-सी विवशता है, जिसके कारण इतना और जोड़ा जाता है कि अपने 'पुरानेपन' के बावजूद वह और समर्थ कथाकार है।' नये और पुराने संघर्ष में यह साफ समझौतावाद है, और जिस समझौतावाद के कारण 'राकेश दोनों कथा-पीढ़ियों मे 'स्वीकृत' है।' 'उसी के शिकार स्वयं राजेन्द्र यादव हो चले हैं। किन्तु एक दूसरी दिशा में, जैसा कि दिसम्बर '६४ की' कल्पना' में 'किनारे से किनारे तक' की कहानियों के बारे मे लिखा गया है कि उनमें 'उनमें कुशल व्यावसायिक लेखन के सारे गुण-दोष मौजूद हैं।' कहना न होगा कि जहाँ व्यावसायिकता आ गयी, वहाँ नये सृजन की संभावना समाप्त। ऐसी स्थिति में शिवदानसिंह चौहान का 'आलोचना—३१' का यह सम-

...ौन सज्जन क्यों न सहमति प्राप्त करें कि राकेश, कमलेश्वर या राजेन्द्र यादव ''जो 'असली' कहानियाँ लिखी हैं वे 'नयी' से अधिक शुद्ध फार्मूलाबद्ध कहानियाँ ...है जो नये सगढ़ई परिभाषा-सूत्रों के अनुसार लिखी गयी हैं।''

विडम्बना यह है कि यह सारा फार्मूलाबद्ध और व्यावसायिक लेखन एक 'नयी प्रगतिशीलता' के नाम पर हो रहा है। जो प्रगतिशील जीवन-दृष्टि व्यावसायिकता की घातक है, वही व्यावसायिक रूपों में लिपटी हुई प्रगतिशील साहित्य को भीतर से तोड़ने की कोशिश करे। एक बार पहले भी ऐसा हुआ है, और प्रगतिशील कथाकारों की बहुत बड़ी संख्या फिल्मी लेखन के लिए सच्चा व्यावसायिक साहित्य लिखने के रास्ते निकल गयी। सच पूछिए, तो आज राकेश, कमलेश्वर और यहाँ तक कि यादव भी यही करने लगे हैं, जो पन्द्रह सोलह साल पहले कृश्नचन्दर, ख्वाजा अहमद अब्बास वगैरा ने शुरू कर दिया। लक्ष्य वही है, रास्ता चाहे अभी दूसरा हो।

नयी कहानी की घोषणा, वस्तुतः कुछ लेखकों के लिए सुविधाजनक उपाधि बन गयी। अवसरवादी कहाँ नहीं होते ? और वह अवसरवादी क्या जो किसी भी नयी स्थिति से लाभ उठा ले ? अवाड़ी में कांग्रेस ने 'समाजवादी समाज' क़ायम करने की घोषणा की, रातों-रात हर कांग्रेसी—यहाँ तक कि पूँजीपति भी—तुरन्त समाजवादी हो गये। फिर साहित्य में 'नयी कहानी' की आवाज उठते ही कुछ पुराने भावबोध वाले लेखक सहसा 'नये कहानीकार' हो जायें तो क्या आश्चर्य ! नतीजा सामने है—इधर कांग्रेस खूब समाजवाद क़ायम कर रही है, और इधर ये कहानीकार भी ठाठ से नयी कहानियाँ निकाल रहे हैं।

जैसा कि मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में कुछ समय पहले लिखा था, असल में नये और पुराने के प्रति पूरा अवसरवाद अपनाया गया है। इस सुविधाजनक लक्ष्यहीन अवसरवाद के कारण ही साहित्य में भी नये को रूपाकार देने की तलाश नहीं है 'नया नया', 'नया मूल्य', 'नवीन मानव' में केवल नवीन ही ग्रहण है असल में इस नये को अपनी इच्छा पर छोड़ दिया गया है। इसलिए मेरे ख्याल से आपकी सबसे बड़ी आवश्यकता है कि पुराने के प्रति और नये के प्रति अवसरदृष्टि खत्म की जाये।

खुशी की बात है कि इधर कुछ रचनाकार इस दिशा में समीक्षा आत्म-समीक्षा के लिए आगे आये हैं। इस दृष्टि से 'माया' में 'कहानी पर बातचीत' शीर्षक से मार्कण्डेय की लेखमाला उल्लेखनीय है। यहाँ जिस निर्ममता और जिस आत्मीयता के साथ मार्कण्डेय ने अपनी पीढ़ी के एक-एक कहानीकार का विश्लेषण किया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि इधर चार-पाँच वर्षों में यानी १९५९-६० में ही उस कहानी-दशक का समारम्भ करने वाली नयी पीढ़ी सृजन के नये संदर्भों से जुड़ने में असमर्थ प्रमाणित हुई है। कारण-विश्लेषण से यह भी पता चलता है, कि छोट

कहीं-न-कहीं शुरू से इनके बुनियादी रचना-धर्म में ही थी। पुरानी प्रतिष्ठा और नये व्यवसाय से समझौता आकस्मिक नहीं है। जिस 'अनुभववाद' के सहारे इस पीढ़ी ने पुरानी प्रतिष्ठाओं के विरुद्ध विद्रोह किया, वह ज्यादा आगे ले जाने की क्षमता ही नहीं रखता। एक वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि के बिना कोरा 'अनुभववाद' जल्द ही कुंठित होकर वस्तुस्थिति से समझौता करने के लिए लाचार हो जाता है।

समझौते की भाषा, निःसन्देह, 'क्रान्तिकारी' रहती है, किन्तु निहित विषय-वस्तु होती है अन्ततः वस्तुस्थिति का समर्थन। अजब नहीं है, जो इन 'नये कहानीकारों' ने सहसा 'आस्था', 'कमिटमेंट' आदि की बात शुरू कर दी है। राजेन्द्र यादव ने मोहन राकेश पर लिखते हुए अनजाने ही अपने साथ बहुत-से साथियों के लिए स्वीकार कर लिया है कि यह 'कमिटमेंट' और कुछ नहीं सिर्फ नया 'जस्टीफिकेशन' है। इसीलिए ये लेखक जब बार-बार 'सामाजिकता', 'जीवन', 'सन्दर्भ', और 'युगबोध' जैसे गोल-मोल, बड़े-बड़े शब्दों का प्रयोग करते हुए अपनी 'सामाजिकता' की घोषणा करते हैं, तो यह समझने में भ्रम नहीं होना चाहिए कि वे घुमा-फिराकर एक वस्तुस्थिति का ही समर्थन कर रहे हैं। जब वे जीवन से ज्यादा-से-ज्यादा ग्रहण करने की बात करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे 'जीवन' कोई बैंक है, जिसमें अनुभवों की रकम जमा है, और लेखक का सबसे बड़ा लक्ष्य यह होना चाहिए कि जीवन-बैंक का बैंकर बनकर अनुभवों की राशि को निकालता और जमा करता जाय।

मीडियाकर या मझकचरे लेखक अक्सर इसी तरह अपने युग के 'चालू मुहावरे' बोला करते हैं, और आधुनिकता का आभास देने के लिए युग के फ़ैशन को सबसे पहले स्वीकार कर लेते हैं। इन्हें प्रश्न करने की जरूरत महसूस ही नहीं होती; यहाँ तक कि एक बार भी इनके मन में युग की बुनियादी 'प्रतिज्ञाओं' को चुनौती देने का विचार तक नहीं उठता। इसीलिए जब ये अपने युग की जरा-सी भी आलोचना करते हैं, तो उस आलोचना में धार नहीं होती; और जब किसी नये परिवर्तन को समर्थन देते हैं, तो उसमें हार्दिकता नहीं मिलती। उनका उत्साह तो उनका होता ही नहीं, उनका मोह-भंग भी उनका नहीं होता। वहाँ सब-कुछ अवसर का तकाज़ा-भर होता है। इसीलिए इनके मुँह से निकले हुए 'सन्दर्भ' 'सचेतना', 'सामाजिकता' आदि शब्द ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे वे नींद में बोल रहे हों।

आधुनिक युग की कौन-सी ऐसी घटना है, जिसकी इन्हें सूचना नहीं; कौन-सी नयी चीज है, जिसका इन्हें नाम नहीं मालूम? फिर जरा-सा व्यंग-रंग का छींटा देते हुए इन तमाम आधुनिक तथ्यों के आधार पर एक क्या, सैंकड़ों नयी लगने वाली कहानियाँ नहीं तैयार की जा सकती? राजधानी में क्या चीज सुलभ नहीं है? खुल जाय वहाँ नयी कहानियों का एक कारखाना, और फिर देखिये, हर महीने

हाज़िर हैं—नयी कहानियाँ : मेड इन दिल्ली, नयी दिल्ली ! उदाहरण के लिए, कमलेश्वर इस नुस्खे की बदौलत अपनी पीढ़ी से भी एक कदम आगे निकलकर, सहसा इस साठ वाली पीढ़ी के नये कहानीकार हो गए हैं !

दरअसल अपने युग द्वारा कोई लेखक हज़म न कर लिया जाय, इसके लिए बेहद सतर्कता की आवश्यकता पड़ती है। आज स्थिति कुछ ऐसी है, कि स्वीकार करने से ज्यादा इन्कार करने का कलेजा चाहिए। बड़ी समस्या ज़माने के भ्रम-जाल से मुक्त होने की है, पाशविक पुतलियों के आकर्षण को रोक पाने की है। यह भी एक विरोधाभास ही है, कि अपने युग को ज्यादा-से-ज्यादा नकार के ही कोई लेखक सच्चे अर्थों में अपने युग का होता है। निस्सन्देह लेखक की महानता इस संघर्ष के 'गुण' पर निर्भर है, और एक रचनाकार अपने युग में गहरे उतरकर सृजनात्मक स्तर पर अपने ज़माने से संघर्ष करता है। यहाँ तक कि कभी-कभी अपने युग की सीमाओं से एकदम भाग जाने की कोशिश करने वाले रचनाकार अन्ततः कहीं ज्यादा अपने युग के लेखक प्रमाणित हुए हैं। अंग्रेजी में डी० एच० लारेंस या फिर जर्मन में फ्रान्ज़ काफ्का इसी प्रकार के युगान्तरवादी रचनाकार हो चुके हैं। कौन जाने इसी तरह हिन्दी में भी जिस निर्मल वर्मा को इधर पला-यनवादी कहा जा रहा है, वे अन्ततः इन तथाकथित 'सामाजिक' कहानीकारों से ज्यादा सामाजिक और बुनियादी रूप में अपने युग के सच्चे प्रवक्ता प्रमाणित हों। सृजनात्मक कसौटी ही है, जिस पर अपने युग की आलोचना करनेवाला गलती कथाकार एक सच्चे रचनाकार से अलग किया जा सकता है; जैसे अंग्रेजी में ऑल्डस हक्सले को जेम्स ज्वाइस से अलग किया जाता है, और माना जाता है कि रचनाकार के रूप में जेम्स ज्वाइस के सामने ऑल्डस हक्सले बेहद घटिया कथाकार है; यद्यपि ज्वाइस के साथ-साथ हक्सले ने भी अपने युग की कड़ी आलोचना की, बल्कि ऊपर से देखने पर और ज्यादा तेज़।

वस्तुत मौलिक प्रश्न सृजनात्मक दृष्टि का है, जिसे अंग्रेजी में कभी-कभी 'त्रिगुटिय विज़न' कहा जाता है, जो अपने युग के मर्म को बेधने के साथ अपने युग की मनोगत और वस्तुगत सीमाओं का अतिक्रमण कर सकने में समर्थ होती है। इसका एक पक्ष 'ऐतिहासिक परिदृश्य' अथवा 'पर्सपेक्टिव' की पहचान भी है। आज हिन्दी-कहानी की दुनिया में 'सामाजिकता' का सबसे ऊँचा शोर मचाने वाले इसी 'पर्सपेक्टिव' की पहचान के अभाव से ग्रस्त हैं। इसीलिए वे कभी गुप्त-निमूदम अनुभव-वस्तुओं का लम्बा जाल बुनकर रह जाते हैं, और कभी आधुनिक सभ्यता के स्थूल उपकरणों का ब्योरेवार सूचीवत प्रदर्शन करके अपने दायित्व की इतिश्री समझ लेते हैं। कमलेश्वर की नयी दिल्ली-मार्का वाली नयी कहानियाँ, राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा' जैसी कहानियाँ और राकेश की 'ग्लास टैंक' 'भैरवनाथ का आकाश', 'गन्दी दिन' आदि कहानियाँ इसी प्रकार के 'सेक्युलरिज्म

अथवा 'तथ्यवाद' की कोटि मे आती है। निस्सन्देह इस तथ्यवाद के ऊबाऊ असर को कम करने के लिए जगह-जगह रोमान का हल्का पुट भी दे दिया जाता है। किन्तु इन्हे रोमांटिक समझने का भ्रम नही होना चाहिए। जैसा कि किसी लेखक ने कहा है, इस प्रकार की रूमानियत वस्तुत तथ्यवाद की 'अपराधी अन्तरात्मा' अर्थात् 'गिल्टी कान्शन्स' है। ऊपर से ये लेखक कहानी मे कविता का चाहे जितना विरोध करें, अपनी कहानियों में ये स्वय एकदम रोमाटिक कविता के नुस्खो का बेहद थाड़ा उपयोग करते हैं। यह 'तथ्यवाद' यदि एक ओर वर्तमान 'समाज-व्यवस्था' को चुनौती देने का नाटक करते हुए भी असल मुद्दे पर कन्नी काट जाता है, तो दूसरी ओर व्यावसायिक रुचि को मजे से तुष्ट करता है। वहाँ भी भले, और यहाँ भी भले! दोनो लोक दुरुस्त! दोनो हाथ मोदक! सुरक्षित, सतुष्ट और निर्भय!

इसके विपरीत परिदृश्य-बोध किसी रचना को किस प्रकार की अर्थ-गरिमा प्रदान करता है, इसका उदाहरण है निर्मल वर्मा की कहानी 'लदन की एक रात'। कहानी पढ़कर महसूस होता है कि आज का विश्व क्या है, कहाँ जा रहा है, और इस विश्व मे हम कहाँ है, हमारी स्थिति क्या है।

यह आकस्मिक नहीं है, कि हिन्दी-कहानी मे १६५६-६० के आसपास कहानीकारो की जो नयी पीढ़ी उभरकर सामने आयी है, वह अपनी शुरुआत का नाता निर्मल वर्मा की 'एक शुरुआत' से जोड़ना पसंद करती है। राकेश, यादव, कमलेश्वर द्वारा विज्ञापित 'नयी कहानी' के विरुद्ध इस पीढ़ी के मन में कितना अधिक विद्रोह है, यह इसी से स्पष्ट है, कि इन्होंने 'कहानी' मात्र को अस्वीकार करके हिन्दी में 'अ-कहानी' की आवाज उठा दी। यदि एक ओर निर्मल वर्मा कहते हैं, कि 'कहानी की मृत्यु से चर्चा आरंभ करनी चाहिए', तो दूसरी ओर रवीन्द्र कालिया का भी यही कहना है, कि 'मुझे कहानी के उस स्वीकृत रूप से घोर वितृष्णा है, जिस अर्थ में वह आज कहानी के नाम से जानी जाती है।' 'इस विरोध' को एकरसता की क्षोभ-भरी प्रतिक्रिया के रूप में लिया जा सकता है। इस क्षोभ से स्पष्ट है कि इधर 'नयी कहानी' के व्रती लेखकों मे कितनी एकरसता आ गई है। दूसरी ओर इन नवयुवक लेखकों की कहानियो से साफ झलकता है, कि वे आज की सामाजिक सतह मे नीचे जाकर 'मानव-नियति' और 'मानव-स्थिति' सम्बन्धी बुनियादी प्रश्न उठा रहे हैं। लगता है, युग नये सिरे से अपने-आप से भयावह प्रश्नों का साक्षात्कार कर रहा है। वैसे किताबी नुस्खे और चालू फैशन यहाँ भी हैं, किन्तु 'प्रश्नात्मक दृष्टि' खरी और तेज है। आज के मानवीय सम्बन्धों की अमानवीयता को बेधकर पहचानने की अद्भुत क्षमता इस दृष्टि में है। इसीलिए जिस निर्ममता के साथ सीधी भाषा मे ये आज की मानव-स्थिति को कम-से-कम रेखाओं मे उभारकर रख देते हैं, वह पूर्ववर्ती कथाकारों के लिए स्पर्धा की वस्तु

हो सकती है। कहानी के आकार और रचना-विधान की दृष्टि से ये कहानियाँ एक अरसे से उपयोग में आने वाले कथागत साज-संभार को एकबारगी उतार कर काफी हल्की हो गई हैं—हल्की, मसृण और ठोस! यहाँ तक कि कभी-कभी कथा-चरित्रों के नाम-धाम-परिचय का भी उल्लेख करना अनावश्यक प्रतीत होता है। केवल इसीलिए कुछ लोग इन कहानियों को 'अमूर्त' और असामाजिक तक मान बैठे हैं। ऐसी आपत्तियों के समाधान के लिए फ्रांसीसी कथाकार रॉब-ग्रिए का यह कथन अप्रासंगिक न होगा : "कथाकृति में किसी आदमी का नाम ढूँढ़ने की कोशिश में पसीना क्यों बहाया जाय, जब कि वह खुद अपना नाम नहीं बताता? हर रोज हम ऐसे लोगों से मिलते हैं, जिनके नामों से हम वाकिफ नहीं, और हम अपनी मेजबान द्वारा कराये गए परिचय पर बिना ध्यान दिये एक अपरिचित के साथ बातें करते हुए एक पूरी शाम बिता देते हैं।" ऐसी स्थिति में भी कहानी में नाम का अभाव क्या इतना आपत्तिजनक रह जाता है? और फिर सारी शिकायत क्या अब केवल नाम पर आकर अटक गई है? देखने की चीज वह नयी संवेदना है, जो एक वस्तुस्थिति का—चाहे वह कितनी ही अप्रिय क्यों न हो—साहस के साथ साक्षात्कार कर रही है।

ऐसी स्थिति में जब कि यह युवा पीढ़ी स्वयं नामों को इतना महत्वहीन समझती हो, एक-एक लेखक का नाम गिनाना विडम्बना ही होगी। वैसे व्यक्ति को विशिष्टता प्रदान करने वाली रेखाएँ अभी पूरी तरह उभर भी नहीं पायी हैं—किसी की एक, तो किसी की दो या तीन, बस इतनी ही रचनाएँ बन पड़ी हैं, यानी ऐसी कि जिन्हें 'रचना' कहा जा सके। उदाहरण के लिए, प्रबोधकुमार की 'गांठ', दूधनाथसिंह की 'रक्तपात' रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी', प्रयाग शुक्ल की 'भाषा', विजय चौहान की 'रिक्ति', और काशीनाथसिंह की 'सुख'। संवेदना और शिल्प की दृष्टि से श्रीकान्त वर्मा के कहानी-संग्रह 'झाड़ी' की कहानियाँ भी इसी कोटि में आती हैं और यह उल्लेखनीय है कि वय में पूर्ववर्ती पीढ़ी से संबद्ध होते हुए श्रीकान्त वर्मा ने इसी पीढ़ी के साथ यानी '५६–६० से ही कहानी-लेखन प्रारंभ किया। निश्चय ही उल्लेख-मात्र से इन कहानियों की विशेषताएँ स्पष्ट नहीं होतीं, किन्तु सरहद की ये चौकियाँ हिन्दी-कहानी के मान-चित्र का कुछ तो आभास दे ही देती हैं। हिन्दी-कहानी में वस्तुतः यह एक नयी परंपरा है, और न्याय के लिए इस पर स्वतंत्र विचार अपेक्षित है। प्रसंगतः सिर्फ इतना कि यह भी एक शुरुआत है—संभावनापूर्ण शुरुआत!

[माया : १९६४]

नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति